श्रमण-संस्कृति

॥ प्रेमसागर-अभिनन्दनम् ॥

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ

अजय कुमार पाण्डेय

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा सर्वथा प्रवृत्ति मार्गी रही, क्रमशः कर्मकाण्डों की जटिलता ने जन-मन को नवतम मार्ग की अन्वेषणा हेतु विवश किया। इसी नव वैचारिक प्रवृत्ति की प्रत्याशा ने प्राचीन भारतीय जन-गण को जैनधर्म एवं बौद्ध धर्म की ओर प्रतिश्रुत किया। इस नये धर्म में श्रम पूर्वक जीवन-यापन एवं तपस्या के जिस साधना का प्रवर्तन हुआ, उसे पाणिनि ने श्रमण शब्द से अभिहित किया। जैन एवं बौद्ध साहित्यों से श्रमण परम्परा की विस्तृत सूचना प्राप्त होती है। कालान्तर में लोक व्यवहार में इन धर्मों (जैन एवं बौद्ध) ने श्रमण शब्द को सम्बोधन का माध्यम बनाया। श्रमण संस्कृति अपनी पहचान वैदिक संस्कृति से अलग रखती हैं। इसकी लोक प्रचलित भाषा 'प्राकृत' बनी।

इसी को दृष्टि में रखकर 'भारतीय संस्कृति पर जैन एवं बौद्ध परम्परा का प्रभाव' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़े गये शोध पत्रों पर विचार-विमर्श उपरान्त प्राप्त निष्कर्षों का संकलन यह कार्यवृत्त 'Proceeding' है। पुस्तक दो भागों में (हिन्दी भाषा के शोधपत्रों एवं आंग्ल भाषा के शोध पत्रों) व्यवस्थित है। ग्रन्थ में कुल 78 शोध लेख अपने विषयगत पक्षों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

यह पुस्तक विद्यार्थियों, शोधार्थियों, सामान्य जिज्ञासुओं एवं विभिन्न अनुशासनों के आचार्यगण के लिए उपयोगी होगी। साथ ही ग्रन्थालयों के सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में पुस्तक अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं संग्रहणीय रहेगी।

23 cm. xxviii+ 468; चित्र 2010 रु० 1000

श्रमण-संस्कृति

卐 प्रेमसागर-अभिनन्दनम् 卐

।। आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ ।।

सम्पादक

अजय कुमार पाण्डेय

सह-सम्पादक

दिग्विजय नाथ पाण्डेय

प्रताप विजय कुमार

अनुभव श्रीवास्तव

विजय कुमार (बांसी)

PRATIBHA

प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली भारत

प्रथम संस्करण : 2010

© सम्पादक

ISBN : 978-81-7702-229-2

मूल्य : 1000.00

प्रकाशक :
डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम०ए०, पी-एच०डी०
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
7259/23, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर
शक्तिनगर, दिल्ली-110007
Ph. : 47084852 , 09350884227
e-mail : info@pratibhabooks.com
Web : www.pratibhabooks.com

लेज़र टाइप सैटिंग :
एस० के० ग्राफिक्स, दिल्ली-84

मुद्रक : एस० के० ऑफसेट दिल्ली

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी

आदर्श दम्पत्ति

प्रो. प्रेमसागर चतुर्वेदी एवं श्रीमती चतुर्वेदी

वैदिक प्रविधि वेत्ता

मन वाणी

एवं

कर्म के प्रति संकल्पित

गुरुवर प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी जी

के

करकमलों में सादर समर्पित

अजय कुमार पाण्डेय

पुरोवाक्

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा प्रवृत्ति मार्गी थी। प्रवृत्ति के कारण यज्ञीय विधानों में विविध प्रकार की कर्मकाण्डों की क्रमशः वृद्धि के कारण जन-जीवन अत्यधिक व्यस्त और विलासी हो गया था और जीवन के लिए एक नये मार्ग की अन्वेषणा में था। इस नये मार्ग में उपनिषदों का ज्ञान मार्ग प्रस्फुटित हुआ परन्तु इस ज्ञान के अतिशयता के कारण लोक कर्म बाधित हुआ। इसलिए एक नये विचार की प्रत्यासा में ही जैन एवं बौद्ध धर्म का अभ्युदय हुआ। इस नये धर्म ने भी श्रम और तपस्या की जिस साधना पर बल दिया उसी को पाणिनि ने श्रमण शब्द से अभिहित किया जो पूर्ववर्ती बौद्धायन श्रौत सूत्र में 'श्रमण' कहा गया। जिसका अर्थ अथर्ववेद में सद्गुण और पाणिनि ने तपस्वी अर्थ में ग्रहण किया है। जैन एवं बौद्ध की निवृत्ति मार्गी परम्परा में इन्हीं मुनियों और तपस्वियों को श्रमण कहा गया।

बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक, मज्झिमनिकाय के महावग्ग और थेरीगाथा में महावीर स्वामी के लिए प्रयुक्त आदरसूचक सम्बोधन वीर शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिये भी किया गया है। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध को भी जिन अर्थात् पाप कर्मों को जीतने वाला कहा गया है और मज्झिम निकाय में उल्लेख है कि बौद्ध भिक्षु अपना परिचय 'श्रमण' कहकर दिया करते थे। इसीलिए विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुओं के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग किया गया जो जैन धर्म से ग्रहीत है।

श्रमण प्रधान जैन धर्म से बौद्ध धर्म ने श्रमण की परम्परा को स्वीकार किया। इसका परिणाम हुआ कि बार्थ जैसे यूरोपीय विद्वानों ने जैन और बौद्ध धर्म को एक ही मानकर श्रमण शब्द की व्याख्या करने लगे और भारतीय संस्कृति में दोनों धर्म (जैन और बौद्ध) के भिक्षुओं के लिए श्रमण शब्द का व्यवहार किया जाने लगा। वस्तुतः श्रमण शब्द का प्रयोग मुनियों और तपस्वियों

के लिए प्रचलित था जो अपनी तपस्या साधना के लिए समाज में विख्यात थे। इसीलिए दोनों धर्मों के लिए एक सम्बोधन 'श्रमण' का प्रचलन लोक व्यवहार में हुआ। श्रमण संस्कृति भारत की वैदिक संस्कृति से पृथक अपनी पहचान रखती है।

श्रमण संस्कृति की उज्ज्वल परम्परा ने शील, संयम, तप, और शौच को चरित्र में परिवर्तित कर मानव-जीवन को युगों-युगों से विभूतिमय किया है। आचार और विचार के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन उपास्थित किए है। मानव समझने का विवेक जन मानस में अंकुरित किया और अखिल मंगलमय अहिंसामूलक विश्व मैत्री का संदेश किया है। समय-समय पर आने वाले दुरन्त उपसर्गों को पार कर आज भी वह अपने अर्ध धरातल पर अवस्थित है और काल प्रभाव से प्रभावित न होते हुए काल दोषों को निरस्त करने में ही संलग्न है। आज जबकि विश्व में काले, गोरे तथा परस्पर भिन्न जाति के मानवों में एक दूसरे को समाप्त करने की स्पर्धा लगी हुयी है, जिज्ञासु वृत्ति से सीमातिक्रमण किये जा रहे मानव को परित्राण देने का पाथेय केवल उदर श्रमण संस्कृति में है। क्षमा और अहिंसा के मणि-पीढ से भगवती जिनवाणी पुकार-पुकार कर कहती है- **'खम्मामि सव्वजीवान् सव्वे जीवा खमन्तु मे'** मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ और सारे जीव मुझे क्षमा करें। सम्पूर्ण भूगोल और खगोल पर एकाधिपत्य चाहने वाले को 'परिग्रह-परिमाण के सूक्त' श्रमण संस्कृति ने ही दिए हैं। जहाँ शरीर भी परिग्रह है वहाँ संग्रह वृत्ति के लिए स्थान कहाँ? ऐसा उदार, करुणावतार तीर्थ कर वाणी का प्रसारकर्ता निर्मल मन, काय, वचन, दिखलाता, जन को मोक्षद्वार। सम्यकत्व - शिला पर लिखे यहाँ दर्शन ज्ञान-चरित्र-लेख, सम्पूर्ण विश्व को अभयदान देते जिन वाणी के प्रदेश। इसकी कल्पवृक्ष छाया में स्थित होकर मानव धर्म ने अपना सर्वस्व प्राप्त किया है।

इस संस्कृति ने मानव को भक्ति मार्ग दिया, मुक्ति-पथ के रत्न सोपानों की रचना की और विश्व बन्धुत्व के भाव दिये। इसके आश्रय में पल कर मनुष्य ने अहिंसक समाज की रचना की और अपने को व्यसनों से मुक्त किया। व्रत-रहित-गन्तव्य मान से अजान मानव को व्रत-निष्ट किया तथा

इन्द्रियों की दासता से मुक्त किया। इसी के नेतृत्व में मनुष्य आदर्शों के ऊंचे मार्गों का आरोही बना और इसी के आचार मार्ग से चलकर उसने कैवल्य प्राप्त किया।

ऐसी निर्दोष संस्कृति में आज जान बूझकर विकारों का प्रवेश कराया जा रहा है। जहाँ श्रमण–श्रमणी और श्रावक–श्राविका (चतुःसंघ) मिलकर धर्म के इस महारथ को खींचते थे, वहाँ आज ये पृथक्–पृथक् होकर 'महारथ' को गति देने में असमर्थ हो गये हैं। अंगी–अंगी के समान धर्म और धार्मिक का नित्य सम्बन्ध है। **न धर्मो धार्मिकैर्विना** यह अव्यभिचारी सूत्र है।

भारत की श्रमण संस्कृति की अपनी मौलिक पहचान और अवदान लोक भाषा (प्राकृत) का रहा है जिसमें महावीर और बुद्ध ने अपना उपदेश दिया था। प्राकृत भाषा का विशाल वाङ्मय आज विश्व के सम्मुख विद्यमान हैं जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, व्याकरण, छन्द, न्याय आदि विषयों की सामग्री विद्वानों के सम्मुख अनवेष्य है। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, मृद्भाण्ड कला के श्रमण अवदान से तत्कालीन भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का अध्ययन एवं अनुसन्धान एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में विश्व के विद्वानों द्वारा अनुसन्धान किया जा रहा है। संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध पत्रों के माध्यम से पूर्वांचल की प्रसिद्ध श्रमण संस्कृति का यह एक लघु शोधात्मक प्रयास है, जिसमें आगत विद्वानों का समादर करते हुए उनका प्रकाशन किया गया है। प्रकाशन के लिए संकल्पित भाव से श्रमण संस्कृति शीर्षक से प्रकाशित कार्यवृत्त 'च्तवबममकपदह' सम्मान्य आचार्य प्रेम सागर चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से जिज्ञासु अनुसंधित्सुओं तक पहुंच रहा है। प्राप्त शोध लेखों में हिन्दी भाषा के 72 लेख प्रारम्भ में एवं आंग्ल भाषा के 6 शोध लेखों को अन्त में व्यवस्थित किया गया है।

विनत्

अजय कुमार पाण्डेय

स्वाभिव्यक्ति

श्रमण संस्कृति शीर्षक की प्रस्तुत पुस्तक भारतीय संस्कृति पर जैन एवं बौद्ध परम्परा का प्रभाव (The impact of the Tradition of Janism and Buddhism on Indian Culture) विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी (छं. जपवदंस बवदमितमदबम) 2009 में उपस्थित विद्वत वरेण्यों ने अपना जो विद्वतापूर्ण शोध पत्र प्रस्तुत किया उन्हीं शोध पत्रों पर सत्राध्यक्षों के माध्यम से विचार विमर्श उपरान्त प्राप्त निष्कर्षों का प्रकाशित संकलित स्वरूप है।

राष्ट्रीय संगोष्ठी (National conference) की सुव्यवस्थित सम्पन्नता साथ ही तत्सम्बन्धी शोधपत्रों का प्रकाशन विद्वत वरेण्यों एवं सुधीजनों के सहयोग का ही परिणाम होता है। मैं स्वयं को उपकृत मानता हूँ कि मुझे आप सभी द्वारा पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। आप सभी के प्रति अभाराभिव्यक्ति मात्र औपचारिकता ही नहीं वरन् अपना दायित्व मानता हूँ।

आपके कर कमलों तक पहुंच रही यह वहुवर्णी कार्यवृत्त (Proceeding) परम श्रद्धेय गुरु वरेण्य आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी के प्रति शीर्षा नमित भाव से समर्पित अभिनन्दन ग्रन्थ (Felicitation volume) के रूप में संयोजित है।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के समापन समारोह में मैंने देश के विभिन्न विद्याकुलों से आये हुए विद्वतजनों को पूर्ण विश्वास सहित आश्वस्त किया था कि आप द्वारा प्रस्तुत महत्वपूर्ण शोध पत्रों को जिन्हें सत्राध्यक्षों द्वारा स्वीकृत कर लिया गया है, उन्हें अवश्य ही प्रकाशित करूंगा। यह संकल्प सम्माननीय आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ 'Prof. Premsagar Chaturvedi Felicitation volume,' के प्रकाशन द्वारा सम्भव हो सका है।

राष्ट्रीय संगोष्ठी (National conference) की सफलता शुभ चिंतक सहयोगियों की सहकारिता का ही परिणाम रहा। सभी व्यवस्थाओं के होते

हुए भी यदि विभिन्न अनुशासनों से सम्बद्ध श्रेष्ठ विद्वतजनों का सहानुभूति एवं अनुग्रह न प्राप्त होता तो कदापि राष्ट्रीय संगोष्ठी को समुचित प्रसिद्धि न मिलती। ऐसे विद्वतजनों, आगत अतिथियों, शोधार्थियों एवं विद्यार्थियों के प्रति हृदय से अनुग्रहीत हूँ। अपने जिज्ञासु एवं शोधात्मक अत्कृष्टता का परिचय देते हुए शोध लेख प्रदाताओं के प्रति धन्यवाद एवं बधाई समवेत ज्ञापित करते हुए मैं हर्षित हूँ। धन्यवाद इसलिए कि सभी के प्रस्तुत श्रेष्ठ शोध पत्र 'कार्यवृत्त' के माध्यम से मुझे सम्पादित करने का अवसर मिला। साथ ही बधाई इस हेतु कि आप सभी का शोध पत्र प्रकाशित हुआ है।

राष्ट्रीय संगोष्ठी एवं कार्यवृत्त के आयोजन में आर्थिक पक्ष महत्वपूर्ण होता है, परन्तु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली एवं भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा प्राप्त अनुदान से उत्साहित होकर हम सभी पूर्ण मनोयोग से कार्यक्रम सम्पादित किये। इसके लिए इन दोनों अनुदान प्रदायी संस्थानों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के प्रस्ताव प्रेषण से लेकर कार्यक्रम की पूर्णता तक सम्पूर्ण अवरोधों को क्षणेक में समाधान देने वाले तत्कालीन कार्यवाहक प्राचार्य आदरणीय डॉ० अर्जुन राम त्रिपाठी का मैं हृदय से आभारी हूँ। सम्माननीय सचिव प्रबन्ध समिति श्री विनोद कुमार रूंगटा जी का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने राष्ट्रीय संगोष्ठी के सफल सम्पादन में अपनी सहज स्वीकृति प्रदान कर कार्यक्रम हेतु कृपा पूर्ण अनुमति प्रदान किया। महाविद्यालय परिसर में कार्यक्रमों के लिए सदैव प्रोत्साहित करने वाले युवा सचिव, प्रबन्ध समिति का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

कार्य संस्कृति के मार्ग पर सर्वथा प्रतिश्रुत रहने की दीक्षा एवं आशीर्वाद देने वाले परम सम्माननीय डॉ० रवीन्द्र देव उपाध्याय पूर्व प्राचार्य एवं अपने शैक्षिक संरक्षक डॉ० कुंवर बहादुर सिंह कौशिक का मैं हृदय से वंदन एवं अभिनन्दन करता हूँ। इन दोनों शैक्षिक संरक्षकों का मौन आधार एवं आशीर्वाद सदैव मुझे प्राप्त हो यही अभिलाषा है।

महाविद्यालय के वरिष्ठ सहयोगी डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय जी, डॉ० रामनारायण त्रिपाठी जी, श्री ओमप्रकाश त्रिपाठी जी एवं डॉ० ओमप्रकाश

सिंह जी का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने राष्ट्रीय संगोष्ठी के आयोजन से लेकर कार्यवृत्त के प्रकाशन तक सर्वथा शुभकामना जन्य सहयोग प्रदान किया।

महाविद्यालय के शुभ-चिन्तकों डॉ० विजय कुमार अग्रवाल, डॉ० धर्मदेव सिंह, श्री ओमप्रकाश सिंह, डॉ० लाल चन्द यादव, डॉ० राजेश चन्द्र मिश्र, डॉ० पूर्णेश नारायण सिंह, डॉ० जयप्रकाश मणि आप सभी की उत्प्रेरणा मेरे सम्बल को बढ़ाने में सहायक रही। आपके समर्पित व्यवहार से जो मुझे सहयोग मिला, उसके लिए मैं आजीवन हृदय से कृतज्ञ रहूँगा।

मैं अपने अनन्य हृदय, डॉ० प्रताप विजय कुमार, डॉ० अनुभव श्रीवास्तव एवं डॉ० रामप्रताप राज का आभारी हूँ। आप सभी के अहर्निश सहयोग से ही राष्ट्रीय संगोष्ठी की पूर्णता एवं कार्यवृत्त के प्रकाशन का आधार बना। आप सभी को लक्ष्य कोटि कृतज्ञता एवं धन्यवाद ज्ञापित करते हुए स्वयं को उपकृत मानता हूँ।

मैं कार्यवृत्त के सहसम्पादक बन्धुओं का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनका मनसा-वाचा पदे-पदे सहयोग कार्यवृत्त प्रकाशन क्रम में शोध पत्रों के वाचन, अनुक्रम निर्धारण आदि सभी कार्यों का अपना व्यक्तिगत कार्य मानकर पूर्ण किया। विशेषकर डॉ० विजय कुमार, वरिष्ठ प्रवक्ता, शिक्षक-प्रशिक्षण, विभाग, रतनसेन डिग्री कालेज बांसी को साधुवाद उनका आयाचित सहयोग कार्यवृत्त की पूर्णता में सम्बल बना।

अन्ततः सुहृद, सुधी प्रकाशक डॉ० राधेश्याम शुक्ल, प्रभुत्वाधिकारी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे आग्रह को सहज स्वीकृति प्रदान कर कार्यवृत्त के प्रकाशन के दायित्व का पूर्णरूपेण निर्वहन किया।

कार्यवृत्त जो आचार्य प्रेम सागर चतुर्वेदी अभिनन्दन ग्रन्थ अति अल्प अवधि में संयोजित कर आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। त्रुटियाँ स्वाभाविक है, सुधी पाठक गण से व्यक्तिगत क्षमा प्रार्थी हूँ, कार्यवृत्त सहज स्वीकार करें।

फाल्गुन शुक्ल एकादशी — विनयावनत्

विक्रम संवत् 2066 — **अजय कुमार पाण्डेय**

(25 फरवरी 2010)

श्री गुरुवे नमः

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी की जीवन यात्रा

वैदिक संस्कृति का सम्वाहक गंगा, यमुना एवं अदृश्य सरस्वती (त्रिवेणी) के पावन जल से सिंचित प्रयाग (इलाहाबाद) से उत्तर दिशा में (ग्राम व पोस्ट-वैरंमपुर तहसील-मझनपुर जो वर्तमान में कौशाम्बी जनपद (यह इलाहाबाद जनपद से निकलकर नवसृजित जनपद है) में अवस्थित है, वहाँ के प्रतिष्ठित कुलीन ब्राह्मण परिवार में स्व० श्री धर्मनारायन चौबे के पौत्र रूप में 1 फरवरी 1950 को आपका जन्म हुआ। पिता स्व० श्री विद्या सागर चतुर्वेदी एवं माता स्व० श्रीमती फूलकुमारी के इकलौते पुत्र (तीन बहनों के एकलौते भाई) रूप में आपने बाल क्रीड़ा करते हुए अपना बाल्य जीवन व्यतीत किया। आपका परिवार, ब्रिटिश काल से ही शैक्षिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। पितामह प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक एवं पिता कौशाम्बी जनपद के मऊ तहसीलान्तर्गत स्थित इण्टर मीडिएट स्कूल में हिन्दी के प्रवक्ता रहे जो अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व, सादगी एवं शालीनता पूर्ण व्यवहार के अभ्यासी रहे।

बाल्यजीवन से ही आप कुशाग्र बुद्धि एवं विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। आपने 1965 एवं 1967 ई० में क्रमशः हाईस्कूल एवं इण्टरमीडिएट परीक्षा कौशाम्बी इण्टर कालेज से उत्तीर्ण किया एवं 1969 एवं 1971 में स्नातक तथा स्नातकोत्तर (प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व) परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। सभी परीक्षाओं को प्रथम श्रेणी में सम्मान सहित उत्तीर्ण कर आप अपने कुल को गौरवान्वित किये।

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी के शिक्षा के प्रति समर्पित व्यक्तित्व का परिणाम था कि देश के प्रतिष्ठित इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शैक्षिक गरिमा से सम्पन्न प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग से स्नातकोत्तर उपाधि

अर्जित करने के कुछ ही माह बाद सितम्बर 1971 में इलाहाबाद डिग्री कॉलेज इलाहाबाद में प्रवक्ता के रूप में कार्यभार ग्रहण किये, वहाँ एक कुशल शिक्षक के रूप में आपके अल्प कार्यावधि (मात्र छः माह) की सभी सराहना करते हैं।

प्रो० चतुर्वेदी जी गुरु गोरक्ष की तपोभूमि पूर्वांचल के श्रेष्ठ उच्च शिक्षा केन्द्र गोरखपुर विश्वविद्यालय में 21 अगस्त 1972 को प्रवक्ता के रूप में कार्य-भार ग्रहण किये। यह उर्जयन्त भू-क्षेत्र जो महावीर स्वामी, गौतमबुद्ध, संत प्रवर कबीर, को आकर्षित किये थी ठीक उसी प्रकार आचार्यवर यहीं उपाचार्य, आचार्य एवं वर्तमान में विभागाध्यक्ष रूप में पूर्वायतन की परम्परा के सम्वाहक रूप में मनसा-वाचा-कर्मणा सन्नद्ध हैं।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्मृति शेष आचार्य विश्वम्भर शरण पाठक के सफल निर्देशन में आपने 'टेक्नालॉजी इन वैदिक लिट्रेचर' विषय पर अपना सफल शोध कार्य पूर्ण किया जो शोध ग्रन्थ पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होकर आज शोधार्थियों, विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुजनों के स्रोत साधन रूप में सहायक ग्रन्थ है। आपने दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्थापित एकेडमिक स्टाफ कालेज के निदेशक रूप में जून 2000 से मई 2005 तक कार्य किया। आप ने एकेडमिक स्टॉफ कालेज में रचनात्मक गतिविधियों के माध्यम से अस्सी से अधिक पुनश्चर्या पाठ्यक्रम एवं अभिविन्यास कार्यक्रमों का सफल संचालन किया साथ ही एकडमिक स्टाफ कालेज के निदेशकों की बैठकों में अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व का परिचय देते हुए नवतम नीतियों को निर्धारित कराने का पूर्ण प्रयास किया।

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी ने दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, के प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग को अपने सरल व्यक्तित्व, कार्य के प्रति समर्पण एवं एक सफल शिक्षक के रूप में जो सफल सेवा प्रदान की है उसे श्रेष्ठ अवदान के रूप में पुराने शिष्य सर्वथा स्मरण करते हैं। आप वेद विद्या के सफल अध्येता, प्राचीन भारतीय तकनीकी अध्ययन के ज्ञाता, कला एवं स्थापत्य के नीति निपुण प्रस्तोता तथा प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास के सफल शिक्षक रूप में सर्वथा विद्यार्थियों द्वारा श्रद्धेय गुरु रूप में आदर प्राप्त किये। आचार्यवर चतुर्वेदी जी के सफल

निर्देशन में एक दर्जन से अधिक शोधार्थियों ने शोध उपाधि अर्जित किया है एवं आधे दर्जन से अधिक शोधरत हैं। श्रद्धेय गुरुवर के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में चालीस से अधिक श्रेष्ठ शोध लेख प्रकाशित हैं। आपने राष्ट्रीय संगोष्ठियों में सत्राध्यक्ष रूप में तकनीकी सत्रों का सफल संचालन करते हुए सर्वथा शोधार्थियों को प्रोत्साहित किया। आपने विभिन्न विश्वविद्यालयों में अपने महत्वपूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत करके शोधार्थियों की जिज्ञासा को सर्वथा शान्त किया।

गुरुवरेण्य आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी विभिन्न विश्वविद्यालयों के अन्यान्य समितियों के सदस्य रूप में एवं अनेक शैक्षिक सेवा प्रदायी संस्थाओं के चयन समिति के सदस्य रूप में अनेक प्रियविद्यार्थियों को अपना आशीर्वाद प्रदान किये। आचार्यवर चतुर्वेदी जी अपने सेवा अवधि में राष्ट्रीय सेवा योजना के चार वर्षों तक कार्यक्रम समन्वयक रहे। इस कार्यावधि में भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा निर्धारित अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्यक्रमों को राष्ट्रीय सेवा योजना का अंग बनाये जिससे विश्वविद्यालय परिसर एवं महाविद्यालयों को राष्ट्रीय योजना की नयी ऊँचाईयां प्राप्त हुयीं।

आचार्य चतुर्वेदी जी उस कौशाम्बी क्षेत्र में जन्मे जिसे गंगा घाटी के प्रसिद्ध पुरातात्विक स्थल रूप में प्रसिद्धि प्राप्त है। पुनः इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्ययन किये जो पुरातात्विक गतिविधियों के लिए सर्वथा चर्चित रहा है। पुरातात्विक मेधा आचार्यवर के अन्तर्मन को कुरेद रहा था तभी स्वभावानुरूप 1974 ई० में सोहगौरा एवं 1980 ई० में फाजिलनगर क्षेत्र में आपने सफल पुरातात्विक गतिविधियों में सहायक की भूमिका का निर्वाह किया।

प्रो० प्रेमसागर चतुर्वेदी जी प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के विभागाध्यक्ष रूप में अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का सफल संयोजन किये। आपने सर्वथा स्मृतिशेष आचार्य विशम्भर शरण पाठक, स्मृति शेष आचार्य गोवर्द्धन राय शर्मा, एवं आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेय को सर्वथा आदर्श माना एवं अपने सरल व्यक्तित्व तथा प्रतिभाशाली शैक्षिक क्रियाकलापों द्वारा सदैव अपने शिष्यों के आदर्श रूप में ख्याति अर्जित करते रहे। कक्षा में नियत समय

से प्रवेश के साथ ही धारा प्रवाह व्याख्यान से समस्त विषयगत पक्षों को अपने सम्मुख बैठे विद्यार्थियों को बता देना ही आचार्यवर के शैक्षिक क्रियाकलाप का महत्वपूर्ण पक्ष स्वीकारा जाता है।

आचार्य चतुर्वेदी जी अपने विद्यार्थियों की सर्वथा चिन्ता करते हैं। आपका आशीर्वाद प्राप्त कर अनेकों विद्यार्थियों ने दूरस्थ विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में नियुक्ति प्राप्त किया जो आपके सरल एवं सहज व्यक्तित्व का पक्ष है। आपकी धर्मपत्नी सम्माननीया श्रीमती गुणवती चतुर्वेदी जो यथा नाम तथा गुण गुरुमाता की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। शिष्यों को सर्वथा बेटा कहकर उनका प्राप्त आशीर्वाद एक अपनत्व एवं सहज सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करता है। प्रो० चतुर्वेदी जी बहुभाषा विद् प्राच्य विद्या के प्रसिद्ध विद्वान रूप में प्रतिष्ठित हैं।

माँ भारती के सफल साधक आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी प्राचीन भारतीय कला, स्थापत्य एवं प्राचीन भारतीय राजनैतिक इतिहास के नवतम पक्षों को उद्घाटित करने में सर्वथा अध्ययनरत रहते हैं, जिज्ञासुओं के जिज्ञासा को शान्त करना, अपने सादगीपूर्ण जीवनचर्या से हर विघ्न बाधाओं का क्षणेक में शमन करने वाले ऐसे सहज, सर्वथा वंदनीय, सम्माननीय गुरुवरेण्य के चरणों में वंदन अभिनन्दन सर्वथा निवेदित है। सम्माननीय गुरुवर के अभिनन्दनीय व्यक्तित्व एवं समग्र उपलब्धियों तथा बहुआयामी अवदानों के प्रति शीर्षानमित भाव से संकल्पित तन एवं मन से आपके सम्मानार्थ यह अभिनन्दन ग्रन्थ सादर कमलवत हाथों में समर्पित है।

विनत्

अजय कुमार पाण्डेय

सारस्वत साधनारत प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी जी

परम विद्यानुरागी प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी जी से मेरा पहला परिचय इलाहाबाद डिग्री कालेज (इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय) में प्रवक्ता पद पर सन् 1971 ई० में उनके चयनित होने के फलस्वरूप हुआ। संयोगवश, मैं उस समय प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग का अध्यक्ष था। माननीय स्व० श्री प्रभाकर ठाकुर (प्राचार्य) जी के कक्ष में एक निहायत सुकुमार, अल्पवय, शर्मीले किन्तु परम चैतन्य युवक को अपना सहयोगी प्राध्यापक पाकर मैंने अपने को धन्य समझा। प्राचार्य जी ने बात ही बात में चतुर्वेदी जी के बारे में बताया कि इन्होंने हाई स्कूल परीक्षा से लेकर एम० ए० तक की परीक्षा न केवल प्रथम श्रेणी में बल्कि उत्तमोत्तम अंकों की प्राप्ति के साथ उत्तीर्ण की है। साक्षात्कार में पूछे गए प्रश्नों को जिस सटीकता तथा अल्प शब्दों में श्री चतुर्वेदी जी ने उत्तर दिया, वह मैं एक मानक साक्षात्कार मान सकता हूँ, ऐसा विद्वान् प्राचार्य ने हमें बताया। ठाकुर साहब स्वयं प्राचीन इतिहास विभाग में अध्यक्ष पद संभाल चुके थे तथा वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में स्व० प्रो० अल्तेकर जी के परम प्रिय छात्र रह चुके थे। उन्हीं दिनों मैं एक साम गुरुदेव स्व० प्रो० जी० आर० शर्मा जी के यहाँ गया हुआ था। वहाँ देखा कि गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व विभागाध्यक्ष एवं पूर्व कुलपति स्व० प्रो० विश्वम्भर शरण पाठक जी भी विद्यमान थे। प्रो० शर्मा जी ने मुझसे पूछा कि प्रेम सागर कैसा अध्यापक है तथा तुम्हारा उसके बारे में अब तक क्या विचार बन पाया है। मैंने कहा कि चतुर्वेदी जी ठीक 10:00 बजे महाविद्यालय पहुंच जाते हैं तथा अपनी कक्षाओं को बड़ी लगन, तैयारी तथा पूरी तन्यमता के साथ लेते हैं। महाविद्यालय के छात्र उनके शिक्षण-कार्य की बड़ी प्रशंसा करते हैं। यह एक सुखद संयोग ही कहा जा सकता है कि प्रो०

पाठक जी ने शायद उसी समय अपने मन में यह निर्णय ले लिया रहा होगा कि मैं प्रेम सागर जी को गोरखपुर विश्वविद्यालय में नियुक्त करूँगा। फरवरी 1972 को प्रारम्भिक तिथियों में एक दिन मुझे ज्ञात हुआ कि श्री प्रेम सागर चतुर्वेदी जी की नियुक्ति गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रवक्ता पद पर हो गई है तथा उन्होंने 04 फरवरी को ही वहाँ कार्यभार भी संभाल लिया है। मैं बहुत पहले से ही यह समझने लगा था कि श्री चतुर्वेदी जी महाविद्यालय में अधिक समय तक शायद ही सकें उन्हें कहीं न कहीं इससे उच्च पद अवश्य मिल सकता है।

प्रो० चतुर्वेदी जी को शैक्षणिक प्रकर्ष विशेष रूप से शोध एवं लेखन के क्षेत्र में प्रो० पाठक जी के सानिध्य में आने के फलस्वरूप मिला। उन्होंने प्रो० पाठक जी के योग्य पर्यवेक्षणत्व में 'सम आस्पेक्टस् ऑफ टेक्नोलॉजी इन द वैदिक लिटरेचर' पर एक मानक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जो बाद में बुक्स एण्ड बुक्स, नई दिल्ली से 1993 ई० में प्रकाशित हुआ। उनके कई शोध - लेख अन्तर्राष्ट्रिय एवं राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। वे अपने गुरुश्री प्रो० पाठक जी की ही तरह सतत चिन्तन, लेखन एवं अध्ययन में लीन रहते हैं। उनके वैदुष्य मण्डित व्यक्तित्व का पूरा लाभ बहुतों को तब और प्राप्त हो सका, जब वे यू०जी०सी० एकेडेमिक स्टॉफ कॉलेज, गोरखपुर विश्वविद्यालय के निदेशक पद पर प्रतिष्ठित किए गए। सम्प्रति वे प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग के विभागाध्यक्ष हैं, यह गौरव की बात है।

प्रो० चतुर्वेदी जी का सौम्य, स्वभाव एवं मृदु हास, सहज, सरल एवं सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार मेरे स्मरण-पट पर सदा स्वस्थ एवं जीवन्त रहता है। मैं उनके स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की सदा मङ्गल कामना करता हूँ।

हरिनारायण दुबे

प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी : निष्ठावान शिक्षक एवं समर्पित शोधकर्ता

मुझे यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि हीरालाल रामनिवास स्नातकोत्तर महाविद्यालय, खलीलाबाद के प्राचार्य डॉ० अजय कुमार पाण्डेय और उनके महाविद्यालय परिवार द्वारा प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है एतदर्थ डॉ० पाण्डेय और महाविद्यालय परिवार को मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ क्योंकि प्रो० चतुर्वेदी का व्यक्तित्व सचमुच अभिनन्दनीय है।

सम्प्रति प्रो० चतुर्वेदी हमारे विभागाध्यक्ष हैं किन्तु उनका सानिध्य मुझे किशोरावस्था से ही प्राप्त रहा है। स्वभावतः मुझे उन्हें निकट से देखने-समझने का अवसर भी मिला है। जब मैं पीछे मुड़ कर देखता हूँ तो उनका वह तरुण रूप स्मरण होता है जब वे प्रयाग से यहाँ आये थे और गोरखपुर विश्वविद्यालय को अपना कर्म क्षेत्र बनाया था। वे तभी अत्यन्त सौम्य, मितभाषी और गम्भीर थे। जब मैं विद्यार्थी के रूप में विश्वविद्यालय में आया तो मुझे याद आती है उनकी वक्तृत्व क्षमता और अनुशासन प्रियता। उनके प्रवेश करते ही कक्षा में सन्नाटा पसर जाता था। वे पूरे विस्तार के साथ परिष्कृत भाषा और प्रवाहपूर्ण शैली में विषय का प्रतिपादन करते थे तथा पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कक्षा में कभी किसी इतर विषय की चर्चा नहीं करते थे। उनके व्याख्यानों में कविता का लालित्य होता था। टू दी प्वाइंट लिखना और टू दी प्वाइंट बोलना उनकी खास विशेषता है। उन्होंने दो चार वर्षों में ही एक अनुशासनप्रिय निष्ठावान तथा प्रबुद्ध अध्यापक के रूप में विश्वविद्यालय में अपनी पहचान बना ली थी। पश्चातवर्ती वर्षों में उनकी निरन्तर चलती सारस्वत साधना ने उन्हें एक ख्याति-लब्ध विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। प्रो० चतुर्वेदी, इतिहास एवं संस्कृति के मान्य विद्वान तो हैं ही साथ ही हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं पर उनका समान रूप से अधिकार है। वे उन विरल विद्वानों में हैं

जिनकी पैठ न्यूनाधिक रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व की सभी विधाओं में है। वैदिक संस्कृति एवं बौद्ध-धर्म दर्शन को उन्होंने अपने अध्ययन के मुख्य क्षेत्र के रूप में चुना। उनकी शोध कृति, टेक्नालोजी इन वैदिक लिट्रेचर भारतीय संस्कृति का एक नया आयाम प्रस्तुत करने के कारण विद्वज्जनों द्वारा अतिशय प्रशंसित हुयी। उन्होंने दर्जनों शोधात्मक निबन्धों के माध्यम से भारतीय इतिहास के अनेक अल्पज्ञात और अज्ञात पक्षों का प्रकाशन किया। ऐसे गुरु और अभिभावक के संरक्षक में कार्य करना मेरे लिए गौरव की बात है।

प्रो० चतुर्वेदी के व्यक्तित्व का सर्वाधिक उज्ज्वल पक्ष उनका सुसंस्कृत व्यक्तित्व है। विद्या, वाणी और विनय उनके व्यक्तित्व के आभूषण हैं। वे उन थोड़े से लोगों में हैं जिनके मन, वाणी और कर्म में एकरूपता देखने को मिलती है। मैं ने उन्हें कभी सदाचार से विचलित होते नहीं देखा। शिष्यों के प्रति वे सदैव सहज स्नेहिल और उदार रहे, इसीलिए सभी शिष्य भी उनके प्रति आदर युक्त आत्मीयता का भाव रखते हैं।

मेरी यह मंगल कामना है कि गुरुवर प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी शतायु हो तथा उनके यश का वितान निरन्तर विस्तृत होता रहे। दीपक जबतक जलता है प्रकाश ही बिखेरता है।

राजवन्त राव

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी : एक सहज व्यक्तित्व

महाकाल की नगरी उज्जैन से जब कभी अपने गृह जनपद गोरखपुर जाने का अवसर मिलता था तब सहसा 'पूर्वायतन' जाकर आचार्यों के मध्य व्याकुल मन को शान्त करने का अवसर यदि किसी गुरु भाई के साथ मिला तो वह सरल, सौम्य, व्यवहारसम्पन्न भाई प्रेमसागर चतुर्वेदी जी के साथ ही मिला। मेरे शैक्षिक गुरु एवं आचार्य प्रेमसागर जी के शोध निदेशक स्मृति शेष आचार्य विशम्भरशरण पाठक थे। आचार्य प्रेमसागर जी विश्वविद्यालय के अनेक प्रशासनिक पदों को सुशोभित करते हुए आज विभागाध्यक्ष के रूप में प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग को अपनी कार्यकुशलता से व्यवस्थित करने में सन्नद्ध हैं। आचार्य प्रेमसागर जी के कृत कार्य आज इतिहास जगत में सभी द्वारा सराहे जा रहे हैं। प्रयाग के समीप जन्मे प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण किये एवं आज गोरखपुर विश्वविद्यालय में कार्यरत आप अपनी शैक्षिक प्रतिभा, सहज एवं शालीन व्यवहार तथा दृढ़संकल्प शक्ति के माध्यम से विद्वत समाज में सराहे जा रहे हैं।

आपके सम्मान में अभिनन्दन ग्रन्थ का लोकार्पण हो रहा है। अभिनन्दन ग्रन्थ के माध्यम से मैं भाई आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी के उर्जावान जीवन एवं दीर्घायु की कामना करता हूँ।

रहमान अली

चतुः वेदिन

से दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर के 'पूर्वायतन' 'ज्योत्यायतन' के आचार्य एवं अध्यक्ष प्रो० प्रेमसागर चतुर्वेदी अपने नामिक बिन्दु से विनिर्मित व्यासों की परिधि से विमुक्त होकर ऐतिह्य विस्तार से समुदित संलग्न है। यद्यपि मेरा यह सौभाग्य नहीं रहा कि मैं उनका अनन्य अन्तेवासी बन सका। परन्तु उनके ऋतम्भरा प्रज्ञा से मैं प्रभावित रहा। क्योंकि वे वाक्कायमन से सर्वदा संभृत पुरातत्वातन्वेषणा में संलग्न रहते थे। यही उनके व्यक्तित्व का विभ्राट पक्ष है।

चतुः वेदितृत्व प्राप्त प्राज्ञ पुरुष माननीय प्रेम सागर चतुर्वेदी, आचार्य के आसन्दी पर आरूढ़ होने के पश्चात् ही उन्होंने विभाग के छात्र-छात्राओं, प्रवाचकों एवं व्याख्याताओं की ऊनताओं - दुरितों को प्रक्षय कर विभाग की क्षयिष्णु स्थित को वर्धिष्णु में रूपान्तरित कर दिया तभी से मेरा तन-मन उनके प्रति अत्यधिक नमनीय बन गया।

प्रो० चतुर्वेदी एक तपः पूत ब्रह्मकुल के विभूषण रूप में ब्राह्म मुहूर्त से ही सपरिवार 'तनूपा मंत्रों' का जाप करने के पश्चात् अपने अध्ययन-अध्यापन के दैनिक ब्रह्मोद्य कार्य में रत हो जाते हैं। उनके व्यक्तित्व की विराटता उनकी नियमितता एवं अपने कर्तव्यों के प्रति सतत् सर्जनात्मक सतर्कतता रही हैं। इसीलिए आज वे विभाग के मेरुदण्ड की सुषुम्णा रूप में अमृत उत्स से संस्कृति के निर्झर रूप में सर्वत्र समादृत हैं।

ऐतिह्य अध्ययन-अन्वेषणा के विभागीय निरुक्त पुरुष आचार्य प्रोफेसर चतुर्वेदी के प्रभ्राजमान परावरज्ञा के स्नेहासिक्त सुवाचा के संकेतों से ही उनके समित्पाणि छात्र-छात्रायें प्रमुदित एवं पुलकित हैं। क्योंकि विषय सम्प्रश्न के समाधान के नित्य उत्साह-स्फुरण से विभाग एवं विषय अनुदिन रूपम् रूपम् प्रतिरूपम् विस्तृणता को प्राप्त होता जा रहा है। इस समुदित संकेत से हम सभी

सांस्कृति सम्बन्धों को वस्तु और विचार से समझने में सक्षम हो रहे हैं। यह एक उष:कालीन सूर्य की लालिमा से उज्ज्वलतर दिनभान की सम्भावना से आश्वस्त हैं।

विश्वविद्यालय से सम्बद्ध महाविद्यालयों से सामंजस्यमान पथ--प्रदीप रूप में हीरालाल रामनिवास स्नातकोच्चतर महाविद्यालय संतकबीर नगर के अभिनन्दनीय उर्ध्वबुध्न एवं अर्वाग्विल शिर: चमस के ऋभु देव सम अग्र अतिथि रूप में अभिनन्दित एवं वन्दित हैं। प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति के महार्णव के अमृत बूंद के आकांक्षी छात्र-छात्राओं को स्नेह सागर से अत्यधिक अपेक्षा एवं आशा है कि उन्हें उनके प्रेम का पावन प्रसाद प्राप्त होगा।

कुंवर बहादुर कौशिक

विषय-सूची

पुरोवाक् *v*

स्वाभिव्यक्ति *ix*

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी जी की जीवन यात्रा *xii*

सारस्वत साधनारत प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी जी
–हरिनारायण दुबे *xvi*

प्रो० प्रेम सागर चतुर्वेदी : निष्ठावान शिक्षक एवं
समर्पित शोधकर्ता *–राजवन्त राव* *xviii*

आचार्य प्रेमसागर चतुर्वेदी : एक सहज व्यक्तित्व रहमान अली *xx*

चतुः वेदिन *–कुंवर बहादुर कौशिक* *xxi*

प्रथम खण्ड

हिन्दी

1. जैन धर्म के अहिंसा - सिद्धान्त का ब्राह्मण परम्परा पर प्रभाव 1
–विपुला दुबे
2. बौद्ध वाङ्मय में महिला विमर्श–*विमलेश कुमार पाण्डेय* 8
3. श्रीलंका की कला में बौद्ध धर्म का वैश्विक अवदान
–राजकुमार गुप्त 18
4. उड़ीसा में जैन धर्म का प्रचार–*विश्वनाथ वर्मा* 30
5. बौद्ध धर्म एवं दलित चेतना–*रमेन्द्र कुमार मिश्र* 35
6. जैनाचार्यों की प्रेरणा से जीवों के कल्याण हेतु 43
अकबर द्वारा जारी फरमान–*सतीशचन्द यादव*

7. बौद्ध एवं जैन धर्म का भारतीय संस्कृति में योगदान 49
–सुधा त्रिपाठी

8. बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव–*आनन्द शंकर चौधरी* 54

9. मगध–वैशाली युद्ध का कारण जैन एवं बौद्ध धर्म का अन्त : संघर्ष–*हरिगोपाल श्रीवास्तव* 59

10. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन परम्परा का प्रभाव 62
–ओम प्रकाश श्रीवास्तव

11. महिलाओं के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण–*नन्दन कुमार, पवन कुमार* 68

12. बौद्ध परम्परा में सारनाथ के स्तूप–*शोभा राम दुबे* 79

13. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध परम्परा का प्रभाव–*आशाराम* 87

14. जातक कथाओं में महोत्सव–*दुर्गेश कुामर त्रिपाठी एवं अंजनी कुमार मिश्र* 94

15. बौद्ध परिक्षेत्र में शैलकृत वास्तु कला–*राम गोपाल शुक्ल* 98

16. बौद्ध धर्म का तत्कालीन स्त्रियों के धार्मिक अधिकार पर प्रभाव 104
–प्रवेश कुमार श्रीवास्तव

17. बुद्धायन में अभिव्यक्त बौद्ध धर्म एवं उसकी प्रासंगिकता–*मृत्युंजय कुमार सिंह* 113

18. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध व जैन परम्परा का प्रभाव 123
–अनुपम कुमार

19. जैन धर्म में यक्षिणियाँ–*इष्ट देव ओझा* 131

20. बौद्ध साहित्य में संगीत–*अश्विन कुमार सिंह* 139

21. संगीत कला को समृद्ध करने में जैनधर्म का योगदान 144
–अरविन्द कुमार

22. भारतीय समाजवाद के प्रतिष्ठाता जयप्रकाश नारायण 151
–सुधाकार लाल श्रीवास्तव

23. पर्यावरणीय उपादान एवं गौतम बुद्ध (वर्तमान से सम्बद्धता के विशेष संदर्भ में)–*ओम जी उपाध्याय* 158

24. बौद्ध धर्म का आगमन एवं सामाजार्थिक परिवर्तन –*मनउअर अली* 164

25. जैन धर्म का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव–*सीमा श्रीवास्तव* 170

26. प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्मय में प्रतिबिम्बित नारी जीवन –*मुरली मनोहर तिवारी* 182

27. बौद्ध शिक्षा परम्परा का आधुनिक भारतीय शिक्षा पर प्रभाव –*दिनेश कुमार गुप्त* 190

28. जैन शिक्षा व्यवस्था में गुरु शिष्य सम्बन्ध –*पूर्णेश नारायण सिंह एवं जय प्रकाश मणि* 194

29. जैन धर्म में कर्म सिद्धन्त–*राम प्रताप राज* 199

30. बौद्ध साहित्य में चिकित्सा–*अजय कुमार पाण्डेय* *204*

31. वैदिक संस्कृति एवं बौद्ध धर्म–*प्रताप विजय कुमार* 208

32. भारतीय चिन्तन और संस्कृति को बौद्ध धर्म का योगदान –*वीणा गोपाल मिश्रा* 211

33. श्रमण–परम्परा में दिशा–पूजा : एक अनुशीलन –*ध्यानेन्द्र नारायण दूबे* 223

34. बौद्ध दर्शन में कर्म : एक अध्ययन–*विजय कुमार* 230

35. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन धर्म का प्रभाव –*रेखा चतुर्वेदी एवं प्रमोद कुमार त्रिपाठी* 235

36. जैन दर्शन एवं संस्कृत साहित्य–शास्त्र–*मधु सत्यदेव* 239

37. ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी के प्रमुख तीर्थ स्थलों का महत्व –*एस० एन० उपाध्याय* 244

38. प्राचीनतम् बौद्ध संघ और काशी–*संगीता पाण्डेय* 251

39. भारतीय बौद्ध शिक्षा केन्द्र: विहार–आयाम–*अनामिका त्रिपाठी* 256

40. बौद्ध संघ में भिक्षुणियों की स्थिति एवं भिक्षुणी संघ का विकास 264
–राघवेन्द्र प्रताप सिंह

41. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन परम्परा का प्रभाव 271
–निर्मला शुक्ला

42. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध परंपरा का प्रभाव 276
–ब्रह्मानन्द सिंह

43. जसवल से प्राप्त नवीन सूर्य प्रतिमाएं 283
–ज्ञान प्रकाश राय, अविनाश पति त्रिपाठी

44. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान–*सत्यनाम* 289

45. बुद्धकाल में भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था 295
–प्रवीण कुमार मिश्र

46. कबीर का कालबोध और बौद्ध शून्यवाद–*अमरनाथ पाण्डेय* 307

47. बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता (भारतीय संस्कृति के प्ररिप्रेक्ष्य में) 311
–इन्दुधर मिश्र

48. जैन एवं बौद्ध परम्परा में अहिंसा–*काली शंकर तिवारी* 316

49. कलचुरि काल में बौद्ध धर्म–*आशीष कुमार सिंह* 319

50. जैन परम्परा में श्रमण-चिन्तनधारा का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव–*रत्ना सिंह* 324

51. श्रमण धर्म दर्शन की अहिंसा का परवर्ती प्रभाव 328
–एच० एन० सिंह, अरविन्द कुमार

52. अहिंसा का सिद्धान्त और उसकी वर्तमान प्रासंगिकता 331
–राजेश कुमार शर्मा

53. अशोक के अभिलेखों की भाषा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव 338
–सरिता कुमारी

54. जैन धर्म में अहिंसा सिद्धान्त एवं उसकी प्रासंगिकता 343
–ममता पाण्डेय

55. *बौद्ध वास्तु-कला पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव* *347*
–चन्द्र कला राय

56. भारतीय संस्कृति एवं जैन धर्म –*दिव्या पाण्डेय* 352

57. बौद्ध परम्परा में प्रतीकवाद–*चन्दन विश्वकर्मा* 355

58. वैदिक संस्कृति पर बौद्धादि धर्म एवं दर्शन का प्रभाव 361
–दीनानाथ राय

59. बौद्ध धर्म का वैश्विक अवदान –*संजीव कुमार मिश्र* 365

60. वर्तमान युग में बुद्ध के मानव धर्म की उपादेयता 368
–पंकज कुमार श्रीवास्तव

61. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव–*संदीप कुमार सिंह* 371

62. पालि निकायों में व्यापार : संचालन एवं संगठन 373
–प्रीति तिवारी

63. शुंग–सातवाहन काल में श्रमण परम्परा का सातत्य 383
–स्तुति श्रीवास्तव

64. बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्यों का चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्ध 387
–माधवेन्द्र तिवारी

65. बौद्ध धर्म का वैश्वीकरण–*इन्द्रजीत सिंह* 390

66. बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा का व्यवस्थापन
–शैलजा सिंह एवं जय प्रकाश मणि 396

67. जैन धर्म में सामाजिक चिन्तन–*प्रभाकर लाल* 400

68. बौद्ध धर्म एवं भिक्षुणी संघ–*धर्मेन्द्र कुमार* 409

69. श्रावस्ती पर बौद्ध धर्म का स्वर्णिम प्रभाव 413
–अमरेश कुमार यादव एवं रीतेश यादव

70. भारतीय संस्कृति पर बौद्ध प्रतीकों का प्रभाव–*पुष्पलता कीर्ति* 416

71. बौद्ध धर्म की अमूल्य धरोहर : अजंता–*नूतन यादव* 420

72. बौद्ध परम्परा में पेय-जल–*व्यास मुनि मिश्र* 426

द्वितीय खण्ड

English

1. Demise of Lord Buddha : A Controversy regarding date—*Geeta Dutt* 430

2. The Sramanic Vision Buddha and Mahavira —*Digvijai Nath Pandey* 436

3. Trade as Depicted in Jain Texts (With Special Reference to Satthavaha & Savthavahi) —*Shruti Pandey* 441

4. Contribution of Buddhism to Indian Culture —*Pragya Chaturvedi* 447

5. Tārā (Buddhism)—*Anubhava Srivastava* 453

6. Prolegomena to History of the Buddhist Philosophy—*Kamlesh Kumar Gautam* 459

लेखक-परिचय 464

1

जैन धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त का ब्राह्मण परम्परा पर प्रभाव

विपुला दुबे

भारतीय संस्कृति में ब्राह्मण एवं श्रमण परम्पराओं को समान रूप से प्रवाहित होने का अवसर मिला, जो भारतीयों की बहुआयामी जीवन दृष्टि का परिणाम था। इनमें ब्राह्मण अर्थात् वैदिक प्रवृत्तिमार्गी परम्परा के अन्तर्गत गार्हस्थ्य जीवन की स्वीकृति थी, जिसमें वर्णाश्रम व्यवस्था की अवधारणा के अनुरूप जीवन का निर्वाह आवश्यक माना गया, यथा 'यज्ञ-ब्रह्म' (अग्निचिति) का सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ का परम कर्तव्य था। यह यज्ञ सन्तानोत्पत्ति हेतु सम्पन्न होता था। यहाँ 'अणु' हिंसा को रोकना सम्भव न था यहाँ तक कि वैदिकी धारा में वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना राजाओं के कर्त्तव्य एवं उपलब्धियों में समाहित था।[1] सम्प्रभुता, देवलोक विजय, स्वर्ग प्राप्ति का मूलाधार 'यज्ञ' था, यज्ञ की व्यापकता प्राय: जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में थी, जो हिंसा प्रधान थी।[2] यही कारण था कि प्रवृत्तिमार्गी वैदिक धारा में आचार के प्रमुख सिद्धान्त के रूप में 'अहिंसा' आरम्भ में प्रतिष्ठित नहीं हो सका। अस्तु जैन अहिंसा जो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी सजीव को (जैन मत ने जड़ में जीवन-चेतना को स्वीकृत कर उसे भी आघातित न करने का आह्वान किया) दु:ख न पहुंचाने का निषेध करता है उसको विकसित होने का वह फलक वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषकों के दर्शन में नहीं मिल सका जो आकाशीय फलक निवृत्तिमार्गी जीवन धारा के पोषकों विशेषकर जैनियों के द्वारा प्रदान किया गया।

इसमें संदेह नहीं कि 'अहिंसा' को जैनियों ने जो महत्त्व दिया उसकी वह

चरम स्थिति बौद्ध परम्परा में भी नहीं दिखाई देती। बौद्ध धर्म तर्क संगत, मानव संगत अहिंसा में विश्वास करता था। जैन दर्शन में अहिंसा शरीर तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह बौद्धिक, वैचारिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है, जिसकी चरम परिणति 'अनेकान्तवाद' में हुई। अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि प्रत्येक वस्तु अनेक गुण, धर्म, पर्याय का समुच्चय होती है, इसलिए द्रष्टा का कथन अन्य बातों के सापेक्ष होना चाहिये जिससे भाव हिंसा एवं द्रव्य हिंसा न हो। चिन्तन की इस अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम अनेकान्तवाद है उस चिन्तन के अभिव्यक्ति की शैली (Mode of Speech) स्याद्वाद। यद्यपि जैनियों की यह वैचारिक उदारता उनके अपने चिन्तन की परिणति थी लेकिन यहाँ यह कहना असंगत नहीं कि इस प्रकार की दृष्टिगत उदारता का बिम्ब ऋग्वेद[3] के उस मन्त्र में सन्निहित है जिसमें वैदिक ऋषि उद्घोष करता है कि सत्य एक है लेकिन गुण, धर्म, पर्यायगत भेद से उसके अनेक रूप हैं, भगवान बुद्ध ने भी उदान में संगृहीत 'नानातार्किक सुत्त' में कहा है कि सत्य एक ही है दूसरा नहीं ऐसा मानने वाले ही विवाद को जन्म देते हैं।

इन सभी साक्ष्यों के साथ यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जैन एवं बौद्ध धर्म की जन्म स्थली एवं मूल कर्म स्थली भारत भूमि ही रही है, इसलिए प्रवृत्तमार्ग (वैदिक ब्राह्मण परम्परा) एवं निवृत्तिमार्ग (श्रमण जैन-बौद्ध इत्यादि) में अपनायी गयी दृष्टियों की अन्तरात्मा, दोनों का गन्तव्य एक रहा है: कर्मबन्ध से मुक्ति। अस्तु दोनों धाराओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया। प्रस्तुत शोध आलेख में प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मण परम्परा के उन प्रस्थान बिन्दुओं को स्पर्श करने का प्रयास है, जहाँ बीज रूप में 'अहिंसा' विद्यमान है। युद्ध में रक्तरंजित हिंसा को अपनाने वाले राजाओं के द्वारा भी 'अहिंसा' के समर्थन के कारकों की पड़ताल तथा किस प्रकार श्रमण परम्परा ने गार्हस्थ्य जीवन से लेकर राजाओं के चरित को प्रभावित किया, इसकी गवेषणा प्रस्तुत शोध पत्र में की गयी है।

ध्यातव्य है कि जैन धर्म के मूलाधार 'पंच महाव्रतों' (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य) में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया[4] है लेकिन अहिंसा का बीज तत्व वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र दिखाई देता है। ऋग्वेद[5] के दशवें मण्डल के बाईसवें सूक्त के तेरहवें मंत्र में उल्लिखित है कि

हे इन्द्र देव! हमारी प्रार्थनाएं एवं शुभकानाएं आपके सामीप्य को प्राप्त कर 'सत्य रूप' एवं 'हिंसा रहित' हों। यहाँ स्पष्ट है कि कोई ऐसी कामना जो पर पीड़ा का कारण हो उसे आप परिष्कृत करें। इसी प्रकार ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में मित्र देव को अहिंसक एवं प्रिय कहा गया है। प्रियता दो पक्षों के द्वैत को समाप्त कर एकीकृत अर्थात् सखा होने का भाव प्रकट करता है और इस अद्वैत स्थिति में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं होता। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अहिंसा और सत्य का अविनाभाव सम्बन्ध भारत में अति प्राचीन काल से रहा है। ऋग्वेद[6] में अनेक स्थलों पर वृत्र आदि असुरों को असत्य बोलने के कारण 'हिंसक' कहा गया है। इनके लिए 'दु:शंस', 'अधशंस्' जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ है। आचार्य सायण ने 'दु:शंस' की व्याख्या विद्यमान को अविद्यमान कहने वाले अर्थात् असत्यवादी हिंसक किया है। इन स्थलों पर असुरों से देवों की कटुता, प्रतिस्पर्धा का कारण असुरों का असत्यवादी होना भी प्रतीत होता है। असत्य वाचिक हिंसा का मूलाधार है, यहाँ वाचिक हिंसा का बीज विद्यमान है जो 'हिंसा' की पहली सीढ़ी है। वाक् संयम पर प्राय: दोनों ही धाराओं में विशेष बल दिया गया। ऐतिहासिक काल खण्ड में मौर्य सम्राट अशोक 'वचन में गोपन' (वाक् संयम) को सभी सम्प्रदायों की सारवृद्धि का मंत्र कहता है।[7] दूसरी तरफ वाक् संयम न रखने के कारण अनेक पौराणिक राजाओं को दुर्गति का सामना करना पड़ा।[8] महाभारत[9] से ज्ञात है कि परम वैष्णव महान राजा वसु उपरिचर ने परिस्थितिगत दबाव में एक बार असत्य कथन कर दिया, जिससे सप्तर्षियों को अत्यन्त आघात लगा, वसुअरियर को यह कह कर पाताल लोक जाने का दण्ड मिला कि जान बूझ कर आपने अन्न अर्थ वाची 'अज' का अर्थ 'बकरा' बता दिया है। जो अपराध की कोटि में आता है।

ध्यातव्य है कि पौराणिक राजाओं में चेदि देश (मध्य प्रदेश के गुना का समीपवर्ती क्षेत्र) का यह वह पहला राजा है जिसने यज्ञ में पशुवध का निषेध किया, यह वैष्णव धर्म से प्रभावित था। जैन धर्मावलम्बी कलिंग नरेश खारवेल बड़े गर्व से अपने को 'वसुराजविनिश्रितो' कहता है।[10] खारवेल द्वारा वसु से अपने सम्बन्ध की विज्ञप्ति सिद्ध करती है कि बसु भी जैनियों की तरह 'अहिंसा' धर्म में विश्वास रखता था।

हिंसा प्रधान वैदिक कर्म काण्ड की निन्दा का स्वर औपनिवेषिक काल में मुखर हुआ। मुण्डकोपनिषद्[11] में पशुबलि युक्त यज्ञ को ज्ञान रहित कर्म बता कर उसकी निन्दा की गयी है। यज्ञ के सम्पादक 16 ऋत्विक, यजमान तथा यजमान पत्नी इन अट्ठारह को जिनमें ज्ञान रहित कर्म आश्रित हैं, अस्थिर एवं नाशवान बताया गया है। अन्त में कहा गया है कि जो मूढ़ यज्ञ को ही श्रेय मानते हैं और उनका अभिनन्दन करते हैं वे निरन्तर जरा-मरण को प्राप्त करते रहे हैं। दूसरी ओर छान्दोग्य उपनिषद्[12] में अक्षय फल देने वाली 'आत्म यज्ञोपासना' की प्रशंसा करते हुए तप, दान, आर्जव (सरलता) अहिंसा और सत्य वचन को उसकी दक्षिणा कहा गया है। आत्म यज्ञोपासना आत्मोन्नयन की प्रवृत्ति है, जो हर व्यक्ति में विद्यमान होती है, इसके विकास के लिए परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, यह उच्च परोपकारिता की भावना को प्रेरित करती है। यह प्रवृत्ति उनमें शीघ्र जागृत होती है जिनके माता-पिता धार्मिक मनोवृत्ति के होते हैं। दोनों ही धाराओं में 'आत्मोन्नयन' का अवसर था। एक में धर्म, अर्थ, काम के सम्यक् सेवन के द्वारा जीवन के अन्तिम गन्तव्य तक पहुंचने एवं पशुता का परिष्कार करने का विधान था तो दूसरे श्रमण धारा में तपसचर्या के कठोर मार्ग पर चलते हुए आभ्यन्तर की अग्नि प्रज्वलित कर (उर्ध्वरेता होकर) मानवीय दुर्बलताओं (हिंसा, असत्य, चौर वृत्ति, अनुचित का संग्रह इत्यादि) पर विजय प्राप्त करने का विधान था। योग दर्शन के पंच यमों में भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह समाहित हैं, जो व्यक्ति एवं सामाजिक जीवन की शुद्धि के लिए प्रतिपादित थीं। ब्राह्मण ग्रंथों में यदि एक ओर सर्वमेध यज्ञ में सब कुछ मारा जा सकता है (सर्वमेध सर्वं हन्यात्) का घोष है तो दूसरी ओर प्राणियों की हिंसा न करने का आदेश भी है।

भारत में वेदों के हिंसा प्रधान यज्ञ एवं जैनियों की अतिवादी अहिंसा सिद्धान्त के बीच एक और कड़ी दिखाई देती है, वह है घोर आंगिरस, कृष्ण जनक, याज्ञवल्क्य इत्यादि की 'पुरुष-यजन विद्या' (दूसरों के लिए जीने की विद्या) आत्म विद्या। योगी राज कृष्ण ने (जो जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के चचेरे भाई बताये जाते हैं, उनका प्रभाव कृष्ण के चिन्तन पर पड़ा

ऐसा माना जाता है) गीता में यज्ञ का पूर्ण विरोध तो नहीं किया लेकिन सबसे उत्तम यज्ञ उसे बताया जिसमें किसी जीव की हिंसा नहीं होती तथा मनुष्य अपना जीवन परोपकार में लगा देता है। इस 'पुरुष यजन विद्या' को कृष्ण ने अपने गुरु आंगिरस से सीखी थी। भगवद् गीता में वैष्णव धर्म का जो रूप है उस पर जैन, बौद्ध धर्मों का प्रभाव परिलक्षित होता है। महावीर, बुद्ध से पूर्व तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अपने चातुर्याम संवर संवाद में सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह के साथ अहिंसा को सर्वसाधारण के आचार हेतु प्रस्तावित किया, इसके पूर्व अहिंसा केवल तपस्वियों के आचार में सम्मिलित थी। जैन बौद्ध धर्म की अहिंसा का प्रभाव वैष्णव, शैव धर्म पर पड़ा तो दूसरी ओर रक्त रंजित युद्धों के माध्यम से अपनी विजय पिपासा को शान्त करने वाले राजा भी इससे अछूते नहीं रह सके। इन राजाओं में मौर्य सम्राट अशोक वह पहला राजा है जिसने कलिंग युद्ध के भीषण नर संहार के पश्चात् अहिंसा की नीति का अवलम्बन किया।[13] रण घोष के स्थान पर धम्म घोष, पशुवध निषेध, वाक् संयम, समवाय की अच्छाइयों की वकालत अपने प्रज्ञापनों में करता दिखाई देता है। इसीलिए कुछ इतिहासकार अशोक की 'अहिंसा नीति' को उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि मानते हैं।[14] इन राजाओं में प्रथम शताब्दी ई० पूर्व का शासक खारवेल परम जैन था। हाथी गुम्फा अभिलेख[15] में इसकी तुलना उस पौराणिक राजा वेन से की गयी है जो पहले वर्णाश्रम धर्म का पोषक था लेकिन बाद में अहिंसावादी जैन धर्म को अपना लिया था इसलिए पुराणों में इसकी निन्दा की गयी है। खारवेल को राजर्षियों की परम्परा का अनुवर्तन करने वाला, भिक्षु राज, चौसठ अंगों वाले वाद्य यंत्रों से शान्ति घोष करने वाला भी कहा गया है, जो उसकी उदारवादी दृष्टि का प्रमाण है। इन बौद्ध, जैन मतावलम्बी शासकों के अतिरिक्त अनेक ऐसे साम्राज्यवादी शासक थे, जो यह कहते दिखाई देते हैं कि रणभूमि को छोड़कर सामान्यतया प्राण हिंसा में मेरी कोई रुचि नहीं। यथा शक, पहलव, क्षहरात राजवंशों को निःशेष करने का दावा करने वाला गौतमी पुत्र सातकर्णी यह कहता है कि 'कितापराधे पि सतुजने अ-पाणहिसा रुचिस[16]' अर्थात् अपराध करने वाले शत्रुओं के भी प्राण लेने में मेरी रुचि नहीं है अर्थात् प्रकृत्या मैं अहिंसक हूँ। इसी प्रकार का दावा शक

नरेश रुद्रदामा ने भी किया है।[17] वह कहता है कि संग्राम को छोड़कर अन्यत्र वह मानव वध से निवृत्त रहता है। वैष्णव धर्म के पोषक राजाओं ने भी यज्ञ के सम्पादन को वह महत्व नहीं दिया जो वैदिक परम्परा के पोषकों द्वारा दिया गया है।[18]

इसमें संदेह नहीं कि अहिंसा के तत्त्व वैदिक वाङ्मय में यत्र तत्र तथा औपनिषदिक चिन्तन में दिखाई देता है। यहाँ तक कि महासंग्राम का महाकाव्य 'अहिंसा परमोधर्मः' कहकर अहिंसा के माहात्म्य की स्थापना करता है लेकिन जैन मत के अहिंसा-सिद्धान्त ने वैष्णव, शैव से लेकर युद्ध को राजधर्म मानने वाले राजाओं के चिन्तन को भी प्रभावित किया, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता।

संदर्भ

1. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू धर्म कोश, लखनऊ, 1988, पृ० 70-71
2. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, गुप्त कालीन मुद्राएं, पटना, 1972, पृ० 48
   'राजाधिराजः पृथिवीं विजित्वा दिवं जयत्यादृत वाजिमेधः' समुद्र गुप्त की अश्वमेध प्रकार की मुद्रा पर अंकित लेख।
3. ऋग्वेद, 1.164.46
   एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।
4. भास्कर भागचन्द्र जैन, तीर्थंकर महावीर और उनके दशधर्म, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1999
5. ऋग्वेद - अस्मे ता इन्द्र सन्तु सत्याहिंसन्तीरूपस्पृशः।
   विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः।। 10.22.13।।
6. तत्रैव , 10.157.4, 10.185.2
7. गोयल, श्रीराम, **भारतीय अभिलेख संग्रह**, भाग 1, जयपुर, पृ० 58-59 द्वादश शिलालेख, गिरनार संस्करण-
   'न तु तथा दानं व पूजा न देवानांपियो मंजते यथा किति'।
8. महाभारत, आदिपर्व 63/13-17, शान्तिपर्व
9. तत्रैव, सारवढी अस सवपासंगनं सार वढी तु बहुविधा वस तु मूलं य वचिगुती।
10. गोयल, श्रीराम, **भारतीय अभिलेख संग्रह**, भाग 1,
11. **मुण्डकोपनिषद्**, 1.2.7, प्लवा हयते अदृढा यज्ञरूपा
    अष्टादशोक्तवरं येषु कर्म।
    एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
    जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।। 7।।

12. **छान्दोग्य उपनिषद्**: 3.17.4
13. गोयल, श्रीराम, **भारतीय अभिलेख संग्रह**, भाग 1, त्रयोदश शिला लेख, प्रथम शिला, द्वादश इत्यादि।
14. थापर, रोमिला, **प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास**, ग्रंथशिल्पी दिल्ली, 2001, पृ० 17
15. पाण्डेय, राजबली, **हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्स्क्रीप्शन्स**, वाराणसी, 1962, पृ० 45-46

    'चोय (ठि) अंग संतिक तुरीयं उपादयति।'

    - खेम-राजा स वद राजा स **भिखु** राजा धम राजा।
16. गोयल, श्रीराम, तत्रैव, पृ० 441
17. तत्रैव, पृ० 61, 'आ प्राणोच्छ्नासात्पुरुषवध निवृत्ति कृत..........अन्यत्र संग्रामेषु।'
18. गुप्त वंश का महान चन्द्रगुप्त द्वितीय जो परमभागवत था इसने 'अश्वमेध यज्ञ' का सम्पादन नहीं किया जो अहिंसावादी भागवत धर्म के प्रभाव का परिणाम था।

2
बौद्ध वाङ्मय में महिला विमर्श

विमलेश कुमार पाण्डेय

गौतम बुद्ध एवं उनके शिष्यों का दृष्टिकोण महिलाओं के प्रति अत्यन्त सकारात्मक एवं क्रान्तिकारी था, जो तत्युगीन सामाजिक परिवेश हेतु असामान्य, उग्र एवं हानि कारक समझा गया था। यद्यपि बौद्ध संघ का सामाजिक गतिविधियों पर प्रभाव नगण्य था तथापि बौद्ध संघ के निर्णयों को समाज अनेकशः प्रभावित कर सकता था। त्रिपिटक के संशोधनों में अभिव्यक्त विचार वैविध्य पूर्ण है।

व्यक्तिगत रूप से बुद्ध ने संघ के भीतर महिलाओं को पुरुषों के समान दर्जा प्रदान किया। प्राचीन भारतीय बौद्ध साहित्य में पाये जाने वाले महिला-विरोधी वक्तव्य बिहार के विशिष्ट वर्ग के उन सदस्यों द्वारा बुद्धवचन में जोड़े गये क्षेपक हैं, जिनके महिलाओं के प्रति रुख को, कम-से-कम कुछ सीमा तक, विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों ने आकार प्रदान किया।[1] पालि त्रिपिटक का बड़ा भाग तृतीय बौद्ध संगीति में संकलित हुआ प्रतीत हुआ है।[2] बुद्धवचन तय करने के लिए बुलाई गई इस संगीति व इससे पहले की दो संगीतियों में प्रबल उभयकेन्द्रित - पितृसत्तात्मक भिक्षु अपने विचार थोपने में सफल रहे। बुद्ध का युग गंगा नगरीकरण के उद्‌भव व विकास के साथ-ही-साथ व्यक्तिवाद के उदय और तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति के हाशिये पर सामाजिक व आध्यात्मिक रूप से रह रहे लोगों पर इसके प्रभाव का गवाह था। उभरती हुई सामाजिक व्यवस्था की विद्यमान सामाजिक मूल्यों के बचाव में अभिरूचि बहुत कम थी और ऐसे वातावरण में महिलाएं व निचले सामाजिक तबके के लोग आम तौर पर अपनी पसन्द के धार्मिक लक्ष्य को पाने व प्रकट करने में

अधिक स्वतंत्र थे। जिस प्रकार बुद्ध द्वारा स्थापित लक्ष्य किसी खास वर्ग में पैदा हुए लोगों के लिए नहीं था, उसी प्रकार यह केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं था। दोनों ही स्थितियां परम्परागत सामाजिक व लिंग विकृतियों से कहीं परे सद्गुण व आध्यात्मिक सम्भावना को खोजने के प्रयास को प्रदर्शित करती हैं। दोनों को ही वैयक्तिकता की एक नई उभर रही चेतना के साक्ष्य के रूप में देखा जा सता है, जिसने वैदिकोत्तर काल में सीमित जैविक व सामाजिक बाध्यताओं पर अग्रता लेने की शुरुआत की। बहुत-सी महिलाओं ने बुद्ध द्वारा मुहैया कराये गये इस अवसर का फायदा उठाया। अनेक महिलाएं बुद्ध की हितकारिणयां थीं, जो इस बात का संकेत है कि उस समय न केवल बड़ी संख्या में स्वतंत्र साधनों वाली महिलाएं थीं, बल्कि नवजात संघ को पालने-पोसने में उनकी भूमिका भी प्रशंसनीय थी। बुद्ध की शिष्याओं में कुछ साधारण शिष्याएं ही बनी रहीं और कुछ ने भिक्षुणी बनने के लिए सांसारिक मोहमाया को त्याग दिया। भिक्षुणी या कुंआरी की भूमिका में, मानवीय अन्तः शक्ति की उपलब्धि के लिए लैंगिकता के महत्व को अनदेखा किया जा सकता था। जननी की भूमिका में, कामवासना को सामान्यतया एक नियंत्रित अवस्था के रूप में देखा गया है। बुद्ध ने पुरुषों व महिलाओं को एक एकीकृत व्यक्तित्व के पूरक पहलुओं के तौर पर करुणा व बुद्धि के रूप में देखा। निस्सन्देह गौतम के अनुचरों में कई महिलाएं थीं जो पूर्ण रूप से प्रबुद्ध मानी जाती थीं। भारतीय बौद्ध साहित्य का प्रारम्भिक स्तर इस तथ्य को मानता है कि महिलाएं अर्हत् बन सकती थीं और कई बनीं भी जो मानवीय अस्तित्व को यथार्थ बनाने वाले मानसिक एवं जैविक दुःखों से पूर्णतः मुक्त थीं। त्रिपिटक में उपलब्ध सूचना के अनुसार महिलाओं में ऐसी अर्हतों के कई उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने सांसारिक जीवन का त्याग कर दिया था और यहाँ तक कि मगध के राजा की पटरानी, खेमा जैसी महिलाओं के कुछ उदारहण भी हैं, जिन्होंने गृहस्थ जीवन त्यागने से पहले ही पूर्णतः बुद्धत्व प्राप्त कर लिया था। पाटाचारा, सकुला, वाशिष्ठी, विजया, कृषा, सुकरीनन्दा, सुमेधा, जयन्ती, अनोपमा, सोणा जैसी कई प्रसिद्ध महिला अनुचर धर्म-प्रवचन में निपुणता के लिए जानी जाती थीं। खेमा जैसी महिलाओं के प्रति, धर्म का गहरा ज्ञान रखने के लिए, स्वयं बुद्ध के मन में उच्च श्रद्धा थी। कोशल नरेश प्रसेनजित् स्वयं उनकी सेवा में गया

था, सुभद्रा अपने व्याख्यानों और उपदेशों में अमृत की वर्षा करती थीं। विदुषी जयन्ती ने तो स्वयं वर्धमान महावीर से वाद-विवाद किया था। कुछ भिक्षुणियों का अपना व्यक्तिगत शिष्य-समुदाय था जो न केवल धर्म प्रस्तुत करने में समर्थ थीं, बल्कि वे बुद्ध या कुछ दूसरे वरिष्ठ भिक्षुओं की मध्यस्थता के बिना भी नये महत्वाकांक्षियों को सम्पूर्ण मुक्ति तक पहुंचा सकती थीं।[3] यद्यपि त्रिपिटक में बहुत-सी महिलाओंको दूसरी महिलाओं की शिक्षिकाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है, तथापि इन ग्रन्थों में प्रति संकुचित मानसिकता रखने वाले सम्पादकों ने धम्मदिन्ना जैसी महिलाओं के कुछ वृत्तान्त बचाकर रख लिये, जिसे भिक्षुणी बनने के बाद अपने पूर्व-पति विसाख को निर्देश देने का मौका मिला। जैसा कि चुलवेदल्लसुत्त में बताया गया है, धम्मदिन्ना, विसाख द्वारा सिद्धान्त व व्वयहार के पहलुओं से सम्बन्धित पूछे गये प्रश्नों की एक लम्बी शृंखला का उत्तर देती हैं। विसाख एक प्रसिद्ध व्यापारी व अयाजकीय बौद्ध शिक्षक था और जैसा कि अट्टकथाएं बताती हैं, उसका अपना एक महत्वपूर्ण शिष्य-समुदाय था। विसाख, बाद में, धम्मदिन्ना के उत्तरों से बुद्ध को अवगत कराता है और बुद्ध बड़े खुश होकर कहते हैं कि वे भी बिल्कुल धम्मदिन्ना की तरह ही उत्तर देते। इस सुझाव का पर्याप्त प्रमाण है कि महिलाएं न केवल आरम्भिक बौद्ध समुदाय में स्पष्ट रूप से उपस्थित थीं, बल्कि साधिकाओं व शिक्षिकाओं दोनों ही रूपों में प्रमुख व सम्माननीय जगह भी बनाए हुए थीं।[4] बुद्धोत्तर काल में महिलाएं संरक्षिकाओं व दानकर्त्तृयों के रूप में दृष्टिगोचर तो होती हैं, लेकिन भिक्षुणी-संघ को वह प्रतिष्ठा या सर्जनात्मकता मिलती प्रतीत नहीं होती है, जैसी की खेमा, धम्मदिन्न व आरम्भिक अर्हत् भिक्षुणियों की उत्तराधिकारिणियों को मिलने की आशा की जा सकती थी। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में न केवल महिलाओं के लिए धर्मपथ खुला था; बल्कि, वास्तव, में यह रास्ता महिलाओं व पुरुषों दोनों के लिए एक ही प्रकार का था। ऐसी बात नहीं कि लिंग-भेद विद्यमान नहीं थे, लेकिन वे 'मुक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से नगण्य' थे जो अधिक से अधिक मुक्ति के वास्तविक लक्ष्य में विपथक हो सकते थे।[5]

परम्परागत रूप से जो भी सीमाएं महिलाओं पर थोपी गई हैं, उन्हें न तो

बौद्ध रीति-रिवाज से किसी भी रूप से अलग रखा जा सकता था, और न ही अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् निर्वाण प्राप्त करने से रोका जा सकता था। सामाजिक रूप से उग्र होते हुए भी, यह स्थिति बुद्धवचन के मूल दार्शनिक सिद्धान्तों के बिल्कुल अनुकूल थी। यह इस मायने में एक क्रांतिकारी सफलता थी कि महिलाएं मुक्ति की बौद्ध खोज में स्पष्ट रूप से शामिल थीं। दूसरे शब्दों में, बुद्ध व आनन्द जैसे उनके कुछ सहयोगियों का यह स्पष्ट मानना था कि जाति की तरह लिंग भी किसी व्यक्ति द्वारा दुःख से छुटकारा पाने के बौद्ध लक्ष्य को प्राप्त करने में बाधा नहीं हो सकता था। लेकिन, भिक्षुणी-संघ की स्थापना का शायद एक नकारात्मक परिणाम भी रहा होगा।

अल्तेकर के अनुसार, जैन व बौद्ध धर्मों में भिक्षुणियों के लिए विहारों की स्थापना, माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध दीक्षा लेने वाली कई कुंआरी लड़कियों में से कुछ का बाद में उच्च आध्यात्मिक आदर्श से गिर जाने की घटनाओं से इस बात को बल मिला होगा कि लड़कियों का विवाह यथाशीघ्र विशेषकर किशोरावस्था से पहले ही कर दिया जाना चाहिये। इसलिए निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भिक्षुणी-संघ की स्थापना के बाद, लड़कियों का विवाह करने योग्य आयु में लगातार कमी की जा रही थी।[6] आधुनिक थेरवादी देशों में भिक्षुणी-संघ का प्रायः न होना भी महिलाओं के खिलाफ दक्षिण एशियाई समाज के इस स्वाभाविक पक्षपात को प्रदर्शित करता है। लेकिन जैसा कि हॉर्नर ने कहा है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि बुद्ध ने 'उनमें पुरुषों की तरह ही अच्छाई व आध्यात्मिकता की अन्तःशक्ति को देखा।[7]'

बौद्ध धर्म ने महिलाओं को अधिक अच्छे अवसर प्रदान किये।[8] भिक्षुणी संघ के माध्यम से, महिलाओं के पास अपनी पारिवारिक भूमिकाओं के स्थान पर एक विकल्प भी उपलब्ध निहित थे। लेकिन संघ में उनके सहयोगी, खासकर उनकी मृत्यु के बाद, लोक प्रचलित और प्रायः नारी-द्वेषी विद्यमान संस्कृति से उपजते गैर-बौद्धीय विश्वासों पर भरोसा करते थे जो यह मानते थे कि एक महिला को हमेशा अपनी रिश्तेदारी के किसी पुरुष-पिता, पति या पुत्र के नियंत्रण में रहना चाहिये। परम्परागत बौद्ध चिन्तन ने भले ही यह स्वीकार किया हो कि भारतीय उभयकेन्द्रित-पितृसत्ता महिलाओं के लिए प्रतिकूल थी,

लेकिन उनकी अक्षमताएं उनके पिछले जन्म में क्या किये गये कर्म के परिणाम के रूप में देखी गई। लेकिन, महिलाएं पुरुष के रूप में पुनर्जन्म लेकर भविष्य में अपने दुःखों से छुटकारा पा सकती हैं। नारीवादी मूल्यों के हिसाब से यह समाधान चाहे जितना भी असन्तोषजनक हो, कम--से-कम यह विचार स्वीकार करके कि पुरुष-प्रधानता महिलाओं के लिए कठिन व दुःखदायी होती है, भविष्य में आशा की किरण दिखाने का प्रयास करता है।[9] एक नारीवादी मत रखने वाला यह जरूर सुझाएगा कि जिस चीज से छुटकारा पाने की आवश्यकता है, वह भविष्य में महिलाओं के रूप में पुनर्जन्म नहीं, बल्कि वे वर्तमान परिस्थितियां हैं, जिन्होंने महिला-जीवन को कठिन व असहनीय बना दिया है।

यदि पारिवारिक जीवन दमनात्मक था तो जहाँ तक बौद्ध धर्म का प्रश्न है, बिहार-व्यवस्था महिलाओं के लिए आमतौर पर परिमोचक था। पहली बौद्ध संगीति के दौरान आनन्द पर दोषारोपण भी वह सिद्ध करता है कि जब बुद्ध अपने शिष्यों को निर्देश देने या नियंत्रित करने के लिए जीवित नहीं रहे तो उनके शिष्यों का दृष्टिकोण काफी कठोर हो गया था। फिर भी बौद्ध समुदाय में महिलाओं का दमन सार्वभौम नहीं रहा होगा। जबकि महिलाओं को सचमुच में नियम व व्यवहार के द्वारा निम्नतर स्तर पर सीमित कर दिया गया था, इतिहास इसके प्रतिकूल उदाहरणों को भी प्रस्तुत करता है। टैस्सा बार्थोलोम्युज ने दिखाया है कि कैसे संघमित्रा का मामला इस विचार को पुष्ट करता है। वह शक्तिशाली राजा अशोक की बेटी थी, जिसने उसे भिक्षुणी - संघ स्थापित करने के लिए श्रीलंका भेजा था। यह उस उच्च स्थान का संकेत है जो एक महिला बौद्ध पदानुक्रम में बना सकती थी और इससे यह भी आभास मिलता है कि कम-से-कम अशोक के समय में बौद्ध सिद्धान्त में ऐसा कुछ भी नहीं था, जो महिलाओं को पुरुष के बराबर माने जाने पर प्रतिबन्ध लगा पाता।[10] पालि त्रिपिटक में कुछ संदर्भ मिलते हैं, जिनमें महिलाओं की उपस्थिति को स्वीकार ही नहीं किया गया, बल्कि उनकी प्रशंसा भी की गयी है। उदाहरण के लिए, खेमा को बुद्ध ने स्वयं अनुदेशित किया था। किंवदंती के अनुसार जब उसकी शिक्षा पूरी हुई तब वह धर्म व इसके अर्थ पर पूर्ण पकड़ के साथ

अर्हत्त्व पा चुकी थी। उसके बाद खेमा अपने महान अन्तर्ज्ञान के लिए जाने लगी और खुद बुद्ध ने उसे उच्च स्थान प्रदान किया। उसी प्रकार एक समारोह से लौटती हुई सुजाता ने बुद्ध का प्रवचन सुना और उसने रूप व अर्थ में धर्म की पूर्ण पकड़ के साथ अर्हत्व प्राप्त किया। किसागौतमी ने भी बुद्ध द्वारा दिये गये धर्म उपदेश को समझने के बाद अर्हत्व प्राप्त किया। भिक्षुणी समा के बारे में कहा जाता है कि उसने आनन्द के उपदेशों को सुना और इस प्रकार अर्हत् बन गयी। चित्ता को महाप्रजापति गौतमी ने धर्म में दीक्षित किया था, जिसके बाद उसने अर्हत्व प्राप्त किया। उसी प्रकार, भिक्षुणी मुत्ता ने न केवल तीन अंकुशाकार चीजों-चक्की, ओखली व पति से, बल्कि पुनर्जन्म व मृत्यु से भी मुक्ति पाई। स्पष्ट है कि बुद्ध ने महिलाओं को पुरुषों के समान ही आदर किया व उनमें से कई को अपनी शिक्षाएं स्वयं प्रदान कीं।[11]

भिक्षुणी-संघ की स्थापना, भिक्षु-संघ की स्थापना के पांच वर्षों बाद की गयी थी। भिक्षुणी-संघ के आरम्भिक चरणों में, भिक्षुणियों ने भिक्षुओं से न केवल अनुशासनिक कार्यों के विचित्र रूपों को, बल्कि ज्ञान के विभिन्न पक्षों को भी सीखा होगा। ध्यातव्य है कि बुद्ध द्वारा महिलाओं को दिये गये सामाजिक व आध्यात्मिक अवसर अनपेक्षित रूप से क्रान्तिकारी होने के कारण, पुरुषों, विशेषकर भिक्षुओं द्वारा इस पर आपत्ति किया जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। परिणामस्वरूप, उन्हें इस वास्तविकता का एहसास अवश्य रहा होगा कि उनकी शिष्याएं निरन्तर प्रताड़ित व अपमानित की जाएंगी। इसके अतिरिक्त, यह भय भी स्वाभाविक था कि भिक्षुणियां पुरुष-हिंसा की शिकार होंगी और वह भिक्षुणियों के विरुद्ध पुरुष-हिंसा की विभिन्न घटनाओं से तथा इस प्रकार की हिंसा को रोकने के लिए बनाये गये नियमों से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार जैसा कि रीटा ग्रॉस ने संकेत किया है कि इन नियमों द्वारा महिलाओं के अकेली यात्रा व काम करने पर सामान्यतः प्रतिबन्ध लगाया गया था, ठीक उसी प्रकार जैसे कि आज हम प्रायः महिलाओं को असामान्य समय में असुरक्षित जगहों पर न जाने का सुझाव देते हुए उन पर सम्भावित पुरुष-हिंसा का प्रतिकार करते हैं।[12] मानवीय बस्तियों की शहरी सीमा पर विहारों की स्थापना के परिणामस्वरूप, भिक्षुणियों के आम लोगों द्वारा छिद्रान्वेषण, फायदा

उठाने जाने या यहाँ तक कि अकेले होने के कारण यौन–प्रताड़ना की भारी संभावना रहती थी।

बुद्ध महिलाओं के साथ उनके व्यक्तित्व के आधार पर व्यवहार करते थे। सैद्धान्तिक रूप से वह उन्हें पुरुषों के समान ही समझते थे, हालांकि इस प्रकार की स्थिति महिलाओं की निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता तक ही सीमित रही दिखाई पड़ती है। समाज के अन्दर महिलाओं के अधिकारों की ओर बुद्ध का ध्यान इतना नहीं गया होगा, जितना ध्यान उन्हें मिलना चाहिये था। तथापि जब भी मौके मिले, बुद्ध ने अपने मन की ही बात की। उनके द्वारा पसेनदि को कहे गये शब्दों से यह बात सिद्ध होती है, जो यह समाचार सुनकर दुःखी हुआ कि उसकी पत्नी ने पुत्र की जगह पुत्री को जन्म दिया था। बुद्ध ने उससे कहा कि पुत्री वास्तव में, ज्ञानी व गुणी बनकर पुत्र से भी अधिक अच्छी सन्तान सिद्ध हो सकती है।[13] महात्मा बुद्ध ने धार्मिक एवं सामाजिक सुधार करके समाज को अभिनव आयाम दिये। पुत्री एवं पुत्र के जन्म में उन्होंने कोई अन्तर नहीं माना। बौद्ध विचारधारा के अनुसार अपुत्रक द्वारा पुत्र को गोद लेना उतना कानून सम्मत नहीं था, जितना कन्या को दत्तक बनाना। सोमवती एवं थाणा को गोद लिये जाने के उदाहरण हैं। कन्या जन्म पर भी पुत्र जन्म की भांति सभा आनुष्ठानिक कृत्य सोल्लास सम्पन्न किये जाते थे। एक बार यह जान लेने बाद कि महिलाएं धार्मिक जीवन अपनाने की पूरी क्षमता रखती हैं, आरम्भिक बौद्ध संघ को यह निर्णय करना था कि इस तरह के विचार से उत्पन्न रुचि के सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिये।[14] आरम्भ में, कोई खास समस्या पैदा होती नजर नहीं आती क्योंकि आन्तरिक मामलों पर प्रभुत्व व बाह्य मामलों में स्वीकार्यता के सम्बन्ध में जैसे–जैसे ही संघ विकसित हुआ, उसने अपने चरित्र को बाहरी समाज के अनुसार ढालना शुरू कर दिया। इस तरह के परिवर्तन के फलस्वरूप, ऐसे बढ़ते हुए रुख का प्रमाण मिलता है, जिसका अर्थ था कि महिलाएं धर्म परायणता को पूर्णकालिक पेशा तो बना सकती हैं लेकिन एक ऐसे सावधानीपूर्वक नियंत्रित संस्थागत ढांचे के भीतर रहकर, जो पुरुष प्रधानता व महिला–अधीनीकरण को पारम्परिक रूप में स्वीकृत सामाजिक मानकों के द्वारा सुरक्षित व सशक्त बनाता हो।[15]

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि भिक्षुणी संघ की स्थापना से बुद्ध ने महिलाओं को जिस स्तर पर धर्मपरायणता का अवसर प्रदान किया, वह विश्व के इतिहास में आने वाले लम्बे समय तक एक अद्वितीय बात रही। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी मृत्यु के बाद, कुछ व्यावहारिक तर्कों को नारी स्वभाव की कमियों के बारे में अटकलबाजी करने के बहाने का आधार बना लिया गया।

महापरिनिर्वाणोत्तरकालीन संघ में आये विभिन्न विरोधाभासों का समाधान प्रथम भिक्षुणी के रूप में महाप्रजापति गौतमी तथा उनके द्वारा आठ प्रतिबंध गुरु धर्मों की स्वीकृति की कहानी की कल्पना करके किया गया। दिलचस्प बात यह है कि महाप्रजापति गौतमी ने अपने पति की मृत्यु के बाद प्रव्रज्या प्राप्त की, जबकि तब तक अनेक महिलाएं बुद्ध से उपसम्पदा पा चुकी थीं। उनकी प्रतिष्ठा के कारण उनका नाम मनगढ़न्त सूची में सम्मिलित किया गया लगता है। आई० बी० हॉर्नर अनुभव करती हैं कि 500 वर्षों बाद बुद्ध धर्म के पतन की भविष्यवाणी को बाद में भिक्षुओं द्वारा कल्पित किया गया प्रतीत होता है।[16] यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इन विरोधाभासों का समाधान एक कलावधि में हुआ और चुल्लवग्ग में दिया गया विवरण शायद उसे तर्कसंगत करने तथा उचित ठहराने की और भी बाद की कोशिश थी जो पहले से ही यथापूर्व स्थिति बन चुकी थी। साधारण तर्कसंगत व्याख्या के अतिरिक्त, एक पुनरावृत्ति विषय भी मिलता है जो विभिन्न विरोधाभासों का समाधान ढूंढने की कोशिश करता है। महाप्रजापति गौतमी को इसलिए भी चुन लिया गया प्रतीत होता है कि क्योंकि बुद्ध उनके अधिकतम ऋणी थे, जिस कारण एक महिला के रूप में उन्हें उच्च्व सम्मान प्राप्त था। कहानी विश्वसनीय बनाने के लिये, आरम्भ में सम्पादक महाप्रजापति गौतमी को आठ प्रतिबन्धक गुरु धर्मों को तुरन्त स्वीकार करते दिखाते हैं,[17] लेकिन बाद में उन्हें आनन्द के पास जाकर बुद्ध से प्रवरता से सम्बद्ध प्रथम गुरु धर्म पर ढील देने के लिए पूछते दिखाते हैं। ऐसी छूट के फलस्वरूप महिलाओं को मठीय समुदाय के भीतर अत्यधिक प्रतिष्ठा व विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते और निःसंदेह भिक्षुणी-संघ का परवर्ती इतिहास काफी भिन्न होता। जवाब स्पष्ट तौर पर नकारात्मक दिखाया गया है, जिसे इस आधार पर उचित ठहराया गया कि लैंगिक साम्यता बिल्कुल

अभूतपूर्व थी। भिक्षुणियों ने निःसंदेह अपने-आप को बड़ी सफलतापूर्वक व्यवस्थित कर रखा था और शायद इस प्रस्ताव के बाद भी वे ऐसे ही कार्यरत रहीं, लेकिन अब औपचारिक तौर पर भिक्षुओं के नियंत्रण (तथा संरक्षण) में। ऐसे समझौते ने उन्हें बेचैन तो शायद अवश्य कर दिया होगा, लेकिन यह ऐसा समझौता था जिसके द्वारा भिक्षुओं को न केवल राहत मिली होगी बल्कि स्वतंत्र कल्प महिलाओं के असामान्य समूह को भी जितना संभव हो सकता था उतना उचित ठहराया गया होगा। लेकिन, इस कहानी में, विनय के सम्पादकों को कई और समस्याओं का समाधान भी करना पड़ा। कहानी में, महाप्रजापति गौतमी महिलाओं के नेतृत्व का कार्य करती है, जो बुद्ध के भिक्षुओं के नेतृत्व के समानान्तर चलती है।[18] प्रारम्भ में, बुद्ध द्वारा उनकी मांग अस्वीकार कर दिये जाने के बावजूद महाप्रजापति गौतमी व उनकी शिष्याएं केश कटाये, काषाय वस्त्र पहने तथा बुद्ध के धर्म व संघ का अनुसरण करती हुई दिखाई गई हैं।

बौद्ध धर्म ने महिलाओं को परिवार, विवाह और प्रसूति जैसी संस्थाओं से न केवल मुक्ति पाने का बल्कि उन्हें खुद को संयोजित करने का मौका भी दिया।[19]

संदर्भ

1. एलन, स्पानबर्ग, एटीट्यूड टुवर्डस वीमेन एण्ड फैमिली इन अर्ली बुद्धिज्म, न्यूयार्क, 1992, पृष्ठ 3-36
2. शर्मा, चन्द्रधर, ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, मोतीलाल बनारसी दास, 1983, पृष्ठ 70
3. गौड़ रंजना, त्रिपिटक साहित्य में प्रतिबिम्बित समाज, लखनऊ, 2002, पृष्ठ 86-100
4. एलन, स्पानबर्ग, वही
5. वही
6. अल्तेकर, ए० एस०, द पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन, दिल्ली, 1974, पृष्ठ 54-55
7. हार्नर, आई० बी०; वीमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, मोतीलाल बनारसीदास, 1975, पृष्ठ 193
8. यंग, कैथरिन, वीमेन इन वर्ल्ड रिलीजिअस, न्यूयार्क, 1987, पृष्ठ 16
9. ग्रॉस, रीटा एम०, फेमिनिज्म एण्ड रिलीजन : ऐन इण्ट्रोडक्शन, बोस्टन, 1996, पृष्ठ 139

10. बार्थो लोम्यूज, टैस्सा, द फीमेल मेण्डिकैण्ट इन बुद्धिस्ट, श्रीलंका, पृष्ठ 38-51
11. वही
12. ग्रास, रीटा एम०; बुद्धिज्म आफ्टर पैट्रियार्की : एक फैमिनी हिस्ट्री, एनालिसिस एण्ड रिकांस्ट्रक्शन ऑफ बुद्धिज्म, न्यूयार्क 1992, पृष्ठ 36
13. सराओ, के० टी० एस०, प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म : उद्भव स्वरूप एवं पतन, पृष्ठ 100-01
14. वही
15. वही
16. हार्नर, वही
17. वाल्टर्ज, जोनाथन, ए वायस फ्रॉम द साइलेन्स : द बुद्धाज मदर्स स्टोरी, 1994, पृष्ठ 358-379
18. वही
19. ग्रॉस, रीटा एम०, वही, पृष्ठ 118

3

श्रीलंका की कला में बौद्ध धर्म का वैश्विक अवदान

राजकुमार गुप्त

भारतीय अनुस्तुति के अनुसार लंका में सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति का सन्देश अयोध्या के राजा श्री रामचन्द्र जी ले गये थे जब उन्होंने रावण से सीता को मुक्त करने के लिये लंका पर आक्रमण किया था। सिंहल ग्रन्थ दीपवंस व महावंश में वर्णित है कि लंकाद्वीप की स्थापना एक भारतीय उपनिवेश के रूप में लाळ नरेश (काठियावाड़) सिंहबाहु के विद्रोही पुत्र विजय ने की (जिसे भगवान बुद्ध का आशीर्वाद प्राप्त था)। उसे अपने उच्छृङ्खल कार्यकलाप के कारण पिता द्वारा देश निकाला दे दिया गया था। वह अपने कुछ साथियों के साथ लंकाद्वीप पहुंच गया। उसने अपने पिता के नाम पर इसे सिंहलद्वीप घोषित किया।[1]

अशोक के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उसने सर्वत्र अपने साम्राज्य में, प्रत्यन्त प्रदेशों में तथा सुदूर पश्चिमी विदेश में धर्म-विजय का प्रयत्न किया और वहाँ पर दूतों को धर्म-प्रचार हेतु भेजा।[2] अनेक इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया है कि अशोक की यह धर्म-विजय सद्धर्म (बौद्ध धर्म) का ही प्रचार था और उसके संरक्षण और प्रयास के कारण ही भारत भूमि में जन्मा एक धार्मिक सम्प्रदाय विश्वजनीन धर्म में परिणत हो गया।[3] अशोक की प्रेरणा से मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ने तृतीय बौद्ध संगीति के बाद प्रत्यन्त प्रदेशों में बुद्ध - शासन की उन्नति और धर्म प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजा।[4] मोग्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ने संघ के स्थविरों से कहा कि वे चार-चार भिक्षुओं के *साथ स्वयं को पाँचवां मानकर (पाँच-पाँच की मण्डली में) प्रत्यन्त देशों*

के प्राणियों पर अनुकम्पा करते हुए तथा उनमें बुद्ध शासन के प्रति श्रद्धा को सुदृढ़ करने हेतु वहाँ धर्म-प्रचार के लिए प्रस्थान करें।[5] इसी आदेश के अनुपालन में महेन्द्र, इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्रशाल लंका के शासक देवानाम्प्रिय तिष्य के शासन काल में लंका पहुँचे।[6] इस प्रकार यथा विधि बौद्ध धर्म लंका द्वीप में प्रविष्ट हुआ। ये भिक्षु अपने साथ बोधि-वृक्ष की शाखा भी ले गये थे जिसे पूर्ण सम्मान के साथ अनुराधपुर में लगाया गया। महेन्द्र को अपने धर्म-प्रचार में अपनी बहन संघमित्रा से भी बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ था।[7] प्रेषित भिक्षुओं के नाम और बोधिवृक्ष की कथा भारतीय पुरातत्त्व के साँची स्तूप के अनुसंधान में भी प्रमाणित हो चुका है।[8] गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने भी स्वीकार किया है कि अभिलेखों से भी स्थविरवादियों के द्वारा धर्म-प्रचार के इस प्रयत्न का समर्थन प्राप्त होता है।[9] लंका द्वीप में सभी स्थविरों ने वहाँ की जनता में 'चूलहत्थिपदोपमसुत्त', 'देवदूतसुत्त,' 'बालपण्डितसुत्त,' 'अग्निस्कन्धोपमसुत्त,' 'अशीविषोपमसुत्त,' 'अनमग्गियसुत्त,' 'गोमयपिण्डसुत्त', 'धर्मचक्रप्रर्वतनसुत्त,' 'महासमयसुत्त', आदि का उपदेश दिया।[10] वस्तुतः महेन्द्र और संघमित्रा के लंका में पहुँचने के बाद से ही दोनों देश आध्यात्मिक रूप से एक हो गये थे।[11]

बौद्ध धर्म के प्रचार - प्रसार के सम्बन्ध में भारतीय राजाओं ने जिस प्रकार राज्याश्रय द्वारा बुद्ध-धर्म की सेवा की उसी प्रकार सिंहल देश के राजाओं ने भी बौद्ध धर्म के राजनियोजित प्रचार और प्रसार में योगदान दिया। आदि काल से ही मानव का कला से निकटतम् सम्बन्ध रहा है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में कला प्रारम्भ से ही धर्म से अनुप्राणित रही है। भारतीय कला का सर्वोत्तम वैशिष्ट्य यह है कि वह संस्कार प्रधान होने के कारण धर्म प्रधान बन गई है। वस्तुतः धर्म ही भारतीय कला का प्राण है। चूँकि लंका में भारतीय धर्म (बौद्ध धर्म) जब अपनी जड़ें मजबूत कर लिया तो वहाँ पर भी जिस कला का उद्भव और विकास हुआ वह भी पूर्णतया बौद्ध से ही अनुप्राणित रही। यहाँ पर स्तूप, चैत्य और विहारों के बड़े ही रोचक वर्णन प्राप्त होते हैं। यहाँ की कला असंदिग्ध रूप से बुद्ध, धर्म तथा संघ के प्रति समर्पित थी। स्तूप, विहार और चैत्यों का निर्माण सामान्य जनमानस को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करने का साधन भी था। कला धर्म प्रचार का माध्यम भी बन गयी थी।

वंस साहित्य में स्तूप, चैत्य एवं विहार के निर्माण की विशद् जानकारी प्राप्त होती है। वस्तुतः बौद्ध कला के प्राचीनतम् विषय स्तूप व विहार ही थे। स्तूप परिनिर्वृत तथागत भगवान बुद्ध का प्रतीक था। बौद्ध परम्परा के अनुसार महापरिनिर्वाण के समानान्तर ही बुद्ध के अवशेष (चिताशेष) शरीर धातु का आठ भागों में विभाजन तथा प्रत्येक पर पृथक-पृथक स्तूप रचना हुई जिससे आठ धातु-गर्भ स्तूप अस्तित्व में आये।[12] प्रारम्भिक स्तूप अण्डाकार तथा इष्टका - खचित होते थे। अण्ड के अग्र-भाग में 'हर्मिका' और 'छत्र' तथा मूल भाग में प्रदक्षिणा पथ होता था। चारों ओर सुरक्षा के निमित्त वेदिका बना दी जाती थी जिसमें द्वार या तोरण होते थे। क्रमशः स्तूपों का आकार बढ़ता और ऊँचा होता गया तथा वेदिका और तोरण उभरे हुए उत्कीर्ण चित्रों से अलंकृत किये गये जिनके विषय जातक अथवा बुद्ध की जीवनी से लिये गये हैं। कालान्तर में ईंटों का स्थान पत्थरों ने ले लिया। साँची, सारनाथ, भरहुत, अमरावती, नागार्जुनीकोंड आदि स्तूप बौद्ध कला की अमूल्य निधियाँ हैं।

थूपवंस[13] में चार प्रकार के व्यक्ति स्तूपार्ह हैं, यथा - तथागत, प्रत्येक बुद्ध (व्यक्तिगत रूप से ज्ञानी किन्तु लोकों के उपदेष्टता नहीं), तथागत के शिष्य और राजचक्रवर्ती। जिस चैत्य में इनमें से किसी के शरीर के अवशिष्ट चिह्न रखे जायें वही स्तूप (थूप) है। वंस साहित्य में बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरणागति और श्रद्धा भक्ति में अनेकानेक स्तूपों के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।[14] बौद्ध धर्म में यह मान्यता है कि बुद्ध की शरीर धातुओं का दर्शन होने पर भी साक्षात उन्हीं का दर्शन माना जाता है।[15] यही कारण है कि स्तूप निर्माण और उसका दर्शन पूजन बौद्ध अनुयायियों के सबसे पुनीत कर्म में परिणत हो गया।

स्तूप का निर्माण समाज के लिए स्फूर्तिदायक रचना होती थी। उसके शिलान्यास से लेकर उसके पूर्ण होने तक अनेक समारोहों व उत्सवों का आयोजन किया जाता था जिसमें देश और विदेश से अनेक लोग और भिक्षु-स्थविर आदि भाग लेते थे।[16] श्रीलंका के राजा दुट्टग्रामणी द्वारा एक महास्तूप के निर्माण के अवसर पर लंका द्वीप वासी भिक्षुओं के साथ-साथ अन्य देशों यथा - राजगृह, ऋषिपत्तन, श्रावस्ती, वैशाली, कौशाम्बी, उज्जयिनी,

पाटलिपुत्र, कश्मीरमण्डल, पहलवी (पल्लव), अलसन्द (यवन), विन्ध्याटवी, बोधिमण्डविहार (बोधगया), वनवास प्रदेश (कर्नाटक), कैलाश आदि स्थानों के मुख्य स्थविर अनेकों भिक्षुओं के साथ भाग लिये थे।[17] स्तूप की रचना थूपकम्म (स्तूपकर्म) या महाथूपारम्भ (महास्तूपारम्भ) कहलाती थी और निर्माणाध्यक्ष व्यक्ति को 'कम्माधिट्ठायक' (कर्माधिष्ठापक) कहा जाता था।[18] यहाँ स्तूप के निर्माण के लिये राजा द्वारा शिल्पियों का चुनाव अनेक शिल्पकारों में से परीक्षा के उपरान्त किया जाता था।[19] थूपट्ठान या स्तूप के स्थान पर थूप (खम्भा) की प्रतिष्ठा की जाती थी। इसी यूप में परिभ्रमण दण्डक की रस्सी का एक सिरा बांधकर सम्बन्धित अधिकारी स्तूप के लिए आवश्यक भूमि का मापन करता था।[20] स्तूपों के निर्माण के पूर्ण हो जाने पर उसका 'उद्घाटनोत्सव' बड़े ही भव्य तरीके से मनाया जाता था।[21]

स्तूप निर्माण के कार्य में सर्वप्रथम नींव का निर्माण किया जाता था। स्तूप निर्माण के लिये गोल पत्थरों (गुल पासाण के) को योद्धाओं (सैनिकों) से मंगवाया जाता था। उन्हें वे हथौड़ों से खण्ड-खण्ड करते थे उसके बाद उसके ऊपर हाथियों के पैरों में चमड़ा मढ़वाकर उनसे मसलवाया जाता था जिससे खण्ड-खण्ड पत्थर के टुकड़े महीन भस्सी बन जाती थी।[22] इस प्रकार सात हाथ गहरे गड्ढे को पत्थर की बजरी और भस्सी के महीन रेत से भरवाकर स्तूप के लिये पक्की नींव या भूमि निर्मित की जाती थी।[23] उसके ऊपर 'नवनीत मत्तिका' (मक्खन मिट्टी या चिकनी मिट्टी) नामक अत्यन्त महीन और विशेष रूप से तैयार की गयी चूने जैसी मिट्टी या मसाले का पलस्तर किया जाता था।[24] वज्र एवं सुगन्धित लेप मिट्टी (मत्तिका), ईंट का पीसा चूर्ण (इट्ठका चूर्ण), चूना (खरसुधा), कुरुविन्द चूर्ण (मृदु प्रस्तर), मोरम्ब (मरुम्ब), स्फटिक, शीरा (रसोदक), कैथ या बेल का गूदा (कपित्थरस्स), तिल के तेल, मनसिल (मनोसिलाय) को मिलाकर बनाया जाता था।[25] इस प्रकार के वज्र के लेप का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी प्राप्त होता है।[26] कनिंघम महोदय को इस प्रकार से निर्मित फर्श भरहुत स्तूप के नीचे से मिला था।[27]

महास्तूप के मूल भाग के पूर्ण हो जाने के बाद उसे नाना भांति के अभिप्रायों और अलंकरणों से अलंकृत किया जाता था, जैसे – अष्ट मांगलिक चिह्न (अट्ठमंगलक-कदली स्तम्भ, जलपूर्ण घट, शस्त्रयुक्त योद्धा, सिर पर

घड़ा रखे हुये नारी, चित्रलता आदि), चतुष्पद पंक्ति (सिंह, वृषभ, गज, अश्व, चतुप्पद पंती), हंस पंक्ति (हंस पन्ती), मोती और छोटी घंटियों के बने हुये जालक (मुत्ताकिंकिणिक जालक), सुवर्ण निर्मित घंटियों की पंक्ति (सुवण्णघण्टा पन्ती), मालाएँ (दामानि), मोतियों की मालाओं के लटके (मुत्तादामकलापक), सूर्य, चन्द्रमा और तारों की आकृति के फुल्ले (रविचन्दतार रूप पदुमक), वस्त्रों की ध्वजाएँ, नाना प्रकार के रत्नों की वेदिका (नानारतनवेदिका), पूर्णघट या मंगल-कलशों की पंक्तियाँ (पुण्णघट पंती), हाथ जोड़े हुये अंजलि मुद्रा में देवता (अंजलिपग्गहा देवा), जलपूर्ण घट लिये हुये देवता (पुप्फपुण्णघटा), नाचते-गाते नर्तक देवता (नचक्का देवता), तूर्यवादक देवता (तुरियवादक देवता), दर्पण हाथ में लिये देवता (आदासगाहका देवा), पुष्पशाखाधारी देवता (पुप्फसाखाधरा देवा), कमलपुष्प हाथ में लिये देवता (पदुमादिक गाहका देवा), रत्न-मालाओं की पंक्तियाँ (रतनग्घिय पंती), धर्मचक्रों की पंक्तियाँ (धम्मचक्क पंती), खड्गधारी देव पंक्ति (खग्गधरा देव पंती), पात्रधारी देवताओं की पंक्ति (पातिधरा देव पंती) और भी अनेक प्रकार के दिव्य अभिप्राय और देवता (अञ्ञे देवा च नेकधा)।[28] अनेक जातक कथाएँ और बुद्ध के जीवन-दृश्य भी स्तूपों पर अंकित कये जाते थे।[29] महाब्रह्मा, शक्र, वीणाधारी पंचशिख, अप्सराओं के साथ सहस्त्रभुजी देवकुमारियाँ या देवकन्याएँ (द्वातिंसा च कुमारियों), अष्टाविशति यक्षराज (यक्ख सेनापति अट्ठवीसति) आदि की आकृतियों का उत्कीर्णन किया जाता था।[30] महावंस में बुद्ध के जीवन-लीला की घटनाओं के उत्कीर्णन का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[31] वेस्संतर जातक की कथा का सविस्तार अंकन मिलता है।[32] वेदिका और स्तूप के शिल्प पर अन्य जातक कथाओं को भी स्थान दिया गया था।[33] वासुदेव शरण अग्रवाल का मानना है कि कुषाण युग के बाद के स्तूपों में बुद्ध के अनेक जीवन-दृश्य भी उत्कीर्ण किये गये जब उन्होंने तुषित देवों के स्वर्ग में रहते हुए पृथ्वी पर जन्म लेने का निश्चय किया और जब बोधिमण्ड पर विराजमान होकर मारघर्षण किया और तद्नन्तर धर्मचक्रप्रवर्तन कर वे निर्वाण को प्राप्त हुये।[34]

इन विवरणों से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्मानुयायियों के लिये महास्तूप का निर्माण एक महत्वपूर्ण धार्मिक कर्म था। वासुदेव शरण अग्रवाल ने यह

स्वीकार किया है कि महावंस में इस महास्तूप के वर्णन का लक्ष्य आन्ध्र देश में निर्मित अमरावती और नागार्जुनीकोण्ड के महाचैत्य थे।[35] आन्ध्र स्तूपों के शिलापट्टों पर अनेक प्रकार के रूपक या अलंकरण उत्कीर्णित किये गये हैं जो महावंस[36] के विवरणों से साम्य रखते हैं। आन्ध्र स्तूपों के चारों दिशाओं में चार मंच निर्गत रूप में बनाये जाते थे। उनमें से प्रत्येक में पांच पूजा स्तम्भों को स्थान दिया जाता था जिन्हें आयक - खम्भ (आर्यक-स्कम्भ) कहा जाता था। आन्ध्र स्तूपों की यह विशेषता भी महावंस में वर्णित है।[37] महावंस में महास्तूप के निर्माण में मेदवर्ण पाषाण का उल्लेख है उससे भी आन्ध्र स्तूपों की ही सूचना प्राप्त होती है जो धौले रंग के पत्थरों से निर्मित हैं। इन विवरणों के आधार पर इनसे कई सदी पूर्व निर्मित साँची और भरहुत के महाचैत्यों के भव्य निर्माण की कल्पना की जा सकती है। गहरी नींव भरकर, अण्ड भाग, हर्मिका, वेदिका, तोरण आदि का निर्माण, अनेकों प्रकार के अलंकरण और धार्मिक अभिप्रायों की सज्जा एवं रूपवती देवकन्याओं की विविध मुद्राओं में कल्पना जिनका दिग्दर्शन वेदिकाओं पर होता है, सबकी पृष्ठभूमि में आकृति एवं वास्तु-विधान सम्बन्धी दीर्घकालीन प्रयत्न निहित था।

थूपवंस में बुद्ध के परिनिर्वाण काल से लेकर दुट्टग्रामणी के समय तक निर्मित स्तूपों का क्रमबद्ध विवरण प्राप्त होता है।[38] देवानांप्रियतिष्य ने अपने भाई की पत्नी अनुला देवी की संघमित्रा द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद सम्पूर्ण लंका द्वीप में एक-एक योजन के फासले पर स्तूपों का जाल बिछा दिया। इन स्तूपों में रखने के लिए तथागत के शरीर के अवशिष्ट चिन्हों को उसने श्रामणेर सुमन को भेजकर अपने मित्र जम्बुद्वीप के राजा अशोक से मंगवाया था। महास्तूप में रखने के लिये बुद्ध के शरीर के अवशेष वही थे जिन्हें रामगाम के कोलियों ने अपने यहाँ स्थापित किया था।[39] निःसन्देह देवानांप्रियतिष्य अशोक से प्रभावित था जिसने 84000 स्तूपों के निर्माण का दावा किया है। वंस साहित्य के विवरणों से यह भी स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध के छः केशों के ऊपर स्तूप का निर्माण किया गया था और सिलाकाल को उसका प्रथम रक्षक नियुक्त किया गया था।[40] राजा वृषभ ने 10 स्तूपों का निर्माण कराया था।[41] इसी प्रकार पराक्रमबाहु और राजातिष्यक ने स्तूप और विहार दोनों का निर्माण कराया था।[42]

वंस साहित्य के विवरणों से श्रीलंका में अनेक विहार के निर्माण की भी सूचना प्राप्त होती है। विहार निर्माण के कुछ निश्चित धार्मिक नियम थे जिनका अनुपालन आवश्यक था। विहार के निर्माण से ही संघाराम प्रतिष्ठित नहीं हुआ करतमा जब तक उसकी बुद्ध द्वारा अनुमोदित सीमा न बांध दी जाय। इसके लिये संघ में एक जगह एकत्र होकर सभी भिक्षु - भिक्षुणियाँ कर्मवाचा (विनय-पाठ) सुनाते थे जिसे 'एकावास' की संज्ञा दी जाती थी। इसी सीमा के बंधने पर ही कोई विहार स्थाई हो पाता था और वहाँ आवास सुप्रतिष्ठित होता था।[43] दूट्टग्रामणी ने अनुराधपुर में नौ मंजिलों का 'लौह प्रासाद' नामक विहार बनवाया। यह हजारों कूटागारों से मण्डित और एक हजार कमरों से युक्त था। इसकी छत लोहे की खपरैलों से युक्त होने के कारण ही इसे 'लौहप्रासाद' कहा गया।[44] देवानांप्रियतिष्य ने 'तिष्यारा‍म विहार', 'स्तूपाराम विहार' और 'चूड़कतिष्य' नामक विहार बनवाया था।[45] राजा अभय ने 'अभय गिरि विहार' बनवाया तथा उसके पाँच योद्धाओं ने अपने ही नामों पर 'सालियाराम', 'मूलाशय', 'पर्वताराम', 'तिष्याराम' और 'देवागार' नाम विहार बनवाये थे।[46] इसी प्रकार राजा थूलसेन ने 'अलकन्दर विहार' राजा लज्जतिष्य ने 'गिरिकुम्भिल', राजा महल्लनाग ने 'साजिल्लकन्दकाराम,' 'दकपाषाणविहार', 'शालिपर्वत विहार', 'तेनेवेल्लिविहार', 'नागपर्वत विहार', और 'गिरिसालि विहार', राजा महाशिव ने 'नंगरांगण', और राजा शूरतिष्य ने हस्तिस्कन्ध, गोगणगिरिक, कोलम्बहालक, मकुलक, अच्छगल्लक, कण्डनगर, गिरिनेलवाहनक विहारों का निर्माण कराया।[47] विहारों में ही स्तूपों और चैत्य का भी निर्माण किया जाता था।[48]

विहारों में संघ के लिए सभी प्रकार की सुविधाएं और सुरक्षा उपलब्ध थीं। विहारों में पुष्करिणियों (वापियों) तथा तड़ाग का भी निर्माण किया जाता था।[49] विहार के चारों ओर प्राकार (परकोटा) के निर्माण का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[50] प्राकार के साथ-साथ विहारों में 'परिवेण' और 'महपरिवेण' का भी निर्माण किया जाता था।[51] भिक्षुणि ें के लिए अलग से विहारों का निर्माण किया जाता था। देवानांप्रियतिष्य ने भिक्षुणियों की सुरक्षा के निमित्त 'उपासिका विहार' और 'हस्त्यादक विहार' के साथ - साथ 'भिक्षुण्युपाश्रयों' का निर्माण

करवाया था।[52] भिक्षुणियों के लिए जन्ताधार (वाष्प स्नानगृह) के भी निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।[53]

स्तूपों और विहारों के निर्माण में अलंकरण, उनकी मजबूती और उनकी सुरक्षा का भी ध्यान रखा जाता था। स्तूपों के निर्माण में ईंटों[54] और पाषाणों[55] दोनों का प्रयोग किया जाता था। ईंटों से निर्मित स्तूप पर भी साँची के स्तूप की तरह शिलाकंचुक पहनाने का भी वर्णन है।[56] स्तूप को चाँदी, सुवर्ण और मणि-रत्नों और हीरा से भी अलंकृत किया जाता था।[57] महाबोधि के चारों ओर पाषाण वेदिका तथा तोरण का भी निर्माण किया गया था तथा बोधिवृक्ष के सम्मुख एक दीप स्तम्भ जो वृक्ष के समान ऊँचा था, का निर्माण किया गया था।[58] राजा दुट्टग्रामणी द्वारा भगवान बुद्ध के प्रतिमा के निर्माण का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[59]

वंस साहित्य में अनेक ऐसे स्थापात्यिक रचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जो बौद्ध धर्म व संघ के लिए आवश्यक निर्माण थे। भिक्षुओं के धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए चार दीवारों से घिरे 'मालक' का भी निर्माण किया जाता था।[60] महावंस[61] में महामुचुलमालक, प्रश्नाम्रमालक, शिरीषमालक नागमालक, आदि अनेक मालकों का उल्लेख प्राप्त होता है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए उपोसथ-गृह (उपोसथगार) का भी निर्माण किया जाता था।[62]

भगवान् बुद्ध की जीवन-लीला की घटनाओं का भी उत्कीर्णन किया जाता था। इन घटनाओं में 'ब्रह्मायाचन कथा,' 'धर्मचक्रप्रवर्तन', 'यशश्रेष्ठी की प्रव्रज्या', 'भद्रवर्गीय सहायकों की प्रव्रज्या', 'जटिलों कोक सन्मार्ग पर लाने की कथा,' 'भगवान् बुद्ध का मगध सम्राट बिम्बिसार से मिलना,' 'उनका राजगृह में प्रवेश', 'वेलुवनाराम का दान ग्रहण', 'उनका अस्सी श्रावकों सहित कपिलवस्तु गमन' तथा वहाँ 'रत्नचक्रमण प्रातिहार्य प्रदर्शन', 'राहुल एवं आनन्द की प्रव्रज्या का चित्रण,' 'अनाथपिण्डक श्रेष्ठी से जेतवन का ग्रहण', 'आम्रवृक्ष के नीचे प्रातिहार्य प्रदर्शन' उनके द्वारा 'त्रायस्त्रिंश लोक में जाकर किया गया अभिधर्मोपदेश,' 'देवताओं का भगवद्दर्शनार्थ भूलोक पर आना,' 'स्थविरों के प्रश्न' (दी० नि० 20 सू०), 'महासमय सूत्र,' 'राहुलोवाद सूत्र',

'महामंगल सूत्र', 'धनपाल समागम सूत्र,' 'बुद्ध द्वारा आलवक (यक्ष) का दमन', 'डाकू अंगुलिमाल का दमन,' 'नागराज अजपाल का दमन,' 'बुद्ध का पारायणक ब्राह्मणों से भेंट', 'आयु संस्कार (जीवन) त्याग का दृश्य,' 'भगवान् बुद्ध द्वारा शूकरमार्द्दव का भोजन करना', 'शृंगिवर्ण युगल का स्वच्छ जलपान' एवं 'बुद्ध के महापरिनिर्वाण' के दृश्यों का उत्कीर्णन मुख्य रूप से किया गया है। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद दुःखी होने के कारण 'देवताओं और मनुष्यों का विलाप,' 'स्थविरों द्वारा उनका पादवन्दन,' उनका 'दाहक्रियाकर्म' (अग्नि निर्वाण) तथा 'तदुत्तरकालिक पूजा,' इसके बाद 'द्रोण ब्राह्मण द्वारा अस्थियों की पूजा' इत्यादि भगवान बुद्ध की जीवन-कथाओं तथा जातक कथाओं का उत्कीर्णन बौद्ध कला की अमूल्य निधियां हैं। ये सभी उत्कीर्णन लंकाधिपति दुट्टग्रामणी ने भगवान् बुद्ध की श्रद्धा-भक्ति में करवाया था। उसने वेस्सन्त जातक (538) का अति विस्तारपूर्वक उत्कीर्णन करवाया। इसके साथ-साथ उसने तुषितपुर (देवलोक) से आरम्भकर बोधिमण्ड तक की सभी लीलाओं का विस्तारपूर्वक उत्कीर्णन करवाया था।[63]

श्रीलंका की चित्रकला भी बौद्ध धर्म से प्रभावित थी। चित्रकार अपने चित्रों में मानव-जगत, पशु-जगत और वनस्पति-जगत को समान महत्त्व प्रदान करता था। वह अपने चित्रों को कपड़े, स्तूप, विहार और भवन की भित्तियों पर चित्रित करता था।[64] चित्रकार बुद्ध के अतिरिक्त अन्य देवताओं और स्त्री-पुरुषों के भी सुन्दर चित्रों को बनाते थे।[65] पशु-जगत के चित्रों में चतुष्पदों यथा सिंह, वृषभ, गज, और अश्व के चित्रों को मणि-मुक्ताओं आदि से बनाया जाता था जिन्हें 'चतुष्पद पंक्ति' की संज्ञा दी जाती है।[66] ये चारों महाआजानेय पशु सारनाथ स्तम्भ के फलक पर भी अंकित हैं जिन्हें बुद्ध के जन्म, कुल, निष्क्रमण और राशि का प्रतीक भी माना जाता है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने कहा है कि भारतीय संस्कृति में इन चारों पशुओं की मौलिकता की परम्परा एक ओर सिन्धु घाटी तक है और दूसरी ओर 19वीं शती तक देशगत विस्तार में भारत और लंका के साथ-साथ बर्मा, स्याम और तिब्बत तक प्राप्त होता है।[67] बाल्मिकी रामायण में इन्हें जहाँ राम के अभिषेक के लिए मांगलिक द्रव्यों में गिना जाता है वहीं केशवदास (17वीं शती) ने राम के राज प्रासाद के चार द्वारों पर इनका उल्लेख किया है। इन पशुओं के

साथ-साथ 'मृग' और 'व्याघ्र' का भी चिंत्राकन किया जाता था।[68] मांगलिक पक्षियों में शुक, मयूर, हंस आदि के सजीव चित्रांकन का उल्लेख प्राप्त होता है।[69] चित्रकारों के द्वारा वनस्पति-जगत के चित्रों में भी रुचि दर्शाते हुए कदली-स्तम्भ, चित्रलता के साथ-साथ जलपूर्ण घटों को मांगलिक चित्र के रूप में बनाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[70]

इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्ध, धर्म और संघ की समृद्धि में लंकाद्वीप के अनेकानेक शासकों व उसके पदाधिकारियों के साथ-साथ सामान्यजनों ने भी योगदान दिया और अनेक स्तूप, चैत्य, स्तम्भ और विहारों के साथ-साथ ऐसे अनेक निर्माण कार्य किए जो बौद्ध धर्म से अनुप्राणित थे। भगवान बुद्ध के पूर्व जीवन के कथानकों का प्रदर्शन अथवा ऐतिहासिक घटनाओं का उत्कीर्णन उपासकों एवं दर्शकों के मानस पटल पर स्थायी प्रभाव डालता है। भगवान बुद्ध के प्रतीक एवं उनकी प्रतिमा का स्थान-स्थान पर उत्कीर्णन लंका में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा को दर्शाता है। वंस साहित्य से लंका में कला और धर्म के समन्वय की भी जानकारी प्राप्त होती है। जिसका प्रारम्भिक स्वरूप हमें हड़प्पा संस्कृति से ही मिलने लगता है और जो आद्योपान्त भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। इसी भारतीय वैशिष्ट्य को बौद्ध धर्म ने श्रीलंका में स्थापित किया जिससे दोनों देश एक दूसरे के धार्मिक और सांस्कृतिक बन्धन में बंध गये। वंस-साहित्य में तो वंसकारों ने यह स्वीकार किया है कि श्रीलंकावासी असंस्कृत व असभ्य थे जिनको बुद्ध तथा उनकी परम्पराओं ने सुसंस्कृत व सभ्य बनाया। यह स्वीकारोक्ति हमें रामायण में वर्णित राम व रावण के संघर्षों की याद दिलाता है। वस्तुतः बौद्ध धर्म के कारण ही श्रीलंका और भारत में सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ वे भारतीय रीति-रिवाज और परम्पराओं के साथ-साथ भारतीय कला के भी ग्रहणकर्ता बनें।

सन्दर्भ

1. दीपवंस, अष्टम परिच्छेद, महावंस, षष्ट एवं सप्तम् परिच्छेद
2. अशोक का दूसरा, पंचम और त्रयोदश शिलालेख।
3. वी० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 197-99
4. दीपवंस, 8/1-2; महावंस 12/1

5. दीपवंस, 8/1-2; महावंस 12/1
6. दीपवंस, 8/12; महावंस 12/7
7. दीपवंस, 15/74; महावंस, 15/21, 23; 18/1
8. परमानन्द सिंह (स०) महावंस, पृ० 19
9. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 200
10. दीपवंस, 12/53; 13/12, 18; 14/12, 18, 47, 54
11. दीपवंस, 8/12; 15/74, 75; महावंस, 12/7, 15/22-23, 19/53
12. महापरिनिब्बानसुत्तन्त एवं थूपवंस
13. थूपवंस
14. दीपवंस, 15/5, 7, 27; महावंस, 1/37, 39; 15/51; 19/75
15. महावंस, 17/3
16. दीपवंस, 15/28-32; महावंस, 29/13, 14
17. महावंस, 29/30-43
18. वही, 29/1
19. वही, 28/5-11
20. वही, 29/2, 49, 51
21. वही, 5/178, 185
22. वही, 29/3, 4
23. वही, 29/2
24. वही, 29/5
25. वही, 29/7-12
26. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 3/40/1-3
27. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० 137
28. महावंस, 27/37; 30/65-92
29. वही, 30/78
30. वही, 30/78-89
31. वही, 30/78
32. वही, 30/88
33. वही, 30/87
34. भारतीय कला, पृ० 138
35. वही
36. महावंस, 30/97
37. वही, 30/60

38. थूपवंस
39. महावंस, 17/9; 18; 32/59, 60
40. छकेसधातुवंस; चूलवंस 39/49, 56
41. दीपवंस, 22/1
42. चूलवंस, 39/49; दीपवंस, 22/40
43. दीपवंस, 14/22-25
44. महावंस, 27/15; 32/2-3
45. दीपवंस, 13/19, 23; 17/95; महावंस 20/7-8
46. दीपवंस, 19/18-21
47. दीपवंस, 20/8, 11; 22/15-18; महावंस 21/4-7
48. महावंस, 20/9; 36/9, दीपवंस, 15/41, 59
49. दीपवंस, 15/59; 16/24; 20/5-6
50. दीपवंस, 13/21
51. महावंस, 36/8
52. महावंस, 19/82; 20/21
53. दीपवंस, 20/34
54. दीपवंस, 15/27; महावंस, 36/12
55. दीपवंस, 19/14; 20/15; महावंस 30/57-59
56. दीपवंस, 20/12; 22/25
57. महावंस, 30/57-59; दीपवंस, 21/30-35; 22/36-39, 48, 61
58. दीपवंस, 22/38, 41, 55, 56
59. महावंस, 30/72
60. महावंस, 15/29, 36-39; 16/15, 16
61. महावंस, 15/36, 38, 84, 118, 153; 16/16
62. महावंस, 36/15-17
63. महावंस, 30/78-88
64. महावंस, 5/93
65. महावंस, 27/30, 37
66. महावंस, 28/37
67. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० 113
68. महावंस, 27/30; 30/65
69. महावंस, 11/13; 30/65
70. महावंस, 27/37

4

उड़ीसा में जैन धर्म का प्रचार

विश्वनाथ वर्मा

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के ज्ञान के साधन स्वरूप यहाँ की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। इन धार्मिक परम्पराओं में मूलतः ब्राह्मण, जैन, एवं बौद्ध परम्परायें प्रमुख हैं। जिनके अनुयायियों ने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की जटिलताओं को सुगम बनाने के लिए अपने-अपने साहित्य में सच्चे आचारों एवं विचारों का प्रतिपादन किया है। यही प्राचीन परम्पराएं हमारे अतीत की थाती हैं। भारतीय जन-जीवन की भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति के साधन स्वरूप इन धार्मिक परम्पराओं का ऐतिहासिक अध्ययन भी आवश्यक है। जैन परम्पराओं का सृजन अति प्राचीन रहा है। बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय में निर्ग्रन्थ धर्म के चातुर्याम का उल्लेख है। इस चातुर्याम धर्म का उपदेश महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ ने ही दिया था। महावीर स्वामी ने इसी धर्म का अनुकरण किया था और इन चातुर्यामों अर्थात् सत्य, अहिंसा, अचौर्य एवं अपरिग्रह में एक और व्रत अर्थात् ब्रह्मचर्य जोड़कर इस धर्म के अन्तर्गत पांच महाव्रतों के पालन का उपदेश दिया। वैदिक काल में उल्लिखित व्रात्य श्रमण धर्म के प्रारम्भिक रूप थे और जैन धर्म के अनुरूप आचरण करते थे। स्पष्टतः महावीर द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म एवं जैन आचारावली का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल से ही हो गया था, जो वैदिक धर्म के विरोधी ऋषभदेव द्वारा चलाये हुए यति धर्म अथवा मुनिधर्म के रूप में उदित होकर एक के बाद एक करके चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के काल तक उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय अथवा जैन धर्म के रूप में सामने आया। 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति 'जिनन्' अराधना से हुई। 'जिन्' शब्द का अर्थ 'जेता' होता है जिसे अर्हत् अर्थात् तीर्थंकर कहा जाता है।

उत्तर भारत के काशी एवं बिहार से उद्भूत यह धर्म धीरे- धीरे सम्पूर्ण उत्तर एवं दक्षिण भारत में फैल गया। मौर्यकाल में भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण भारत की ओर श्रमणों के एक वर्ग के प्रस्थान कर जाने के बाद उत्तर भारत में वाराणसी एवं मथुरा से होते हुए राजस्थान एवं तदनन्तर गुजरात आदि प्रदेशों तक के भूभागों में तथा बिहार एवं बंगाल के मध्य से होते हुए उड़ीसा एवंत मिल देशों तक दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार हुआ। उत्तर एवं दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नगरों में इस धर्म के प्रचार के लिये राजाओं, महाराजाओं एवं धनिक वर्ग के लोगों ने जैन श्रमणों को अनेक दान दिये, चैत्यों एवं मठों का निर्माण कराया तथा जैन तीर्थंकर की मूर्तियों एवं मंदिर निर्मित कराये।[1]

अत्यन्त प्राचीन काल से ही हम उड़ीसा को भी जैन धर्म के प्रचार का केन्द्र पाते हैं। संभवतः यह धर्म बिहार एवं बंगाल से होते हुए उड़ीसा में प्रविष्ट हुआ होगा। जैन आगम धर्म कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने जैन धर्म के प्रचार के निमित्त बंगाल के पणिय भूमि में अपना एक वर्ष व्यतीत किया था। आवश्यक निर्युक्ति[2] में उल्लेख मिलता है कि महावीर स्वामी ने तोसलि एवं मौसली नामक स्थानों की यात्रा की थी। तोसलि की पहचान आधुनिक उड़ीसा में कटक के समीप स्थिति भू-भाग से की जाती है।[3] इसका समर्थन आचारांगसूत्र[4] से होता है जिसके अनुसार भगवान महावीर स्वामी ने पश्चिमी बंगाल एवं दक्षिणी बंगाल वाले भू-भागों तक जाकर अपने धर्म का उपदेश दिया था। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से उड़ीसा में जैन धर्म का प्रवेश राजा नन्दवर्धन के समय में ही हो गया था।[5] व्यवहार भाष्य[6] से पता चलता है कि उड़ीसा में तोसलिक नरेश ने जिन् मूर्ति सुरक्षित रखी थी। स्पष्टतया उड़ीसा में जैन धर्म का प्रचार कार्य महावीर स्वामी के काल से ही प्रारम्भ हो गया था। डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने इस सम्बन्ध में कलिंग शासक खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख की 14वीं पंक्ति के आधार पर बताया है कि महावीर स्वामी ने स्वयं कलिंग में कुमारी नामक पहाड़ी पर जैन धर्म का उपदेश दिया था।[7]

ऐतिहासिक दृष्टि से मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद ही कलिंग एक महत्वपूर्ण राजनीतिक इकाई के रूप में उदित हुआ, इसका प्रमाण हाथीगुम्फा

लेख है। इस लेख से ज्ञात होता है कि कलिंग की जिस जिन् मूर्ति कोक नन्दराजा तिवससत पूर्व कलिंग से मगध ले गया था, उसे खारवेल पुनः अपने देश ले आया। यह अभिलेख अर्हतों एवं सिद्धों के नमस्कार से प्रारम्भ होता है इससे वहाँ अर्हतों के स्मारक अवशेषों का भी पता चलता है।[8] इस लेख से स्पष्ट होता कि नन्दराजा द्वारा मगध ले जाने वाली जिन् प्रतिमा लगभग चौथी शताब्दी ई०पू० में निर्मित हुई होगी। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से पता चलता है कि उसने अपनी पत्नी के साथ कुमारी (उदयगिरि) स्थित अर्हतों के अवशेषों पर जैन साधुओं को निवास करने की सुविधा प्रदान की और अनेक स्तम्भों एवं मन्दिरों का निर्माण करवाया।[9] इसके अतिरिक्त इन्हीं पहाड़ियों पर स्थित अनन्तगुम्फा, रानीगुम्फा, एवं गणेशगुम्फा, लगभग 150 ई० पू० से 50 ई० पू० के मध्य निर्मित की गयी थी। अनन्तगुम्फा के प्रत्येक प्रवेशद्वार पर तीन फणों से युक्त दो सर्पों का चित्रण सम्भवतः जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से सम्बद्ध होने का सूचक है। इसी प्रकार रानीगुम्फा एवं गणेशगुम्फाओं में उत्कीर्ण चित्रों को भी पार्श्वनाथ से सम्बन्धित किया जा सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में डॉ० वी० यस० अग्रवाल ने इन दोनों दृश्यों की पहचान वासवदत्ता एवं शकुन्तला के जीवन दृश्यों से की है।[10]

सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग के विवरणों से ज्ञात होता है कि उस समय कलिंग में जैन धर्म प्रचलित था।[11] इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में जैन धर्म के केन्द्र के रूप में पुरिय या पुरी का भी उल्लेख मिलता है। पुरी जिले में स्थित यह क्षेत्र जीवंत स्वामी की प्रतिमा के लिए विख्यात था जहाँ अनेक जैन श्रावक भी रहते थे।[12] आवश्यक निर्युक्ति एवं आवश्यक चूर्णी से ज्ञात होता है कि जब वैर स्वामी पुरी पधारे थे, उस समय यहाँ का शासक बौद्ध धर्म का अनुयायी था।[13] किन्तु छठी-सातवीं शताब्दी के बाणसुर लेख से ज्ञात होता है कि उसकी रानी कल्याण देवी ने धार्मिक कार्य के लिए जैन श्रमणों को भूमिदान दी थी।[14]

नौवीं-दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक उद्योत केसरी के अतिरिक्त अन्य शासकों से संरक्षण न मिलने पर भी उदयगिरि एवं खण्डगिरि की गुफाओं में लोकप्रिय बना रहा। इसकी पुष्टि उड़ीसा के अन्य स्थानों से प्राप्त होने वाली जैन मूर्तियों से होती है। ललाटेन्दु या सिन्धु राजा गुम्फा लेख से पता

चलता है कि उद्योत केसरी ने अपने शासन के पांचवें वर्ष में प्रसिद्ध कुमार पर्वत पर नष्ट तालाबों एवं मन्दिरों का पुननिर्माण करवाकर चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां प्रतिष्ठित करवायीं थीं।[15] उदार सोमस्वामी शासकों के काल में भी मुक्तेश्वर मन्दिर की चहारदीवारी के बाहरी रथिकाओं में तीर्थंकर मूर्तियां उत्कीर्ण की गयीं। जैन धर्म के महान संरक्षक राष्ट्रकूट शासकों के प्रभाव क्षेत्र में आने के फलस्वरूप संभवतः उड़ीसा में जैन निर्माण को काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

जैन धर्म प्रारम्भ से ही व्यापार-वाणिज्य को प्रोत्साहित करने वाला रहा जिसकी पुष्टि साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त मथुरा के शुंग एवं कुषाण कालीन जैन अभिलेखों से भी होता है। निशीथचूर्णी में पुरिम (पुरिय अर्थात् पुरी) का उल्लेख एक व्यापारिक केन्द्र के रूप में प्राप्त होता है जिसे जपट्टण कहा गया है कि जहाँ से जल मार्गों द्वारा सामग्रियां ले जायीं जाती थीं।[17] जैन ग्रन्थों में उड़ीसा में स्थिात कांचनपुर का उल्लेख है जो व्यापार-वाणिज्य का एक प्रमुख केन्द्र था। जहाँ से लंका का व्यापार होता था। अतः स्पष्ट है कि उड़ीसा जैन श्रावकों का भी केन्द्र रहा होगा। इसी प्रकार उड़ीसा में जैन धर्म के प्रचार प्रमाण स्वरूप उदयगिरि एवं खण्डगिरि की गुफाओं के अतिरिक्त जयपुर, नन्दनपुर और कारपत जिले के भैरव सिंहपुर जैसे स्थलों से भी जैन मूर्तियां प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त मयूरभंज, बलसार, कटक आदि जिलों के विभिन्न स्थलों से भी जैन मूर्तियां प्राप्त होती हैं। कटक जिले के जजपुर स्थित अखण्डलेश्वर मन्दिर एवं मैत्रक मन्दिर के समूहों में भी जैन मूर्तियां सुरक्षित हैं जिससे पता चलता है कि उड़ीसा के अन्य अनेक स्थानों पर जैन धर्म काफी लोकप्रिय हो गया था।

उड़ीसा में दिगम्बर सम्प्रदाय काफी लोकप्रिय रहा। जिसकी पुष्टि उड़ीसा के विभिन्न स्थानों से प्राप्त तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियों से होती है। यहाँ पर पार्श्वनाथ, ऋषभनाथ, तथा महावीर स्वामी की ही प्रतिमाएं मुख्य रूप से प्राप्त होती हैं। इनमें भी सबसे अधिक लोकप्रिय प्रतिमा पार्श्वनाथ की है। अतः हम कह सकते हैं कि उड़ीसा में जैन धर्म पार्श्वनाथ के काल से लेकर आठवीं-बारहवीं शताब्दी तक लोकप्रिय रहा।

भारतीय धर्म ने समाज और कुटुम्ब की एकता की प्रत्यक्ष योजनाएं प्रस्तुत की हैं। सारे भारत की राष्ट्रीय एकता अप्रत्यक्ष रूप से धर्म ने संभव की है। भारत वासियों के लिए भारत के कोने-कोने में तीर्थ स्थान, पुण्यप्रद नदियां और धार्मिक क्षेत्रों की योजना देश की एकता के लिए हुई।

सन्दर्भ

1. कल्पसूत्र, पृ० 264
2. आवश्यक निर्युक्ति, पंक्ति 501।
3. जगदीश चन्द्र जैन- जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृष्ठ 343
4. आचारांगसूत्र, पृष्ठ 85
5. जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग - 3, पृ० 448
6. व्यवहार भाष्य, 6, 115
7. जैन जर्नल, भाग - 3, पार्ट, 4, पृष्ठ 168
8. आर्किआलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, भाग 51, कलकत्त 1931, पृष्ठ 268
9. यू० पी० शाह - स्टडीज इन जैन आर्ट, वाराणसी, पृ० 6
10. वही, पृ० 7-8
11. जैन जर्नल भाग 3, पार्ट 4, पृ० 171
12. जगदीश चन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 325
13. वही, पृ० 325
14. जैन मार्शल भाग 3, पार्ट 4, पृ० 171
15. वही, पृ० 171
16. वही, पृ० 171-172
17. जगदीश चन्द्र जैन - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० 325
18. वही, पृ० 252

5

बौद्ध धर्म एवं दलित चेतना

रमेन्द्र कुमार मिश्र

ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से क्रान्ति अथवा महान् परिवर्तन का काल माना जाता है। इस समय परम्परागत वैदिक धर्म एवं समाज में व्याप्त कुप्रथाओं एवं कुरीतियों के विरूद्ध एक सकारात्मक प्रतिक्रिया हुई, जिसमें कतिपय नवीन विचार धाराओं को जन्म दिया। जैन एवं बौद्ध धर्म का अभ्युदय एवं उत्थान तत्कालीन मूल्यों एवं मान्यताओं की प्रतिक्रिया के सन्दर्भ में ही देखा जाना चाहिये। यह प्रतिक्रिया कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, वरन् यह चिर काल से संचित हो रहे असंतोष एवं कुण्ठा की ही चरम परिणति थी। इस युग में उत्पन्न सभी विचारधाराओं में केवल एक ही भारतीय संस्कृति के कलेवर में अधिक गहराई तक समा सकी और वह थी बौद्ध की संचेतना।

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध के विषय में बार्थ महोदय का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि बुद्ध का व्यक्तित्व शान्ति और माधुर्य का सम्पूर्ण आदर्श है। वह अत्यन्त कोमलता, नैतिक स्वतंत्रता की साक्षात मूर्ति है।[1] तथागत का व्यक्तित्व अलौकिक एवं दिव्य था। उनके व्यक्तित्व की प्रतिभा के प्रकाश से अत्यन्त क्रूरकर्मी पापियों का भी हृदय परिवर्तित हुआ। बुद्ध का अथाह हृदय मानव प्रेम एवं करुणा से ओत प्रोत था। प्राणियों के विविध दु:खों एवं कष्टों को देखकर उनका हृदय करायह उठता था। दूसरों के दु:खों से दु:खी होना उनकी विशेषता थी। उनकी यही संवेदनाशीलता ही वह मूल बिन्दु है जिसने उनके भावी लक्ष्य का निर्धारण किया। इन्हीं दु:खों के निराकरण के अन्वेषण में उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित कर दिया और अन्ततः

मानव दुःखों के आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग अन्वेषित कर ही लिया।[2] त्याग और तपस्या, दमन और शमन, शान्ति और अहिंसा का एकत्र संयोग वास्तव में तथागत के व्यक्तित्व की अनुपम विशिष्टता है।

प्रायः सभी धर्म उदारता, दया एवं व्यापकता का स्पृहणीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वैदिक धर्म में ही इन तत्वों को धर्म के मूल उपादान के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु वह भी स्पष्टतः सभी मनुष्यों को समान अधिकार नहीं प्रदान करता। यदि कहीं कुछ इस प्रकार का उल्लेख देश, काल एवं परिस्थिति के संदर्भ में उपलब्ध भी है तो वह सैद्धान्तिक धरातल पर ही दृष्टिगत होता है, व्यवहारिक धरातल पर उसका साकार रूप पृथक ही रहा है। वस्तुतः सभी मनुष्यों को समान अधिकार देने की सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक बात बौद्ध धर्म में ही प्राप्त है। तथागत ने स्पष्टतः घोषित किया कि न कोई श्रेष्ठ है और न कोई नीच अपने कर्मो के अनुसार ही मनुष्य लघुता या गुरुता प्राप्त करता है।[3] धर्म पर सबका समान अधिकार है।

प्राचीन भारतीय समाज का मूल्यांकन वर्ण एवं जाति के सम्प्रत्ययों की व्याख्या के बिना हो ही नहीं सकता। ऋग्वेद के दशम् मण्डल में समाज के प्रमुख वर्गों के लिए सर्व प्रथम वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] किन्तु ऋग्वैदिक कालीन समाज में जातिगत चेतना के अस्तित्व का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। वर्णों का निर्धारण कर्म पर ही आधृत था। किन्तु उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना हो गयी थी। इसमें शूद्र वर्ण का नाम नहीं लिया गया, किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य को श्रेष्ठ योनि बताया गया और चाण्डाल को श्वान एवं शूकर आदि की श्रेणी में सूचीबद्ध कर दिया गया। इससे ध्वनित होता है कि उत्तर वैदिक काल, विशेषकर उपनिषद् युग तक आते-आते चाण्डाल, पौल्कस, किरात आदि का आगणन शूद्र अथवा दलित के रूप में होने लगा था। यद्यपि वैदिक वर्ण व्यवस्था का अंग शूद्र भी था किन्तु परवर्ती काल में उसे उच्चतर स्थान प्रदान करने की अपेक्षा अधोगति में पहुंचाकर विभेदक हथियार को और अधिक धारदार बना दिया गया और शूद्रों एवं चाण्डालों को अन्त्यजों के रक्त मिश्रण के कारण उसी की निम्न समानता में स्थान दिया जाने लगा।

त्रिपिटक में प्राप्त बुद्ध वचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के समकालीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म माना जाता था। इसीलिए तथागत ने इसका घोर विरोध किया। उन्होंने जिस सामाजिक पुनरूत्थान का श्रीगणेश किया और उसे आन्दोलन का स्वरूप किया, वह निःसन्देह बहुजन हिताय था। उनके द्वारा उपदेशित निर्वाण की अवधारणा वर्णगत न होकर सर्वगत थी। इस तथ्य की प्रतिष्ठापना करते हुए तथागत ने सामाजिक जीवन में समानता के सिद्धान्त को मुखरित किया। भगवान बुद्ध की समानता की यह अवधारणा सर्वथा नवीन एवं तत्कालीन वंशानुगत वर्ण व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल थी। तत्कालीन समाज जिन रूढ़ियों से ग्रस्त एवं त्रस्त था, उन पर तथागत ने अपने व्यवहारिक एवं सैद्धान्तिक उपदेशों से प्राणान्तक प्रहार किया। वर्ण व्यवस्था के संबंध में उन्होंने स्पष्टतः यह कहा कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कुलों में पैदा होने मात्र से ही कोई ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नहीं बन सकता। उन्होंने बड़ी सहजता के साथ ब्राह्मण को परिभाषित करते हुए कहा कि 'ब्राह्मण वह है जो पाप से मुक्त हो, मिथ्याभिगामी न हो, समुज्ज्वल चरित्रवाला हो, संयमी हो, वेदान्त का ज्ञाता हो, ब्रह्मचर्यव्रती हो, ब्रह्मवादी, समदर्शी, समत्ववादी एवं अद्वितीय हो।[5] तथागत की इस परिभाषा में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का वर्चस्व व्यवहारिक धरातल पर साकार हुआ है, क्योंकि उन्होंने अपनी देशना में जन्मना ब्राह्मणत्व की परम्परा को सिद्धान्त एवं व्यवहार की परिधि से बाहर कर दिया। स्पष्ट है कि तथागत की वर्ण व्यवस्था आचरणाधृत थी न कि जन्मनाधृत और उनका यही विचार उन्हें सामाजिक क्रान्तिकारी के रूप में स्थापित करता है। उनके इस क्रान्तिकारी व्यवस्था की पृष्ठभूमि में प्रतिपादित 'मध्यम प्रतिपदा' सिद्धान्त के दर्पण में झांकने पर यह चित्र प्रतिबिम्बित होता है कि तथागत की दृष्टि से पशुबलि, कर्मकाण्डपरक जड़ता, अनुष्ठान एवं यज्ञ विभेदपरक समाज, सामाजिक अव्यवस्था तथा अन्याय के जनक ही नहीं अपितु शोषण की अविच्छिन्न प्रक्रिया के प्रेरक तत्व भी थे।'

बौद्धधर्म का कर्म सिद्धान्त बौद्धधर्म दर्शन का सार एवं मूल तत्व है। बुद्ध ने सभी प्रकार की सुख समृद्धि के लिए कर्म के महत्व को प्रतिपादित किया। चूलकम्मविभंगसुत्त[6] में उन्होंने कर्म को ही सबकुछ – दायाद, योनि,

बन्धु और प्रतिशरण माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कर्म के अनुसार व्यक्ति का मूल्यांकन अथवा जाति-वर्ग के निर्धारण की यह धारणा निश्चय ही जन्माधृत वर्ण भेद की ब्राह्मण-धारणा तथा वैदिक परम्परा के हिंसामय यज्ञों की विरोधी थी। साथ ही इसमें तत्कालीन भौतिक संस्कृति के स्पर्धापूर्ण वातावरण में एक विपन्न व्यक्ति को भी अपने कर्मों के माध्यम से सम्पन्न बनने की प्रेरणा थी।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत बोद्धिसत्व की अवधारणा भी समाज के सभी वर्गों के हितरक्षण एवं मुक्ति के सार्थक प्रयास का द्योतक है। बोधिसत्व की अवधारणा निम्न स्वार्थवाद एवं संकेन्द्रित आत्मकेन्द्रीयतावाद के निषेध का पर्याय है और यही महायान धर्म के भौतिक आदर्श का यथार्थ प्रतिबिम्बन करता है। वस्तुतः यह हीनयान धर्म के नैतिक आदर्श 'अर्हत' की अवधारणा से सर्वथा भिन्न है। महायान ने अपनी उदार प्रवृत्ति एवं प्रगतिशीलता के कारण हीनयान के स्वार्थवाद और आत्मकेन्द्रीयता का निषेध करते हुए हीनयान के आदर्श को भी अस्वीकार कर दिया। महायान ने अपनी उदारवृत्ति के कारण व्यक्तिगत निर्वाण को अपना अदर्श नहीं बनाया। उसने एक ऐसे आदर्श को स्वीकार किया जिसमें प्राणिमात्र की मुक्ति का सन्देश है। उसने निर्वाण के उस आदर्श पर बल दिया जिसमें स्वदुःख-निवृत्ति के साथ जीव मात्र की दुःख निवृत्ति का संकल्प दिखायी दे। महायान ने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लोगों के समक्ष बोधिसत्व का आदर्श रखा।

बोधिसत्व का शाब्दिक अर्थ है -

बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति।[7]

बोधौ ज्ञाने सत्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्वः।

बोधिसत्व वह महाप्राणी है जो सम्बोधि प्राप्त करता है। बोधिसत्व हीनयान के अरहत के समान केवल व्यक्तिगत कल्याण के लिए प्रयास नहीं करता वरन् समष्टिगत कल्याण के लिए प्रयास करता है। अर्हत स्वकष्टों से मुक्त होकर मुक्ति का एहसास करता है, किन्तु इस बात की चिन्ता कथमपि नहीं करता कि इस विशाल विश्व में करोड़ों प्राणि अनेकानेक क्लेशों में अपने अमूल्य जीवन को निरर्थक बिताते हैं। बोधिसत्व वह है जो सभी प्राणियों को

निर्वाण प्राप्त कराना चाहता है और सभी दुःखी प्राणियों के उद्धार में लगा रहता है। उसका सबसे बड़ा गुण महा करूणा है। बुद्ध वहीं प्राणी बन सकता है जिसमें प्रज्ञा एवं महाकरूणा का सामंजस्य हो। आर्यगयाशीर्ष[8] में एक प्रश्न के उत्तर में मंजुश्री बोधिसत्व के लिए महाकरूणा को परम आवश्यक तत्व बताता है।

आर्य धर्म संगीत के बोधिकारक धर्मों में महाकरुणा को इसीलिए सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। इस ग्रन्थ का कथन है कि बोधिसत्व को एक ही धर्म का स्वागत करना चाहिये और वह धर्म है - महाकरुणा। यह करुणा जिस मार्ग से जाती है, उसी मार्ग से अन्य समस्त बोधिकारक धर्म चलते हैं।[9] महाकरुणा ही बोधिसत्व को बुद्ध बनाने में प्रधान कारण होती है। वह विचार करता है कि जब उसे उसके एवं दूसरे के दुःख एवं भय समान रूप से अप्रिय हैं तो वह अपनी ही रक्षा क्यों करे और दूसरों की क्यों न करे। आचार्य शान्तिदेव का यह कथन नितान्त सत्य है–[10]

यदामम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत् तं रक्षामि नेतरम्।।

आचार्य शान्तिदेव का यह कथन तत्कालीन समाज के दबे–कुचले लोगों के मन एवं दबाये गये मान हेतु औषधि स्वरूप सिद्ध हुआ होगा। उन्होंने महसूस किया होगा कि उनको भी निर्वाण सुलभ हो सकता है, उन्हें भी अपने हित में सोचने का अधिकार है, वह मात्र दूसरों की सम्पत्ति नहीं है, अपितु चैतन्य प्राणी है जो सभी व्यक्तियों के समान जीवन के समस्त बुनियादी अधिकारों के हकदार हैं। यदि वैदिक काल से बुद्ध के युग तक की दीर्घ ऐतिहासिक परम्परा का सिंहावलोकन किया जाय तो इसके पूर्व बोधिसत्व की इस उदात्त अवधारणा की आवृत्ति दिखायी नहीं पड़ती।

शान्ति रक्षित के कथन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है कि बोधिसत्व के जीवन का उद्देश्य जगत का परम मंगल साधन होता है। उसका स्वार्थ इतना विस्तृत रहता है कि उसके स्व की परिधि के भीतर जगत के समस्त प्राणी आ जाते हैं। विश्व में पिपीलिका से लेकर हस्तीपर्यन्त जबतक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है तबतक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता। बोधिचर्यावतार में

बोधिसत्व की उद्‌घोषणा है कि - 'मैं यात्रियों के लिए सार्थवाह बनूंगा, पार जाने वालों के लिए नौका बनूंगा, प्रकाश चाहने वालों के लिए दीपक बनूंगा, दास चाहने वालों के लिए दास बनूंगा, अनाथों का नाथ बनूंगा इत्यादि।'

बोधिसत्व की यह अवधारणा उपनिषदों में वर्णित प्रबुद्ध, गीता के स्थितप्रज्ञ एवं पुरुषोत्तम तथा ईसाई धर्म के ईसामसीह की अवधारणा से तुलनीय है क्योंकि वह दुःख से पीड़ित मानव जाति को दुःखों से मुक्ति कराने में उनकी सहायता करता है। लोक-कल्याण ही बुद्धत्व का आवश्यक अंग है। महायान के अनुसार बोधिसत्व का जीवन करुणा तथा प्रज्ञा से संचालित होता है। जातक कथाओं में बार-बार कहा गया है कि बोधिसत्व ने लोक कल्याण हेतु पृथ्वी पर बार-बार जन्म लिया है।

महायान धर्म में बोधिसत्व के लिए परिवर्त का सिद्धान्त स्वीकार किया गया जिसमें बोधिसत्व अपने पुण्य कर्मों द्वारा दूसरों को दुःखमुक्त करता है और उनके पापमय कर्मों को स्वयं भोगता है। इससे स्पष्ट है कि बोधिसत्व अपने को तबतक मुक्त नही समझता जबतक संसार के अंतिम व्यक्ति की दुःख-निवृत्ति नहीं हो जाती है। इससे इस अवधारणा की स्थापना होती है कि प्राणीमात्र की दुःखनिवृत्ति के लिए प्रयासरत होना ही वास्तविक धर्म है। परिवर्त के इस सिद्धान्त ने बौद्ध धर्म के कर्म की अवधारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। इसने कर्म के नियम की कठोरता को, जिसमें व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में अपने किये हुए कर्मों के फल को अवरुद्ध नहीं कर सकता, शिथिल कर दिया। इस नवीनता ने अपने पुण्यों को दूसरों को देने तथा दूसरों के पापों को स्वयं लेने के सिद्धान्त ने बौद्ध धर्म में एक विशेष आकर्षण पैदा किया। शताब्दियों से धार्मिक एवं सामाजिक प्रतिबन्धों से पीड़ित दलित समाज ने इसे अपनी मुक्ति के एक स्वर्णिम अवसर के रूप में ग्रहण किया होगा।

भौतिक दृष्टि से गंगाघाटी में पूर्ण विकसित द्वितीय नगरीय क्रान्ति के उदय के बाद वह युग था जिसमें भगवान बुद्ध द्वारा भिक्षु-भिक्षुणियों तथा जन साधारण के लिए दी गयी देशना के परिप्रेक्ष्य में इस सामान्य धारणा का आविर्भाव हुआ कि उनके द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म करुणामिश्रित प्रेम पर

आधृत, कर्मनिष्ठ, नैतिक एवं जातिविहीन समाज का प्रबल पोषक था। अनेक विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि बुद्ध वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने सामाजिक मानव सम्बन्धों पर प्रभावोत्पादक व्यवहारिक विचार व्यक्त किया। उनके विचार पूर्णतः क्रान्तिकारी एवं शक्तिशाली थे।[12] उन्होंने जाति व्यवस्था की भर्त्सना की, मानव में समानता को स्वीकार किया और व्यक्ति को आर्थिक कल्याण एवं नैतिक विकास का संज्ञान कराया।[13] डॉ० बी० आर० अम्बेडकर ने बुद्ध को जाति, असमानता एवं श्रेष्ठता के मानदण्डों पर आधारित समाज के विरुद्ध आवाज उठाने वाला घोषित किया है।[14] पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी गौतम बुद्ध को सामाजिक क्रान्तिकारी की संज्ञा से अभिहित किया है।[15] इसके विपरीत अनेक विद्वान बुद्ध को समाज सुधारक मानने से परहेज करते हैं।[16] फिक जैसे विद्वान का कहना है कि बुद्ध के अथक प्रयास के बावजूद भारतीय समाज उनकी मृत्यु के बाद तक मूलतः अपरिवर्तित रहा। जातिय गौरव एवं जाति व्यवस्था की अनेक विशिष्टताओं की प्रतिध्वनि सामाजिक यथार्थ के रूप में जातक कथाओं से आती है।[17] बी० पी० सिन्हा के अनुसार गौतम बुद्ध अपने धार्मिक विचारों एवं विश्वासों को प्रधानतया प्रचारित करने तक सम्बद्ध थे।[18] आर० एस० शर्मा[19] ने तत्कालीन सामाजार्थिक तथ्यों की परिधि में यह कहने का प्रयास किया है कि सामाजिक असमानता, शोषण एवं दासता के तत्व उत्पादन के प्रारम्भिक समय से ही प्रच्छन्न रूप से व्याप्त थे। ये अपने संरक्षक के हित-साधन के स्रोत थे और प्रारम्भिक बौद्ध धर्म इसे दमित नहीं कर सका।

किन्तु बौद्ध साहित्य के सम्यक् अनुशीलन से उपर्युक्त मत बौद्ध धर्म के एकांगी पक्ष का अनुशीलन करते प्रतीत होते हैं। वास्तव में बुद्ध ने अपने उपदेशों एवं क्रियाओं के माध्यम से जातीय श्रेष्ठता, सामाजिक असमानता दमन एवं शोषण के विरुद्ध जन चेतना जागृत करने का सफल प्रयास किया। वे समानता एवं बन्धुत्व भाव के प्रबल अधिवक्ता थे। उनके द्वारा जातीय एवं सामाजिक बन्धनों से परे जाकर बौद्ध-संघ की स्थापना में इसी उदात्त भाव के दर्शन किये जा सकते हैं। उन्होंने संघ में सभी जाति एवं वर्ण के सदस्यों को समान रूप से स्थान प्रदान किया। सारिपुत्र जैसे ब्राह्मण, आनन्द जैसे क्षत्रियों, उपालि एवं सुनीति जैसे दलितों को समान रूप से संघ की सदस्यता प्रदान

करना निश्चित रूप से एक क्रान्तिकारी कदम था। धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों में उच्च वर्णों के समान सहभागिता की व्यवस्था ने सामाजार्थिक जड़ता को तोड़ते हुए एक नवीन गतिशीलता की स्थिति को उत्पन्न किया। ऐसी स्थिति में समाज का दलित वर्ग यदि अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

संदर्भ

1. बार्थ ए० रिलिजन ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1969, पृ० 118
2. उपाध्याय, बलदेव, बौद्धधर्म दर्शनमीमांसा, पृ० 371
3. दीघनिकाय अगञ्ञसुत्त।
4. ऋग्वेद 10. 90.12
5. विनयपिटक, महावग्गकथा - 2, पृ० 76
6. चूलकम्मविभंगसुत्त - पृ० 36
7. बोधिचर्यावतार पंजिका - पृ० 421
8. उपर्युक्त, पृ० 468
9. उपर्युक्त, पृ० 485
10. शिक्षा समुच्चय, पृ० 2
11. बोधिचर्यावतार पंजिका - 1/31
    कृते यः प्रतिकुर्वीत सोऽपि तावत् प्रशस्यते।
    अव्यापारित साधुस्तु बोधिसत्वः किमुच्यताम्।।
12. रिनपोचे एस०, सोसल एण्ड पोलिटिकल स्टेट इन बुद्धिस्ट थॉट, महाबोधि भाग - 82, 1974
13. ओम प्रकाश, कन्सेप्युलाइजेशन एण्ड हिस्ट्री, 1992, इलाहाबाद, पृ० 105
14. अम्बेडकर, बी० आर०, द बुद्ध एण्ड हिज धम्म, बाम्बे, 1957, पृ० 30-306
15. नेहरू, जवाहरलाल, डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ० 41
16. ओल्डेन वर्ग, एच० एंशियेन्ट इण्डिया, शिकागो, 1898, पृ० 153
17. फिक, आर० द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, वाराणसी, 1972, पृ० 333
18. सिनहा, बी० पी० दि अर्ली बुद्धिज्म एजः ए कैरेटर ऑफ सोशल चेन्जेज 'इन स्टडीज इन रिलिजन एण्ड चेंज (एडिटेड) मधुसेन - पृ० 82
19. शर्मा आर० एस० मेटेरियल बैकग्राउण्ड ऑफ ओरिजन ऑफ बुद्धिज्म पृ० 63, एवं 66

6
जैनाचार्यों की प्रेरणा से जीवों के कल्याण हेतु अकबर द्वारा जारी फरमान

सतीशचन्द यादव

मुगल शासन काल में 'नसीर अल-दीन हुमायूं' (1530-1556) का पुत्र 'जलाल अल-दीन मुहम्मद अकबर' (1556-1605) अपने राजनैतिक एवं धार्मिक कृत्यों से इतिहास में सर्वोपरि है।

साहित्यिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि एक दिन बादशाह अकबर राजमहल में बैठकर अपने मंत्रियों से विचार-विमर्श कर रहा था कि उसी समय आचार्य श्री हीरविजयसूरिजी की जय हो.........का नारा लगाता हुआ एक भव्य जुलूस निकला। अकबर ने आश्चर्य से टोडरमल से इस बारे में पूछा तो उसे जवाब मिला कि उक्त जूलूस जैन धर्म से सम्बन्धित है जिसमें 'चम्पा' नामक श्राविका सुन्दर वस्त्र धारण कर पालकी में सवार होकर भगवान तीर्थंकर के दर्शन हेतु मंदिर जा रही हैं। वह विगत 6 महीनें से उपवास पर हैं जिसनें गर्म जल पीनें के सिवाय कुछ भी नहीं लिया है, वह भी दिन में केवल 5 बार ही।

टेडरमल की बात सुनकर बादशाह घबरा गया तथा मंत्रियों को आदेश दिया कि पालकी को दरबार में पेश किया जाये। बादशाह की आज्ञा से जैन समुदाय भी भयभीत हो गया। तत्पश्चात् पालकी सहित श्राविका को दरबार में लाया गया। उक्त श्राविका से अकबर ने पूछा कि - तुम इतनी कठोर तपस्या क्यों कर रही हो, तत्पश्चात् श्राविका ने सहर्ष उत्तर दिया कि आत्म कल्याण के लिए व आत्मज्ञानी प० पू० आचार्य श्री हीरविजयसूरिजी म० सा० के अनुग्रह

के लिए। बस इतनी सी बात सुनकर अकबर के मन में तपागच्छादिपति पू० आचार्य श्री के दर्शन की जिज्ञासा उत्पन्न हो उठी।[1]

कालान्तर में अकबर ने गुजरात के तत्कालीन सूबेदार मो० एतमाद खां से पूछताछ कर[2] दो मेवडाओं,[3] (यथा – मोदी व कमाल) को सूबेदार मो० साहब खां के पास अहमदाबाद भेजा। इसने अहमदाबाद के प्रसिद्ध जैन अनुयायियों की सभाकर पू० आचार्य श्री हीरविजयसूरिजी म० सा० के पास अकबर के बुलावा का प्रस्ताव भेजवाया। गुरुदेव[4] ने भी जाने की स्वीकृति प्रदान कर अपने विभिन्न शिष्यों, यथा – पू० मुनिवरश्री सैद्धान्तिक शिरोमणिजी म० सा०, श्री विमलमर्षगणि शतावधानीजी म० सा०, श्री शान्तिचन्द्रगणिजी म० सा०, प० सहजसागरगणिजी म० सा०, पं० सिंहविमलगणिजी म० सा० प० हेमविजयगणिजी म० सा०, व्याकरण चूणामणिजी म० सा०, पं० लाभविजयगणिजी म० सा० आदि तेरह संतों के साथ विहार कर ज्येष्ठ सुदी तेरस संवत 1639 (सन 1585 ई०) को फतेहपुर सीकरी पहुंचे।

तत्पश्चात् सूरिजी म० सा० को अकबर ने पूर्व अबुलफजल से आध्यात्मिक विषय पर चर्चा करने हेतु बैठाया गया। कालान्तर में बादशाह ने गुरुदेव श्री को दरबार में सहर्ष आने का आग्रह भेजवाया। सूरिजी का आना देख अकबर ने सिर झुकाकर विनम्रता पूर्वक अभिवादन किया। दरबार में पहुंचने वाले रास्ते में पूर्व से ही कालीन आदि बिछवाया गया था ताकि दूरस्थ क्षेत्रों से पगपग पधारे गुरुदेव के पांव में कोई तकलीफ न हो। किन्तु ऐसे आरामदेय बिछावन पर चलने के लिए आप ने साफ इंकार कर दिया। बादशाह द्वारा कारण पूछने पर पू० सूरिजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जैन साधु भगवन्त कालीन के ऊपर नहीं चलते। सम्भवतः इसके नीचे कोई चींटी आदि सूक्ष्म जीव होगा तो मेरे भार से उसकी मृत्यु हो जायेगी। मनुस्मृति में अहिंसावादियों के लिए वस्त्राच्छादित जगह पर पांव न रखने का वर्णन प्राप्त है।[5]

बादशाह ने सूरिजी की जीवों के प्रति ऐसी दया/करुणा आदि देखकर आश्चर्यचकित रह गया। मन में विचार करते हुए उक्त कालीन को एक साईड से थोड़ा सा ही उठवाया कि अचानक चीटियों का झुण्ड दिखाई दिया। इन्हें देखते ही बादशाह घोर आश्चर्य में पड़ गया। पाश्चातायोंपरान्त पुनः स्वर्णमयी

कुर्सी पर बैठने का आग्रह किया तो सूरिजी ने इसें भी इंकार कर दिया।[6] इतने में गुरुदेव ने स्वयं ऊनी-वस्त्र बिछाकर जमीन पर ही आसन ग्रहण कर लिया। अकबर भी साथ ही जमीन पर आसीन हुआ और धर्मोपदेश पर चर्चायें प्रारम्भ हुईं। सूरिजी ने उक्त प्रश्नों का दृढ़ता से खंडन किया।[7] कालान्तर में अकबर ऐसे जिन शासन का धर्मलाभ पाकर धन्य हो गया और अपार धन, हाथी, घोड़ा व रथ आदि देने की उत्सुकता व्यक्त की। परन्तु आप ने लेने से साफ इंकार कर दिया। दूसरे वर्ष पू० गुरुवर श्री का चातुर्मास प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी आगरा में होना निश्चय हुआ। आप सहर्ष शिष्यों के साथ यहाँ पधारे। आप की अनुमति लेकर आगरा के श्रावक-मंडल ने पर्यूषण काल में जीव हिंसा बन्द करवाने बाबत् बादशाह के पास पहुंच गये। बादशाह ने उक्त तथ्य को सहर्ष स्वीकार कर आठ दिनों तक हिंसा बंद का फरमान निकलवाया।[8] हीर सौभाग्य संकलन आदि जैन ग्रन्थों में इसकी विस्तृत विवेचना की गयी है।

तत्पश्चात् 1582 ई० का चातुर्मास पूर्ण होने पर बादशाह ने स्वयं जाकर जनहित कल्याणार्थ हेतु सेवा याचना की गुहार लगायी। ऐसा अवसर प्रायः कम मिलता, अतः म० सा० ने शुभ मुहूर्त का अवलोकन कर कई महीनों से कारागार में बंद पक्षियों को मुक्त करने का अनुरोध किया। अकबर ने इसको भी सहर्ष स्वीकार कर लिया।[9] इसका विस्तृत वर्णन 'गुर्जर काव्य संचय' में उपलब्ध है। कालान्तर में पू० सूरिजी ने अवसर पाकर पर्यूषण के आठ दिनों में भारत के सम्पूर्ण राज्यों में जीव हिंसा बन्द करने का फरमान जारी करने का आध्यात्मिक उपदेश दिया, जिसमें अकबर भी मौजूद था। अतः बादशाह ने **सर्व धर्म कल्याण** हेतु चार दिन और जोड़कर (भादवा वदी दशमीं से सुदी छठीं तक) कुल बारह दिनों के लिए '**जैनाचार्यों की प्रेरणा से जीवों के कल्याण हेतु एक विस्तृत फरमान**' जारी करने का आदेश दिया।[10] अति शीघ्रता से आदेश का पालन किया गया। जैन साहित्यों से ज्ञात होता है कि उक्त फरमान की कुल - 06 नकलें जारी की गयीं जो क्रमशः गुजरात व सौराष्ट्र, दिल्ली व फतेहपुर, अजमेर व नागौरी, मालवा व दक्षिणी देश, लाहौर व मुल्तान प्रदेश तथा पू० आचार्य श्री हीरसूरिजी म० सा०[11] आदि को सौपी गयीं।

उक्त फरमान के साथ अकबर ने अनुरोध करते हुए कहा कि..... ...पू० सूरिजी मेरे अनुचर मांसाहार व मद्यपान के अति प्रेमी हैं, उन्हें जीव हिंसा की बात एकदम रुचिकर नहीं लगती, अतः ये व्यसन मुझे धीरे-धीरे बंद कराने की अनुमति प्रदान करें। अब पूर्व की भांति मैं भी शिकार नहीं करूंगा, आप के अनुरोध का पूर्णतः पालन करूंगा, साथ ही दरबार में ऐसा प्रबन्ध करूंगा कि किसी भी जीव/प्राणीमात्र को किसी तरह की कोई तकलीफ न हो।

कालान्तर में **अकबर ने पू० सूरिजी को जैन गुरु ही नहीं अपितु 'जगद्गुरु' के पद से नवाजा।** साथ ही दरबार में ही रहने का आग्रह किया। परन्तु योगी, संन्यासी, सन्त और जैन गुरु भगवन्त किसी एक स्थान नहीं अपितु भ्रमण कर समाज को आध्यात्मिक दृष्टि देकर व्याप्त कुरीतियों को दूर करने के लिए प्रयासरत रहते हैं। समयोपरान्त गुरुदेव ने शिष्यों के साथ **अहमदाबाद (गुजरात) के लिए विहार** किया।

पुनः 1640 ई० में मुगल शासकों के आग्रह पर स्वामी जी ने फतेहपुर सीकरी में चातुर्मास किया। इनके धर्मोपदेशों के माध्यम से श्रावक मंडल/जनता को सचेत किया गया कि पर्यूषण पर्व से ही सारे राज्य में अहिंसा का पालन किया जाये। जिसको हजारों लोगों ने एक मत से स्वीकार किया। इस सभा में अनेक प्रान्तों के मुगल प्रान्तपति भी उपस्थित थे।

उक्त फरमान श्री कैलाससागरसूरि, श्री महावीर जैन, अराधना केन्द्र, अहमदाबाद, गुजरात के सम्राट सम्प्रति संग्रहालय में सुरक्षित है।[12] जिसमें गुजरात व सौराष्ट्र मुल्क के लिए जैनाचार्यों की प्रेरणा से जीवों के कल्याण हेतु सम्राट अकबर द्वारा आदेशित उर्दू व पारसी भाषा के उत्क्रीष्ट अक्षरों में हाथ से लिपिबद्ध किया गया है। नीचे अकबर द्वारा जारी मुद्रा की सील/मोहर स्पष्ट दृष्टिगोचित है, साथ ही उक्त मंत्री का दस्खत है।[13]

फरमान जारी करने की यह परम्परा अकबर के पश्चात् **'नूरअल-दीन जहांगीर'** (1605-1627) व **'शाहजहाँ'** (1627-1658) इत्यादि अन्य मुगल बादशाहों ने भी जारी रखा।

संदर्भ

1. जैन, नीना-मुगल सम्राटें की धार्मिक-नीति पर जैन संतों का प्रभाव (1555-1658 तक) शिवपुरी, मध्यप्रदेश, 1991, पृ० 48-50 तक।
2. सूरीश्वर व सम्राट, कृष्णलाल वर्मा, पृ० 81
3. अबुलफजल के अनुसार उक्त मेवाडे मेवात के रहने वाले थे और दौड़ने वाले के नाम से प्रसिद्ध थे। ये किसी पत्र आदि को दौड़ कर यथा स्थान पहुंचाते थे। आइन-ए-अकबरी में ऐसे 1000 धावकों की विस्तृत सूची दी गयी है। (विस्तार हेतु देखिये - आइन-ए-अकबरी, ब्लॉच मैन द्वारा अनुवादित। पृ० 262)
4. उक्त मुद्दे पर गुरु भगवन्त ने काफी विचार विमर्श किया। कालान्तर में राजा का अनुग्रह/निवेदन समझकर विहार करने का निर्णय लिया।
5. मनुस्मृति में भी वर्णन आता है कि शरीर पीड़ित होने पर भी दिन व रात्रियों में सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए सदा भूमि का सूक्ष्मावलोकन कर चलना चाहिये।
6. त्यागियों के लिए धातु का स्पर्श करना सख्त मना है। अत: बादशाह असमंजस में पड़ गया कि सूरिजी को कहाँ बैठाया जाये।
7. बादशाह ने ईश्वर और खुदा में भेद पूछा। तो सूरिजी ने उत्तर दिया कि ईश्वर और खुदा में नाम मात्र के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है, और वास्तव में देखा जाये तो यह भेद जीवों के कल्याणार्थ है। क्योंकि विचित्र रूपा खलु चित्र वृत्तय: अर्थात जीवों की चित्तवृत्तियां अनेक प्रकार की हैं। देव, महादेव, शिव शंकर, हरि, ब्रह्मा, परमेष्टी, स्वयंभू, त्रिकालविद्, भगवान, तीर्थंकर, केवली, जिनेश्वरी, विरात आदि ईश्वर के अनेक नाम हैं। इसके अर्थ में नहीं अपितु नामों में ही विवाद है।
8. विक्रम संवत - 1639 अर्थात् सन 1582 ई० को उक्त फरमान जारी हुआ।
9. हीरविजयसूरिरास - प० ऋषभदास पृ० 182, ढाल पांचवीं भानुचन्द्रगणिचरित - भूमिका, प्रस्तुतिकरण श्री अगरचन्द्र भवरलालजी नाहटा, पृ० 7, जैन ऐतिहासिक काव्य संचय, भावनगर, पृ० 201
10. आगरा में पधारे पू० सूरिजी के दर्शन निमित्त अपनी सेना के साथ अकबर पधारा और दर्शन कर धन्य हुआ। तत्कालीन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुरुदेव के अनुरोध पर उसने जजिया कर लेना बंद कर दिया, परन्तु गुजरात राज्य में यह कर लिया जाता था। सम्भवत: उक्त क्षेत्र बादशाह के अधिकार में नहीं था।

    परन्तु हीरसौभाग्यकाव्य टीका के 14वें सर्ग में 271वें श्लोक (जेजियाकाख्यो गौर्जर कर विशेष:) से ज्ञात होता है कि कालान्तर में चलकर गुजरात क्षेत्र भी उक्त कर से मुक्त हो गया। विस्तार हेतु देखिए -पू० देवमविमलगणि सर्ग - 14, जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० 89, में शत्रुन्जय व गिरनार आदि स्थानों के लिए जजिया तीर्थ यात्री कर बंद करने का उल्लेख है।

11. वर्मा, कृष्णलाल, सूरिश्वर व सम्राट, पृ० 128
12. उक्त संग्रहालय भारत का सर्वश्रेष्ठ जैन म्यूजियम है जिसमें पाषाण से लेकर हाथी, दांत, जहरमोरा, पन्ना, मूंगा, पारा, माणिक, अकीक, गार्नेट, लैफिस, गोल्ड, सिल्वर व पीतल आदि से निर्मित तीर्थंकरों व यक्ष-यक्षिणियों के दुर्लभ कलाकृतियों, मुगल शासकों द्वारा जारी विभिन्न प्रकार से फरमान तथा कपड़े पर सोने, चांदी, हीरा, मोती, मूंगा व अन्य रत्नों से जड़े कार्य का प्रदर्शन बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। इसके अतिरिक्त 5, 00, 00 से अधिक प्राचीन व दुर्लभ जैन हस्तलिखित (आगम, न्याय दर्शन, योग, व्याकरण, एवं प्राचीन इतिहास व पुरातत्व) आदि विषय पर आधारित हैं। व 4, 000 से अधिक प्राचीन ताडपत्रीय ग्रन्थ भी विशिष्ट रूप से संग्रहीत हैं जिसमें स्वर्णाक्षरी व रजत से आलेखित हजारों ग्रन्थ दूरस्थ क्षेत्रों यथा राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से पधारे शोध छात्र-छात्रों व जनमानस के लोगों को बरबस अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं।
13. फरमान उक्त संग्रहालय में सुरक्षित हैं जो सम्राट अकबर व अन्य बादशाहों द्वारा उनके शासन काल में जारी किया गया, जिसकी कुल संख्या 6 है। जो दर्शनार्थियों व इतिहासकारों को वरवश अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं।

7

बौद्ध एवं जैन धर्म का भारतीय संस्कृति में योगदान

सुधा त्रिपाठी

भारत बहुत बड़ा देश है। प्रागैतिहासिक काल से भारत अनेकों जातियों और संस्कृतियों का आश्रय रहा है और उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों तथा जीवन-विधाओं के संघर्ष और समन्वय के द्वारा भारतीय इतिहास की प्रगति और संस्कृति का विकास हुआ है। इस विकास में आर्येत्तर जातियों का भी उतना ही योगदान रहा है जितना कि आर्य जाति का। आर्य एवं आर्येत्तर सांस्कृतिक परंपराओं का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधार-शिला सिद्ध हुई। इसका प्रभाव एक ओर उत्तर वैदिक कालीन समाज रचना में स्पष्ट देखा जा सकता है, दूसरी ओर उस बौद्धिक और आध्यात्मिक आन्दोलन में जिसका चरम परिणाम बौद्ध एवं जैन धर्म का अभ्युदय था।

ई० पू० छठी शताब्दी समस्त संसार में व्यापक धर्म सुधार का युग था। इस युग में अन्यान्य देशों के समाज में सामान्यतया आध्यात्मिक एवं नैतिक अशांति हो गयी तथा अद्वितीय बौद्धिक और चिन्तनपरक आन्दोलन आन्दोलित हुए। फलतः समस्त विश्व में विश्व सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने तत्युगीन रूढ़िग्रस्त एवं आडम्बरपूर्ण व्यवस्था का, जिसने सामान्यजन के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन को बोझिल बना दिया था, विरोध किया तथा इस व्यवस्था को नवीन आधारों पर पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी लिखा है कि छठी सदी ई० पू० कई देशों में आध्यात्मिक अशांति तथा बौद्धिक हलचल के लिए प्रसिद्ध हैं। चीन में लाओजू (Laotzu)

तथा कान्फ्यूशियस, यूनान में पारमेनीदास (Parmenides) तथा एम्पीडौकलास (Empedoclaes), ईरान में जरथ्रुस्त्र (Zarthustra) और भारत में महावीर एवं बुद्ध इस युग में हुए। इस युग में कई विख्यात गुरु हुए, जिन्होंने परंपरागत धर्मों में अनेक सुधार किये तथा अनेक नयी बातों का विकास किया।

बौद्ध तथा जैन धर्म का उदय भारत की धार्मिक क्रान्ति की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। सदियों से जनमानस उद्वेलित हो रहा था। वैदिक धर्म के यज्ञादि कर्मकाण्ड जटिल हो गये थे तथा आत्म-कल्याण की भावना कम, किन्तु आडम्बर अधिक बढ़ गया था। ठीक इसी समय भगवान बुद्ध तथा महावीर का प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने सुधारात्मक आन्दोलन के रूप में बौद्ध तथा जैन धर्म को जन्म दिया। वास्तव में यह आन्दोलन तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की प्रामाणिकता, धार्मिक क्रियाविधियों, पुरोहितों की अपरिमित शक्ति और सुविधाओं तथा मरणासन्न संस्कृति के प्राणाघात भार के विरुद्ध था। इस प्रकार छठी सदी ई० पू० नये विचारों के उदय का युग था, जिसने नये दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म दिया। इस प्रकार क्रान्तिकारी स्वरूप वाले धर्म को भारत ने न तो इसके पूर्व देखा और न अब तक देख सका।

भगवान गौतम बुद्ध और महावीर के नेतृत्व में प्राचीन भारत के इन धार्मिक सुधारों ने जनता के हृदय और दैनिक जीवन को बड़ा प्रभावित किया, लोगों ने अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों को छोड़कर किसी नये धर्म की दीक्षा ले ली हो, यह नहीं हुआ। पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और विविध अनुष्ठानों द्वारा जनता को धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण गृहस्थ जनता, सांसारिक धंधों में संलग्न थी वह कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करती थी और ब्राह्मणों द्वारा बताये धर्म-मार्ग पर चलकर इहलोक परलोक में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि साधना मार्ग का उपदेश सभी के लिए समान है जो उपदेश एक धनवान या उच्चकुल के व्यक्ति के लिए है वही उपदेश गरीब या निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए है। जैनाचार्यों का कहना है कि सभी मनुष्य योनि से ही उत्पन्न होते हैं। इस बात को निराधार बताया कि वर्ण

व्यवस्था की उत्पत्ति ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के आधार पर हुई। वही बौद्धों ने कहा कि कर्म से ही मनुष्य की महानता सूचित होती है।

इन धर्मों के योगदान स्वरूप अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणों, मुनियों और भिक्षुओं ने ले लिया। इन श्रमणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णों और जातियों के लोग सम्मिलित थे। अपने गुणों के ही कारण समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी। धर्म का नेतृत्व ब्राह्मण जाति के हाथ से निकलकर अब ऐसे समुदायों में आ गया था जो घर गृहस्थी छोड़कर मनुष्य मात्र की सेवा का व्रत ग्रहण करते थे। निःसंदेह, यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी।

भारत के सर्व साधारण गृहस्थ सदा से अपने कुल क्रमानुपात धर्म का पालन करते रहे हैं। प्रत्येक कुल के अपने देवता, रीति-रिवाज और अपनी परंपराएं थी, जिनका अनुसरण सब लोग मर्यादा के अनुसार करते थे। ब्राह्मणों का वे आदर करते थे, उनका उपदेश सुनते थे, और उनके बताये कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण एक ऐसी श्रेणी थी, जो सांसारिक धंधों से पृथक् रहकर धर्म-कार्यों में संलग्न रहती थी, पर समय की गति से इस समय बहुत से ब्राह्मण त्याग, तपस्या और निरीह जीवन को त्याग चुके थे। इन धर्मों के प्रभुत्व के फलस्वरूप श्रमणों की जो नई श्रेणी संगठित हो गई थी वह त्याग और तपस्या से जीवन व्यतीत करती थी, और मनुष्य मात्र का कल्याण करने में रत रहती थी। जनता ने ब्राह्मणों की जगह अब इनको आदर देना और इनके उपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू किया। बौद्ध धर्म के प्रचार का यही अभिप्राय है। जनता ने पुराने धर्म का सर्वथा परित्याग कर कोई सर्वथा नया धर्म अपना लिया हो, सो बात भारत के इतिहास में नहीं हुई। बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायी, महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य- जैसे मगध सम्राट जैन-मुनियों, बौद्ध-भिक्षुओं और ब्राह्मणों का समान रूप से आदर करते थे। जैन साहित्य के अनुसार ये जैन थे, उन्होंने जैन मुनियों का आदर किया और उन्हें बहुत सा दान दिया। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार ये बौद्ध थे, भिक्षुओं का ये बहुत आदर करते थे, और इनकी सहायता पाकर बौद्ध संघ ने बड़ी उन्नति की थी। बौद्ध और जैन साहित्य इन सम्राटों के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं से भरे पड़े हैं और इन सम्राटों का उल्लेख उसी प्रसंग में किया गया है, इन्होंने

बौद्ध या जैन धर्म का आदर किया और उनसे शिक्षा ग्रहण की। वास्तविकता यह है कि इन राजाओं ने किसी एक धर्म को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया हो, किसी का विशेष रूप से पक्ष लिया हो, यह बात नहीं थी। प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुसार ये ब्राह्मणों और मुनियों का समान रूप से आदर करते थे, क्योंकि इस युग में भिक्षु लोग अधिक संगठित और क्रियाशील थे इसलिए उनका महत्व था, जो वृत्ति राजाओं की थी, वही जनता की भी थी।

इस धार्मिक सुधारों का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत में यज्ञों के कर्मकाण्ड का जोर कम हो गया। यज्ञों के बन्द होने के साथ-साथ पशुबलि की प्रथा कम होने लगी। यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की आकांक्षा के निर्बल हो जाने से राजा और गृहस्थ लोग श्रावक या उपासक के रूप में भिक्षुओं द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करने लगे, और उनमें जो अधिक श्रद्धालु थे, वे मुनियों और श्रमणों के समान सादा व तपस्यामय जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर हुए।

बौद्ध और जैन सम्प्रदायों से भारत में एक नवीन धार्मिक चेतना उत्पन्न हुई। शक्तिशाली संघों में संगठित होने के कारण इनके पास धन, मनुष्य व अन्य साधन प्रचुर रूप में विद्यमान थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि मगध के साम्राज्य विस्तार के साथ साथ संघ की चातुरन्त सत्ता की स्थापना का विचार भी बल पकड़ने लगा। इसीलिए आगे चलकर भारतीय धर्म व संस्कृति का न केवल भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों, अपितु भारत से बाहर भी दूर-दूर तक प्रसार हुआ। मौर्य और गुप्त वंशों के शासनकाल में तेजी के साथ विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, पांचवीं सदी के बाद भी बहुत से भारतीय विद्वान अन्य देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने का धर्म-ग्रंथों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने के लिए विदेश जाते रहे। पांचवीं सदी से चीन आदि देशों से भी लोगों ने भारत आना शुरू किया, ताकि वे जहाँ बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, वहाँ साथ ही अपने धर्म के प्रामाणिक ग्रंथों को भी प्राप्त करें। यद्यपि जैन धर्म बौद्ध धर्म की तरह विश्वव्यापी धर्म नहीं बन सका। परन्तु अपनी *मातृभूमि में यह आज भी जीवित है। इस धर्म के अनेकों अनुयायी देश के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। जैन धर्म के कठोर संयम, तपस्वी जीवन, अहिंसा*

तथा सदाचार ने भारतीयों को सदाचार पूर्ण जीवन जीने की महती प्रेरणा मिली तथा अहिंसा का सिद्धान्त भारतीयों का राष्ट्रीय सिद्धान्त बना।

इस प्रकार बौद्ध तथा जैन संस्कृति मनुष्य को संयम और आत्मानुशासन के पुनीत मार्ग पर भी आरूढ़ करती है। निश्चित ही यह दोनों ही संस्कृतियाँ महान हैं। बौद्ध एवं जैन धर्मों से भारत में एक नयी धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गयी। इन दोनों ही धर्मों ने धार्मिक उदारता, सहिष्णुता, समत्व और एकत्व की भावनाओं का प्रतिपादन किया।

इस प्रकार इन संस्कृतियों ने मूर्तिपूजा, नवीन साहित्य का सृजन, शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति, धार्मिक जीवन, भारतीय कला पर प्रभाव, दर्शन, विदेशों से सम्पर्क में वृद्धि, नयी आचार संहिता (भिक्षुओं के नियम) बनाया। जिससे वास्तव में इस धर्म ने विश्व में अपनी श्रेष्ठता कायम की और भारतीय संस्कृति की रक्षा में अभूतपूर्व योगदान दिया।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययन सूत्र 18/23 तथा सूत्र कृतांग 2/2/79
2. स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आब बुद्धिज्म, अध्याय 80
3. DR. Radha Krishanan-Foreword to 2500 years of Buddhism, p. 1
4. The Age of Imperial Unity, Page, 350
5. आचारांगसूत्र 1/2/6/120
6. अभिधान राजेन्द्र, खंड, 4, पृ० 1441
7. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० 20
8. मज्झिम निकाय, 2, पृ० 36
9. दीर्घ निकाय (कूटदत्तसूत्त) पृ० 53

8

बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव

आनन्द शंकर चौधरी

प्रत्येक काल में समाज का उत्कर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता, समुन्नति और सुख-सुविधा पर निर्भर करता रहा है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन आर्थिक विकास से प्रभावित होता है। समय-सयम पर मनुष्य के आर्थिक कार्यक्रम उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप घटते-बढ़ते और कभी-कभी परिवर्तित भी होते रहे हैं। परिस्थितियों के कारण समयानुसार आर्थिक कार्यक्रमों में संशोधन एवं परिवर्धन भी होते रहे हैं जो सामाजिक संरचना में परिवर्तन के लिए भी उत्तरदायी है। छठी शताब्दी ई० पू० में बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही प्राचीन भारत में नवीन आर्थिक संरचनाओं का दौर शुरू हो गया जो लम्बे समय तक प्राचीन भारत की आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित किया। जिसका प्रभाव तत्कालीन समाज, धर्म एवं राजनीति पर स्पष्ट देखा जा सकता है।

महात्मा बुद्ध के समय से जरा सा पहले की भारतीय संस्कृति का यदि सूक्ष्म निरीक्षण करें तो विदित होता है कि इस समय के विचारक, दार्शनिक, सामाजिक व्यवस्थाकार आदि वर्तमान को भविष्य की आशंकाओं से परिचित कराने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। इस समय समाज में दो स्पष्ट वर्ग उभर रहे थे, एक तो वे जो वैदिक धर्म, कर्मकाण्ड, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देने तथा देवी-देवताओं को पूजने में ही संतुष्टि का अनुभव करते थे, और दूसरे वे जो इस प्रकार की रीति-रिवाज से केवल असंतुष्ट ही नहीं वरन उनके विरुद्ध प्रति-क्रिया भी अभिव्यक्त कर रहे थे। छठी शताब्दी ई० पू० के इस काल को

भारतीय इतिहास का परिवर्तन युग कह सकते हैं।[1] ई० पू० छठी शताब्दी की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार थीं – कृषिप्रधान, अर्थव्यवस्था, कबायली संरचना में दरार, वर्ण–व्यवस्था की स्थापना तथा क्षेत्रगत साम्राज्यों का उत्कर्ष। युद्ध और कृषि दोनों में लोहे के प्रयोग से मूलभूत सामाजिक परिवर्तन का प्रादुर्भाव हुआ। लोहे के फाल के व्यवहार से खेती में क्रांति से व्यापक सामाजिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त हुआ। तकनीकी विकास के दृष्टिकोण से यह युग लौह–युग के आरम्भ का काल माना जाता है। कृषक अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन की क्षमता रखने लगे। कृषि के विकास के साथ–साथ शिल्पों और नगरों का भी विकास हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उत्तरोत्तर विकास हुआ और समाज में धनाढ्यों की प्रतिष्ठा बढ़ी। बौद्ध आगम में धनाढ्यों गहपतियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ये दूर–दूर जाकर व्यापार कार्य करते तथा रत्नों एवं धातुओं का संग्रह करते थे।[2] व्यापारी वर्ग व्यापार को समुचित ढंग से चलाने के लिए व्यापार–समितियों का निर्माण करते थे। ये व्यापार समितियां इनके व्यापार में सहायक सिद्ध होती थीं।[3] इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में नई–नई संभावनाएं दिखाई देने लगी तथा लोग आर्थिक क्षेत्र में आई इस सम्पन्नता में और वृद्धि करने को उत्सुक थे।

लेकिन जिस वैदिक समाज ने उत्पादन में लौह तकनीक के प्रयोग तथा प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, उसी समाज की अनेक प्राचीन मान्यताएं आर्थिक प्रगति के लिए अनुकूल नहीं थी। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग को व्यापार में संलग्न होने की मनाही थी। वैश्य वर्ग जो आर्थिक व्यवस्था में प्रमुख भूमिका निभा रहा था, सम्मान की दृष्टि से समाज में तीसरी श्रेणी में आता था। समुद्री व्यापार को वैदिक परम्परा के धार्मिक ग्रन्थों में निन्दित माना गया है। होने वाले साम्राज्यवादी युद्धों में व्यापारी वर्ग की ही अधिक हानि होती थी। युद्ध की स्थिति में व्यापारियों की सम्पत्ति की सुरक्षा भी खतरे में पड़ जाती थी। इस काल में विधि निर्माताओं ने सूद तथा ब्याज प्रथा की निन्दा की है, जैसा कि आपस्तम्ब तथा बौद्धायन धर्मसूत्रों में उल्लिखित है। इस प्रकार उपरोक्त कारण आर्थिक प्रगति में बाधक सिद्ध हो रहे थे। ऐसे समय में बौद्ध धर्म की अनेक शिक्षाएं नए आर्थिक परिवर्तनों के अनुकूल सिद्ध हो रही थी

तथा आर्थिक क्षेत्र में प्रगति करने वाले समूह की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

बौद्ध साहित्य में समुद्री व्यापार के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण दिखता है। यह स्वाभाविक ही था कि वैश्य वर्ग बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन देता। सांची स्तूपों में वर्णित दृश्यों से स्पष्ट होता है कि वैश्य वर्ग ने बौद्ध धर्म को अपनाकर तथा दान आदि देकर विशेष प्रोत्साहन दिया। वैश्य वर्ग के लिए बौद्ध साहित्य में 'गहपति', 'सेट्ठि' आदि शब्द मिलते हैं। 'गहपति' शब्द के लिए कहा गया है कि यह ब्राह्मण-क्षत्रिय के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था।[4] किन्तु बौद्ध-साहित्य में इसका प्रयोग केवल वैश्य वर्ग के लिए ही हुआ है।[5] वैश्य वर्ग उस युग का अत्यन्त समृद्धशाली और सम्पन्न वर्ग था। 'सेट्ठि' अथवा 'श्रेष्ठि' इस वर्ग का धनी व्यक्ति होता था जो अपने व्यापार और वाणिज्य के कारण प्रमुख होता था। वह समय-समय पर राजा और श्रेष्ठियों की सहायता भी करता था।[6] एक श्रेष्ठि ने भिक्षु-संघ को 80 करोड़ कार्षापण सहायतार्थ दान दिया था।[7] ऐसे श्रेष्ठियों के भी संदर्भ मिलते हैं जो राज सभाओं के सदस्य होते थे तथा वहाँ की कार्य-विधियों में अपना सहयोग प्रदान करते थे।[8] रूपया उधार देना, ब्याज लेना, उद्योग व्यापार में धन लगाना उनका पेशा था।[9] इस वर्ग ने अपने प्रयास से इस युग की आर्थिक संरचना को ही बदल डाला।

बौद्ध धर्म को प्रारम्भ से ही राजाओं और व्यापारियों का संरक्षण तथा प्रोत्साहन मिलना प्रारम्भ हो गया था। धर्म का प्रचार करने वाले विश्व के प्रथम प्रचारक तापस और भल्लिक व्यापारिक वर्ग से थे।[10] सारिपुत्त, मोग्गल्लायन जैसे युवक ब्राह्मण, आनन्द, राहुल, अनिरुद्ध जैसे कुलीन कुल के सदस्य, यश जैसे लोग जो बड़े-बड़े व्यापारियों और नगरपरिषद् के गणमान्य व्यक्तियों के पुत्र थे। ये सब तत्कालीन समाज के अत्यन्त कुलीन वर्गों के थे जो बुद्ध के उपदेशों तथा शिक्षाओं से प्रभावित थे। महान श्रेष्ठि अनाथपिंडिक सावात्थि (श्रावस्ती) के निकट राजा जेतकुमार से 54 करोड़ स्वर्ण मुद्राओं में जेतवन विहार खरीद कर बुद्ध को उपहार स्वरूप दिया।[11] ये कुलीन तथा

व्यापारी वर्ग बुद्ध की शिक्षाओं का लाभ उठाकर, जो उनके व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुकूल थी, आर्थिक संरचना को आयाम दे रहा था।

बुद्ध ने बौद्ध संघ के संचालन के लिए बहुत से नियम बनाये। बुद्ध ने संघ के अन्दर सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवादी सिद्धान्तों को लागू किया। मजूमदार का कथन है ....बौद्ध संघ में व्यक्ति को सारे संघ में विलीन कर दिया जाता था।........बुद्ध के इस धर्मादेश में कि प्रत्येक वस्तु संघ की सम्पत्ति है, किसी भिक्षु विशेष की नहीं।[12] बुद्ध संघ के अन्दर व्यक्तिगत सम्पत्ति के पक्ष में नहीं थे, यदि किसी भिक्षु को सोना या चांदी दान में मिलता था तो उसे उस दान को संघ का दे देना होता था। संघ के इन् नियमों का गहनता से विचार किया जाये तो पता चलता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को संघ में मान्यता न देकर भिक्षुओं को पथभ्रष्ट होने से रोका गया क्योंकि अर्थ की अधिकता नैतिक पतन का कारण बन सकती थी। बुद्ध ने संघ में सम्पत्ति सम्बन्धी, साम्यवादी सिद्धान्त लाकर संघ में समानता के सिद्धान्त को डाला। जिससे लोगों का विश्वास संघ के प्रति बढ़ता गया। इस प्रकार अर्थ सम्बन्धी यह सिद्धान्त बौद्ध धर्म के विकास में भी सहायक सिद्ध हुआ।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के सिद्धान्त तत्कालीन आर्थिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया जिसके कारण समाज का स्वरूप ही बदलने लगा। बुद्ध की शिक्षाओं ने संकुचित आर्थिक सिद्धान्तों को बदल दिया। व्यापार एवं उद्योग के क्षेत्र विस्तृत हो गये और नई आर्थिक एवं सामाजिक मान्यताओं को स्थान मिला।

संदर्भ

1. प्रसाद, ईश्वरी - प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म दर्शन, पृ० 99
2. अंगुत्तरनिकाय, भाग - 3, पृ० 70
3. जातक, भाग - 4, 463/559
4. फिक, आर० सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इंडिया, पृ० 353
5. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 93
6. महावग्ग, 8.1.16

7. जातक, 1, पृ० 349
8. जातक, 1, पृ० 345, 3, पृ० 299, 5, पृ० 471
9. बुच, इकोनामिक लाइफ इन ऐंश्येंट इंडिया, खण्ड 1, पृ० 80-95
10. ओल्डेनवर्ग, एच० बुद्ध हिज लाइफ, हिज टीचिंग्स, हिज आर्डर (कलकत्ता- 1927), पृ० 119
11. रिस-डेविड्स, टी० डब्ल्यू० आर०, बुद्धिस्ट इण्डिया (कलकत्ता 1950) पृ० 963-964
12. मजूमदार, आर० सी० - कारपोरेट लाइफ आफ ऐंश्येंट इण्डिया, (कलकत्ता 1919), पृ० 316-318

9

मगध-वैशाली युद्ध का कारण जैन एवं बौद्ध धर्म का अन्तःसंघर्ष

हरीगोपाल श्रीवास्तव

जैन एवं बौद्ध धर्मों के वाङ्मय के कतिपय पृष्ठ इस आशय के साक्ष्य हैं कि जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध समकालीन राजवंशों पर अपने व्यक्तित्व की छाप एवं अपने धर्म का प्रभाव स्थापित करने के लिए तत्पर एवं प्रयत्नशील रहे। तदनन्तर उनके शिष्यों ने इसी नीति का अनुसरण किया। अपने-अपने धर्म के प्रचार-प्रसार की चेष्टा एवं सक्रियता ने दोनों को एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी बना दिया।

यह विचित्र तथ्य है कि मगध नरेश अजातशत्रु को जैन लेखक जैन मतावलंबी एवं बौद्ध लेखक बौद्ध मतावलम्बी बताते हैं। उल्लेखनीय है कि अजातशत्रु महावीर स्वामी एवं गौतम बुद्ध का समकालीन था। बौद्ध ग्रन्थों में यह भी लिखा है कि वृद्धावस्था में अजातशत्रु के पिता मगध नरेश बिम्बिसार ने अजातशत्रु को राज्य का शासन-भार सौंप दिया था परन्तु अजातशत्रु सिंहासन पर बैठने को उतावला था और उसने बुद्ध के विद्रोही चचेरे भाई देवदत्त के कहने से बूढ़े पिता को कारागार में बन्द करके भूखा मार डाला। सामञ्ञकलसुत्त में यह भी लिखा है कि इस पाप के लिए पीछे उसे बड़ा पश्चाताप हुआ और वह बौद्ध होकर गौतम बुद्ध के पास क्षमा मांगने गया।[1] डॉ० स्मिथ का कहना है कि उक्त हत्या युवराज की धार्मिक चर्चाओं से घृणा की प्रवृत्ति का परिणाम है।[2] प्रतीत होता है कि तत्कालीन जैन एवं बौद्ध समर्थकों की अपने-अपने धर्म

की विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए अपने तर्कों से एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति ने अजातशत्रु को पितृहन्ता बना दिया। अपने इस घृणास्पद कृत्य पर अजातशत्रु प्रायश्चित्त करने भगवान बुद्ध की शरण में गया जिसका चित्रण भरहुत वेदिका पर हुआ है यह लेख भी उट्टङ्कित है –

अजातशत्रु भगवतो वन्दते।

कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि अजातशत्रु प्रारम्भ में जैन धर्म से प्रभावित था परन्तु कालान्तर में वह बौद्ध मतावलम्बी हो गया।

ज्ञातव्य है कि मगध नरेश बिम्बिसार का विवाह वैशाली के लिच्छवि सरदार चेटक की पुत्री चेल्लना अथवा छलना के साथ भी हुआ था। वैशाली गणराज्य वज्जिसंघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सशक्त घटक था और वज्जिसंघ का ही एक महत्वपूर्ण घटक कुण्डग्राम के ज्ञातव्य क्षत्रियों का था, जिसमें महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे। यह स्वाभाविक था कि कुण्डग्राम के ज्ञातृक क्षत्रियकुल से सम्बद्ध होने के कारण वज्जिसंघ जैन धर्म से प्रभावित रहा हो।

अजातशत्रु द्वारा बौद्ध धर्म अंगीकार कर लेने की प्रतिक्रिया में सम्भव है जैनियों ने वज्जिसंघ को उसके विरुद्ध भड़का दिया हो जिसके कारण मगध एवं वैशाली राज्यों के मध्य प्रवाहित होने वाली गंगा नदी पर के बन्दरगाह एवं उसी के समीप की एक बहुमूल्य धातुओं की खान पर पूर्व काल से मगध एवं वैशाली की बराबर की हिस्सेदारी को समाप्त कर वैशाली ने एकाधिपत्य स्थापित कर लिया।[3]

दूसरी ओर पिता बिम्बिसार की हत्या हो जाने पर अपने को असुरक्षित समझ चेल्लना के दो पुत्र राजकुमार हल्ल एवं वेहल्ल पिता द्वारा उपहार स्वरूप प्रदासनित सेचनक हस्ति एवं 18 लड़ियों का स्वर्णहार लेकर अपने नाना चेटक की शरण में वैशाली पहुंच गये। अजातशत्रु द्वारा चेटक से हल्ल एवं वेहल्ल को उपहार की सामग्रियों के साथ मगध वापस भेजने की मांग को चेटक ने अस्वीकार कर दिया। अतः दोनों राज्यों के मध्य युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

यह सुवदित है कि वैशाली वज्जिसंघ का केन्द्र था तथा वज्जिसंघ आठ

गणराज्यों का संगठन होने के कारण अत्यन्त शक्तिशाली था। यह संयोग ही था कि जिस समय अजातशत्रु वैशाली पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। उस समय महात्मा बुद्ध राजगृह की एक पहाड़ी पर रुके हुए थे। अपने महामन्त्री वस्सकार को अजातशत्रु ने महात्माबुद्ध के पास इस संदेश के साथ भेजा कि उसने वज्जियों का उन्मूलन करने के लिए दृढ़ निश्चय किया है। महात्मा बुद्ध ने यह संदेश सुनकर कहा कि 'जब तक वज्जिसंघ एक है उसे पराजित नहीं किया जा सकता। उनकी एकता खण्डित कर ही उन्हें जीता जा सकता है'। महात्मा बुद्ध के इस कथन के मूल में भी जैन धर्म से उनकी प्रतिस्पर्धा की भावना छिपी हुई है। इस (उपदेश) कथन से शिक्षा ग्रहण कर वस्सकार ने वज्जिसंघ में मतभेद उत्पन्न करा दिया परिणामस्वरूप अजातशत्रु द्वारा वैशाली पर आक्रमण किये जाने पर एकजुट होकर वज्जिसंघ नहीं युद्ध कर सका और विघटित वज्जिसंघ पराजित हो गया। निश्चय ही यह संघर्ष जैन एवं बौद्ध धर्म के अन्त:संघर्ष के कारण हुआ था।

संदर्भ

1. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता- बेनी प्रसाद पृ० 191
2. द्रष्टव्य- प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी, पृ० 184
3. बुद्धघोष की टीका सुमंगल विलासिनी के अनुसार लिच्छवियों द्वारा विश्वासघात मगध एवं वैशाली के बीच युद्ध का कारण था। विशेष द्रष्टव्य, बुद्धिस्ट स्टडीज- बी०सी० लाल, पृ० 199

10

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन परम्परा का प्रभाव

ओम प्रकाश श्रीवास्तव

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में विश्व में एक महान धार्मिक आन्दोलन हुआ। इसी युग में भारत में भी धार्मिक क्रान्ति हुयी। इसी युग में अनेक देशों के समाज में साधारणतया आध्यात्मिक एवं नैतिक अशान्ति हो गयी तथा अद्वितीय बौद्धिक एवं चिन्तन के आन्दोलन चले। परिणाम स्वरूप, समस्त विश्व में सुधारकों ने तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की तथा इस व्यवस्था को नवीन आधारों पर पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। यूनान के द्वीप इओनिया में हिराक्लिटस (Heraclitus) ने नवीन सिद्धान्तों का उपदेश दिया। फारस देश के जरथुस्ट्र (Zoroaster) ने तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया। चीन में लोगों ने कानफ्यूशियस (Confuscius) के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वागत किया।

इस प्रकार यह वह युग था जब भारत में भी लोग प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों से उकता गये थे और पूजन की समस्त विधियों तथा इस पार्थिव जीवन के कष्टों व आपत्तियों से मुक्ति पाने हेतु सतत् प्रयत्नशील रहते थे। धर्म एवं चिन्तन के क्षेत्र में नवीन नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ और अनेक असामान्य चिन्तक सत्य की अनवरत खोज में संलग्न रहने लगे।

अत: यह धार्मिक आन्दोलन का युग था। प्राचीन व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का युग था। यह विप्लव सामाजिक व्यवस्था की प्रामाणिकता, धार्मिक क्रिया विधियों, पुरोहितों की अपरिमित शक्ति एवं सुविधाओं तथा मरणासन्न संस्कृति के प्राणघातक भार के विरुद्ध था।

इस आन्दोलन का नवीन दर्शन बाह्यरूप में असामाजिक पर आन्तरिक रूप में अजातीय था। इसने जाति और समाज की कट्टरता का विरोध किया। इसने विशुद्ध व्यक्तिवाद, तथा अध्यात्मवाद का उपदेश दिया। इसने समाज की स्थिरता, जातिहीनता, असमानता तथा उसकी स्वतंत्रता, का प्रतिपादन किया। इसने मानव-बुद्धि-विवेक की पवित्रता तथा उसकी स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया। इसने इस बात को भी न्याय संगत बताया कि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को मनुष्य के नाते स्वयं अपना भाग्य-निर्माण करने और मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार है।

इस आन्दोलन का अन्तिम उद्देश्य पार्थिव नहीं अपितु आध्यात्मिक था। जीवन को सामाजिक ढांचे में नहीं वरन् अध्यात्मवाद के ढांचे में ढालना था।

समय की अन्तरात्मा अनेक सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। रक्तिम यज्ञों और निरर्थक जटिल कर्मकाण्ड में जनता का विश्वास ज्यों-ज्यों कम होता जा रहा था, मानव के दयावादी और आस्तिक वादी आन्दोलन अधिक प्रबल होते जा रहे थे। ये आन्दोलन मानव उन्नति को मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के रूप में नापते थे। जीवन अध्यात्मवाद का एक साधन माना जाता था। इन नये आन्दोलनों के चिन्तक विशुद्ध बुद्धिवादी थे। ये पूर्णतया दार्शनिक थे जिन्होंने यह कल्पना की थी कि जीवन ज्ञान और शक्ति का एक तत्व ज्ञान है।

आध्यात्मिक नेतृत्व ब्राह्मणों एवं याज्ञिकों के अधिकार से निकलकर परिव्राजकों, वैरागियों तथा सन्यासियों के हाथों में आ गया था। इन्होंने सांसारिक तृष्णा, वासना तथा लालसा के विनाश पर अधिक जोर दिया। संन्यासियों और परिव्राजकों ने वेदों की प्रामाणिकता तथा वैदिक पुरोहितों की प्रधानता को अस्वीकार किया तथा रक्तिम यज्ञों का जो ब्राह्मणों की क्रिया विधियों का बहुत प्रमुख भाग था, विरोध किया तथा ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने घोषणा की कि उचित आचार विचार ही संसार और कर्म की भूल भुलैया में से निकलने का एक मात्र साधन है। इस ठीक और उचित आचार-विचार में अन्य गुणों के अतिरिक्त अहिंसा व्रत भी था। इन परिव्राजक उपदेशकों में सबसे महान क्षत्रिय राजकुमार वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध

थे। प्रथम के तत्व ज्ञान और विचार धारा ने उस सुधारवादी आन्दोलन को रूप दिया जिसे जैन धर्म कहते हैं और दूसरे के विचारों एवं दर्शन से अन्य आन्दोलन, जिसे बौद्ध धर्म कहते हैं, का आविर्भाव हुआ।

यूरोप के लूथर और केलविन के समान ही महावीर और गौतम ने उस भ्रष्टता का विरोध किया था जो हिन्दू धर्म में घुस गयी थी। जिस प्रकार सुधार वादी ईसाई धर्म में लूथर और केलविंन के सम्प्रदाय लूथरिज्म और केलविनिज्म हैं, वैसे ही सुधारवादी हिन्दू धर्म में जैन और बौद्ध सम्प्रदाय हैं। महावीर और बुद्ध हिन्दू धर्म के उन महान विचारकों में से थे जो हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही रहकर शाश्वत सत्य की अनवरत खोज में संलग्न थे। ये दोनों मत ब्राह्मण धर्म या वैदिक धर्म की शाखाएं ही हैं, जिन्होंने कुछ अवांछनीय धार्मिक विधियों एवं प्रथाओं का घोर विरोध किया और कुछ विशिष्ट बातों पर अधिक बल दिया। जिन नैतिक सिद्धान्तों का इन दोनों मतों ने प्रतिपादन किया है, वे उपनिषदों में वर्णित है।

उपनिषदों में तो यह बात स्पष्ट कर दी गयी कि आत्म-ज्ञान के जिज्ञासु संसार से विरक्त हो अरण्य में ही रहकर चिन्तन व तप करें। स्मृति में भी मानव जीवन के चार आश्रमों का उल्लेख करते हुए संन्यास आश्रम पर अधिक जोर दिया गया। छठी शताब्दी में पाणिनि के समय ऐसे परिव्राजक संन्यासियों और ऋषियों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्होंने अपने-अपने संघ समुदाय बना लिए थे। इनमें प्रमुख आजीविक, जटिलिक, मुण्ड सावक, मागान्धिक, गोमंतक, तेदण्डित थे। इनके ही समुदायों के आधार पर बुद्ध ने अपने संघ का निर्माण किया और उनके जीवन के हेतु विविध नियमों तथा उपनियमों की रचना की थी। सत्य बात तो यह है कि उस समय जनता ब्राह्मणों की प्रभुता, कर्मकाण्ड की निरर्थकता तथा नैतिकता व तपस्या के सिद्धान्तों से ऊब गयी थी। उसके लिए बाह्य आडम्बर पूर्ण रक्तिम यज्ञ तथा रहस्यवाद से ओत-प्रोत उपनिषद् समान रूप से जटिल एवं दुर्बोध हो गये थे। वह सरल धर्म, व्यावहारिक तथा सादे आचार विचार के लिए तरस रहे थे।

इस आवश्यकता को जैन तथा बौद्ध धर्म ने पूर्ण किया। अतएव दोनों ही धर्म भारत के आध्यात्मिक जीवन के विकास के महत्वशाली अंग हैं। दोनों ही

न तो नास्तिक हैं और न पूर्णतया किसी नवीन मूलधर्म का प्रतिपादन ही करते हैं।

जैन धर्म भारत की सीमा के पार कभी नहीं गया, वह आज भी धन-सम्पन्न वैश्यों का धर्म है, किन्तु बौद्ध धर्म पन्द्रह सौ वर्षों के देदीप्यमान जीवन के बाद अपने जन्म-स्थान में लुप्तप्राय होने पर भी विश्व की आध्यात्मिक शक्तियों में से आज भी एक विशिष्ट शक्ति है तथा मानव-विश्वास की दृढ़ भित्ति है।

इस देश में जैन तथा बौद्ध धर्म, नामक धार्मिक सम्प्रदायों के आविर्भाव एवं विकास के हेतु धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि परिस्थितियां अधिक अनुकूल रहीं।

जैन धर्म कालान्तर में दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में और भी अधिक मतभेद की वृद्धि हुई। इनमें एक ऐसे समुदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसने मूर्ति पूजा का सर्वथा बहिष्कार किया एवं धार्मिक ग्रन्थों का पूजन अपना लक्ष्य बनाया। श्वेताम्बरों में इन्हें तेरापंथी एवं दिगम्बरों में समाई कहते हैं। इस सम्प्रदाय का उदय छठी शताब्दी के पूर्व नहीं हुआ।

जैन धर्म निस्संदेह वैदिक धर्म से नहीं तो बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीनतम है। जैन धर्म की रूढ़िवादिता ब्राह्मण धर्म से इसकी सदृशता, धर्म प्रचार की उग्र भावना के अभाव तथा अन्य धर्मों के विरोधाभास के दुर्भाव होने से जैन धर्म देश के विभिन्न भागों में आज भी विद्यमान है।

बौद्धधर्म कालान्तर में हीनयान तथा महायान दोनों यानों में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों में मौलिक मतभेद था।

भारतीय जीवन के विविध अंगों को ढालने में बौद्ध धर्म की प्रगति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक, कला, शिल्प, भाषा लिपि, साहित्य, विज्ञान, पुरातत्व, व्यापार तथा उद्योग आदि सभी अंगों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा तथा निम्न प्राप्तियाँ हुयीं-

1. बौद्ध धर्म ने जटिल तथा दुर्बोध कर्मकाण्ड रहित सरल सुबोध, सीधा-साधा विशुद्ध आचार वादी लोकप्रिय धर्म दिया।

2. बौद्ध धर्म ने सदाचार पवित्र जीवन, नैतिकता, मन वचन कर्म की शुद्धि, जन-सेवा और स्वार्थ त्याग के उच्च आदर्शों पर अधिक बल दिया।
3. हिन्दू धर्म पर प्रभाव का सबल प्रमाण है।
4. संघ-व्यवस्था, दर्शन की नवीन विचारधाराओं में स्वतंत्रता।
5. मूर्ति-पूजा का प्रसार-भारत में मूर्तिपूजा का व्यापक प्रसार बौद्ध धर्म ने किया।
6. लोक साहित्य का विकास तथा बौद्ध साहित्य की ऐतिहासिक देन।
7. राजनीतिक तथा राष्ट्रीय एकता, बौद्धिक स्वतंत्रता, समानता तथा सहनशीलता की देन।
8. भारतीय कला जीवन में बौद्ध धर्म की सर्वोत्कृष्ट देन वास्तुकला तथा स्थापत्यकला के क्षेत्र में है।
9. भारतीय संस्कृति का प्रसार तथा भारतीय इतिहास पर प्रभाव बौद्ध धर्म महत्व पूर्ण स्थान रखता है।

बौद्ध तथा जैन साहित्य में इस युग में विभिन्न सिद्धान्तों के उपदेश देने वाले अनेक सम्प्रदायों का ज्ञान होता है। आर्यों के पूर्व युग में मोहनजोदड़ो में शिव की एक प्रतिमूर्ति के पूजन में ही शैव सम्प्रदाय की उत्पत्ति निहित थी। कालान्तर में आर्यों के पूर्व के इस देवता का साम्य वैदिक युग के रुद्र नामक देवता से कर दिया गया और इसे हिन्दू धर्म के देवताओं में उच्च स्थान प्राप्त हुआ। बहुत पहले से ही लिंग के रूप में शिव की पूजा होती थी जो आज भी हमारे देश अत्यधिक रूप में प्रचलित है।

ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दू समाज दृढ़ रूप से स्थायी हो चुका था। भारत में छठी शताब्दी पूर्व में धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन हुए थे। इन आन्दोलनों में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म काल की परीक्षा में सफल हुए और आज भी जीवित हैं। ये आध्यात्मिक सत्य और प्रेम के सन्देश को दरिद्रों की झोपड़ियों से लेकर नरेशों के राजमहलों तक ले गये और भारतीय इतिहास पर अपने प्रभाव की अमिट छाप छोड़ गये।

कला द्वारा धर्म की अभिव्यक्ति पर इन्होंने भारतीय संस्कृति को सम्पन्न किया। इसके परिणामस्वरूप वास्तुकला, स्थापत्यकला, तथा चित्रकला की एक नवीन शैली का सूत्रपात हुआ जिसने विश्व में कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने उत्पन्न किए हैं। इससे भी अधिक, भारतीय संस्कृति और धर्म के दीप को भारत की सीमा के परे बौद्ध धर्म सफलता पूर्वक ले गया।

सन्दर्भ

1. ए० पी० करमाकर, रिलिजन आफ इंडिया
2. महेशचन्द्र चौवे, धर्म और दर्शन
3. चन्द्र धर शर्मा, भारतीय दर्शन
4. डॉ० राधाकृष्ण, भारतीय दर्शन
5. हेलेना रेरिख, बौद्ध दर्शन के मूलआधार

11
महिलाओं के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण

नन्दन कुमार एवं पवन कुमार

प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म का उदय भारतीय समाज में परिवर्तनवादी सोच को प्रदर्शित करता है। इस सोच का सम्बन्ध उन समस्त बातों से था जिनसे प्राचीन भारतीय समाज का शोषण हो रहा था। शोषण की इन प्रवृत्तियों को अस्पृश्यता, कर्मकाण्ड, सामाजिक, असमानता और स्त्रियों की हीन अवस्था (दुर्दशा) जैसी बातों में देखा जा सकता है। प्रस्तुत आलेख बौद्ध धर्म में महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण और सोच का समीक्षात्मक प्रयास प्रस्तुत करता है। यह प्रयास निम्न समस्याओं और परिस्थितियों पर केन्द्रित है -

जिस समय भारतीय समाज में बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय समाज में पितृसत्तात्मक तत्व व्यापक पैमाने पर विद्यमान थे। उस समय लड़की का जन्म दुःख का कारण माना जाता था[1] तथा स्त्रियों को जुए और शतरंज के साथ तीन प्रमुख बुराईयों के रूप में माना जाता था।[2] उस समय ऐसी महिला को आदर्श पत्नी के रूप में स्वीकार किया जाता था जो पति को देवता के रूप में स्वीकार करती थी (पति देवता)[3] और उसके चरणों में गिरकर (पादपरिचारिका)[4] स्वयं को भाग्यवान मानती थी। उस समय महिलाओं को वस्तुओं की तरह बेचा भी जाता था।[5] ये उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि महिलाओं की सामाजिक स्थिति उस समय अच्छी नहीं थी। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या बौद्ध धर्म और दृष्टिकोण पर उपरोक्त ब्राह्मणवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा था और यदि प्रभाव पड़ा भी तो इसके क्या परिणाम सामने आये।

ऐसा प्रतीत होता है प्रारम्भ में बुद्ध बौद्ध संघ में महिलाओं के प्रवेश के प्रति उदासीन थे। इनकी विमाता महाप्रजापति गौतमी ने कपिलवस्तु में आकर एक भिक्षुणी के रूप में बौद्ध संघ में प्रवेश करने की अनुमति बुद्ध से मांगी तो बुद्ध ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया।[6] लेकिन कालान्तर में उन्हें अपने इस नियम में संशोधन करना पड़ा। वैशाली में जब बुद्ध रुके थे, तो महाप्रजापति गौतमी ने पुरुष वेष धारण करके, अपने साथ अनेक शाक्य स्त्रियों को लेकर रोती हुई, भगवान बुद्ध से संघ में प्रवेश की अनुमति मांगी। बुद्ध ने अपनी प्रिय शिष्य आनन्द की सिफारिश पर, उन्हें बौद्ध संघ में प्रवेश की अनुमति तो दी, पर साथ ही साथ आठ ऐसे कठोर प्रतिबंध भी आरोपित कर दिये जिससे स्त्रियों का संघ जीवन काफी कष्टदायक हो गया और उनका स्थान भी निम्नतम हो गया। इस आठ नियमों में एक यह भी था कि – 'सौ वर्ष की भिक्षुणी को पहले भिक्षु की अभ्यर्थना' करनी पड़ती थी, उसके सम्मुख आसन रिक्त करके खड़ा हो जाना पड़ता था, और करबद्ध प्रार्थना करनी पड़ती थी, चाहे भिक्षु केवल एक दिन का ही दीक्षित क्यों न हुआ हो।[7] पुनः भिक्षुणियां, भिक्षुओं के पास जाकर वार्तालाप नहीं कर सकती थी।[8] ये सभी दृष्टान्त हमारे समक्ष कई प्रश्न उत्पन्न कर देते हैं।

महिलाओं के प्रति भगवान बुद्ध का यह वक्तव्य भी कई भ्रान्तियों को जन्म देता है, उन्होंने अपने शिष्य आनन्द से कहा 'पर अब जब स्त्रियों का संघ में प्रवेश हो गया है, आनन्द! धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा। जिस प्रकार ऐसे घरों में जिनमें अधिक स्त्रियां और कम पुरुष होते हैं, चोरी विशेष रूप से होती है, कुछ इसी प्रकार की अवस्था उस सूत्र और विनय की समझनी चाहिये जिसमें स्त्रियां घर का परित्याग करके गृह विहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती है। धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकेगा...........फिर भी आनन्द! मनुष्य जैसे भविष्य को छोड़कर जलाशय के लिए बांध बनवा देता है, जिससे जल बाहर न बहने लगे, उसी प्रकार आनन्द भावी (भविष्य) के लिए मैंने आठ नियम बना दिये हैं, जिनका पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य है, जबतक धर्म है, उन नियमों के पालन में प्रमाद नहीं होना चाहिये।[9]'

बुद्ध के प्रिय शिष्य बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश के प्रबल समर्थक थे।

बौद्ध ग्रंथों में वर्णि तथ्यों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध ने आनन्द के कहने पर संघ में स्त्रियों के प्रवेश को स्वीकार किया। लेकिन ऐसा लगता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद आनन्द, संघ में महिलाओं के प्रवेश देने के मुद्दे पर अलग-थलग पड़ गये। राजगृह में आयोजित प्रथम बौद्ध संगति में आनन्द की सिर्फ इसलिए आलोचना की गई कि उन्होंने संघ में स्त्रियों के प्रवेश का समर्थन किया था। इस प्रसंग से यह तथ्य उभड़कर सामने आता है कि - अधिकांश बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश और उन्हें समान दर्जा दिए जाने को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। ये बातें बौद्ध धर्म में पुरुषवादी दृष्टिकोण को ही प्रदर्शित करती हैं।

बुद्ध द्वारा ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपनी पत्नी यशोधरा का परित्याग करना भी एक विचारणीय प्रश्न है।

बुद्ध का दृष्टिकोण महिलाओं के प्रति सम्मानजनक, सकारात्मक और क्रांतिकारी था। बुद्ध ने महिलाओं को ज्ञानी, मातृत्वशील, सृजनात्मक, भद्र और सहिष्णु के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने भिक्षुणी संघ की स्थापना करके महिलाओं की मुक्ति के लिए नये मार्गों को खोला। महिलाओं के लिए यह सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति आलोच्य अवधि में समय से काफी आगे और क्रांतिकारी थी।[10] बहुत सी महिलाओं ने बुद्ध के इस दृष्टिकोण का लाभ उठाया। बुद्ध की शिष्याओं में कुछ साधारण शिष्याएं ही बनी रहीं तो कुछ भिक्षुणी बनी तथा उन्होंने सांसारिक मोहमाया का परित्याग कर दिया। बुद्ध ने पुरुषों और महिलाओं को एक एकीकृत व्यक्तित्व के पूरक पहलुओं के तौर पर करूणा और बुद्धि के रूप में देखा था।

वास्तव में बौद्ध धर्म ने महिला मुक्ति और महिला समानता के आदर्श को समाज के सामने देखा। बौद्ध धर्म में जिस बिहार व्यवस्था की स्थापना की गई वह भी महिला-पुरुष समानता का आदर्श प्रस्तुत करता था। प्राय: महिलाओं के लिए उनका विहार जीवन पुरुषों के लिए उपलब्ध आत्मनिर्णय और प्रतिष्ठा के लगभग बराबर था। भिक्षुणी संघ की स्थापना, भिक्षु संघ की स्थापना के पांच वर्ष बाद की गई।[11] इस संघ की स्थापना के प्रारंभिक चरणों में भिक्षुणियों ने बौद्ध भिक्षुओं से ही अनुशासनिक कार्यों के विभिन्न रूपों के साथ-साथ ज्ञान के विभिन्न पक्षों को सीखा था।[12]

जब भी बुद्ध को अवसर प्राप्त होता था वे महिलाओं के अधिकारों और समानता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते रहते थे। उन्होंने एक अवसर पर पसेनदि को जो शब्द कहे थे उससे भी महिला समानता के सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट हो जाते हैं। पसेनदि यह समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखी हुआ था कि उसकी पत्नी ने पुत्री को जन्म दिया है। उसमें अपने मन की बात बुद्ध को बतायी। इस पर बुद्ध ने उसे समझाते हुए कहा था – **'पुत्री, ज्ञानी और गुणी बनकर पुत्र से भी अच्छी संतान सिद्ध हो सकती है।'** यह ज्ञात हो जाने पर कि महिलायें धार्मिक जीवन अपनाने की पूरी क्षमता रखती हैं, आरम्भिक बौद्ध धर्म ने उन्हें पूर्णतया समानता का दर्जा प्रदान किया था। बौद्ध धर्म में इस बात के भी उदाहरण मिलते हैं कि यद्यपि महाप्रजापति गौतमी को बौद्ध संघ में शामिल किया गया पर साथ ही साथ 8 प्रतिबंध भी आरोपित किया गया। यहाँ इस बात का भी उदाहरण मिलता है कि बाद में बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद के पास जाकर बुद्ध के प्रवरता से सम्बद्ध प्रथम गुरु धर्म पर ढील देने के लिए पूछते हुए दिखाया गया है।[13] ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षुणियों ने अपने आपको आलोच्य अवधि में सफलतापूर्वक व्यवस्थित कर रखा था।[14]

उपरोक्त वक्तव्यों और प्रसंगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्ध स्त्री–पुरुष समानता के प्रबल समर्थकों में से एक थे।[15] लेकिन उनके महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म में महिलाओं के प्रति पहले की तरह सम्मानपूर्ण भावना नहीं दिखाई देती है। महापरिनिर्वाणोत्तर काल के बौद्ध ग्रन्थों में महिलाओं को अपूर्ण दृष्टि, नीच, कपटी, विश्वासघाती, अविश्वासी, चरित्रहीन, कामुक, ईर्ष्यालु, लालची, बेलगाम, मूर्ख और फिजूलखर्चीली जैसी उपाधियों से विभूषित किया गया।[16] इसी प्रकार बौद्ध संघ में महिलाओं की उपस्थिति को भारी त्रासदी के रूप में चित्रित किया गया है।[17] और इनकी तुलना डकैतों द्वारा लूटे गये घर, फफूंद (सेतट्ठिक) से ग्रस्त धान की फसल तथा लाल रोग (मांजेष्ठिका) से संक्रमित गन्ने की फसल से की गई।[18] तापसिक नारी द्वेष, जो पालि ग्रन्थ त्रिपिटक के अंतिम तह में पाया जाता है, का भी स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण, शत्रुतापूर्ण, और नकारात्मक था।[19] उसे मानव जाति के पतन तथा आध्यात्मिक प्राणी की मृत्यु के लिए प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार माना गया।[20] आलोच्य अवधि

में महिलाओं की तुलना 5 प्रकार से की गई है – गुस्सैल, चिड़चिड़ी, द्विशाखित जुबानबाजी (बोलने वाली), इतनी विषैली की मार डाले तथा मित्रघातक।[21] जातक ग्रन्थों में भी महिलाओं के प्रति अत्यन्त अपमानजनक बातें कही गई है। इनमें कहा गया है कि औरतें संन्यासियों को उनके लक्ष्य से पथभ्रष्ट कर देती है।[22] चुल्ल–पदुम जातक में बोधिसत्व के माध्यम से बताया जाता है कि किस प्रकार उसने अपनी प्यासी पत्नी की प्यास बुझाने के लिए अपने घुटने से रक्त (खून) निकालकर दिया और बदले में उसने उसकी हत्या करने की कोशिश की और वह एक अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति के साथ रहने लगी।[23] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर बोधिसत्व कहते हैं – 'भिक्षुओं! जब मैं जानवर के रूप में जीवन व्यतीत कर रहा था, तब भी मैं नारी जाति की अकृतज्ञता, छल, दुष्टता और लंपटता के विषय में अच्छी तरह जानता था, और उस समय उनके नीचे रहने के बजाये मैंने उन्हें अपने नियंत्रण में रखा था।[24] एक अन्य जातक ग्रन्थ में यह कहा गया है – बोधिसत्व अपने पिता से कहते हैं – यदि औरतें इस घर में आती हैं तो मन की शांति न मुझे मिलेगी और न आपको।[25]'

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि बुद्ध द्वारा उपदेशित धर्म जिसका आधार लैंगिक समानता था, मैं बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद महिलाओं के प्रति इतनी दुर्भावना क्यों प्रदर्शित की जाने लगी।

ऐसा देखा जा सकता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्म पर ब्राह्मण धर्म (हिन्दु धर्म) का प्रभाव बढ़ने लगा। बौद्ध धर्म में तपस्वीकरण, ब्राह्मणीकरण, मंत्रीकरण, और मूर्तिपूजा जैसी बातों को अपनाया जाना इसी बात को सिद्ध करता है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने का है कि प्राचीन भारतीय समाज पुरुष प्रधान था। यद्यपि प्रारंभिक वैदिक ग्रन्थों में महिलाओं को पुरुषों के समान माना गया था, उनकी स्थिति दयनीय हो गई। जिन लोगों ने ब्राह्मण धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म स्वीकार किया था, वे प्रारम्भ में ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने पुरुषवादी सोच को पूरी तरह नहीं छोड़ पाये थे। जबतक बुद्ध जीवित रहे, उनके व्यक्तित्व के सामने ये लोग चुप रहे और अपने विचारों को व्यक्त नहीं कर सके। लेकिन बुद्ध जैसे महान व्यक्तित्व के अभाव में, आक्रामक पुरुष प्रधान प्राचीन भारतीय समाज के प्रभाव से ये

अपने को नहीं बचा सके। प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था में कार्यरत पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों को सामान्य तथा महिलाओं को इसका अपवाद माना गया था। इस व्यवस्था ने पुरुषों को समाज द्वारा मूल्यवान मानी जाने वाली सभी स्थितियों को धारण करने हेतु वैध स्वामी माना, जबकि महिलाओं को पुरुषों द्वारा अपनी स्थिति कायम रखने हेतु मौन सहमति देने वाली सहायिका के रूप में देखा। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पुरुषों को महिलाओं पर नियंत्रण की शक्ति प्राप्त थी। साथ ही साथ धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रियाकलापों पर पुरुषों का एकाधिकार था।[26] जब बौद्ध धर्म पर इन बातों का प्रभाव पड़ना शुरू हुआ तो महिलाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण भी परिवर्तित होने लगा। यही कारण था कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध संघ एक ऐसी संस्था के रूप में स्थापित हो गया जिस पर एक बड़े शक्तिशाली पितृसत्तात्मक सत्ता का प्रभुत्व था। इसी तरह की मानसिकता वाले लोगों द्वारा कालान्तर में बौद्ध साहित्य का सम्पादन और संशोधन किया गया और उन्होंने महिलाओं को अपूर्ण, दुष्ट, नीच, कपटी, अविश्वासी, कामुक जैसी उपाधियों से विभूषित किया।[27] इसी दृष्टिकोण के कारण धीरे-धीरे महिलाओं को हीन समझा जाने लगा।

महिलाओं की स्थिति के प्रति दृष्टिकोण पर विचार करते समय यह तथ्य भी महत्वपूर्ण हो सकता है कि प्राचीन भारतीय बौद्ध साहित्य में पाये जाने वाले महिला विरोधी वक्तव्य और कथन बौद्ध विहार के विशिष्ट वर्ग के उन सदस्यों द्वारा जोड़ा गया क्षेपक हो सकता है, जिनके महिलाओं के प्रति रुख को विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में आकार प्रदान किया।[28] ऐसा भी प्रतीत होता है कि त्रिपिटक का बहुत बड़ा भाग तृतीय बौद्ध संगति के बाद संकलित किया गया।[29] त्रिपिटक में बार बार होने वाले संशोधनों के कारण भी महिलाओं के सम्बन्ध में व्यक्त किए जाने वाले विचारों में विविधता मिलती है। भिक्षुणी संघ की स्थापना तथा बौद्ध धर्म में महिलाओं के प्रवेश के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मत एक ही ग्रन्थ में देखे जा सकते हैं। इसमें गौतम बुद्ध यह स्वीकार करते हैं कि महिलायें निर्वाण के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है। साथ ही साथ यह भी कहते कि दुर्भाग्यवश भिक्षुणी संघ की स्थापना होने से बौद्ध

धर्म की आयु आधी रह जाएगी। "यदि महिलाओं को गृहस्थी जीवन छोड़कर दीक्षा प्राप्त करने की आज्ञा न दी जाती तो बौद्ध धर्म एक हजार वर्ष तक जीवित रहता, लेकिन अब क्योंकि महिलाओं ने दीक्षा प्राप्त कर ली है, बौद्ध धर्म जीवन अधिक समय तक नहीं चलेगा केवल 500 वर्ष।"[30] इस आधार पर यह कहना ज्यादा युक्ति संगत होगा कि बुद्ध, जिनके दृष्टिकोण का आधार ही सामाजिक समानता थी, वे ऐसे विचार क्यों व्यक्त करेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद इस प्रसंग को एक क्षेपक के रूप में जोड़ा गया।

बौद्ध ग्रन्थों में बार-बार विचारों में जो भिन्नता दिखाई देती है उसे ठीक ढंग से समझने के लिए हमें उस विशेष सांस्थानिक या बौद्धिक संदर्भ की पहचान कर लेनी चाहिये जिसमें से इस प्रकार के प्रत्येक विचार का उद्भव हुआ है। केट ब्लैकस्टन ने लिखा है कि बौद्ध धर्म में स्त्रियों के प्रति द्वेषभाव इस तथ्य की उपज था कि महिलाओं की दीक्षा को धर्म और विनय के लिए एक गम्भीर और अपरिहार्य खतरे के रूप में देखा गया।[31] डायना पॉल ने बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित स्त्रियों के द्वेषभाव को उस भारतीय संदर्भ में देखा है जिसमें उसका विकास हुआ था।[32] जैनिस विल्लिस ने लिखा है कि आज हम पालि ग्रन्थों में तथ्यों से महायान ग्रंथों में वर्णित तथ्यों पर ध्यान देते हैं तो यह पाते हैं कि इनमें महिलाओं के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है।[33]

ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में (महापरिनिर्वाणोत्तर) काल में बौद्ध भिक्षुओं ने यह अनुभव किया हो कि पुरुष प्रधान प्राचीन भारतीय समाज में उनकी शिष्यायें निरन्तर प्रताड़ित या अपमानित की जायेंगी या वे पुरुष हिंसा का शिकार बनने लगेंगी। यह भी एक कारण रहा होगा कि बौद्ध संघ में स्त्रियों या भिक्षुणियों पर कई प्रतिबंध लगाये गये थे। उस समय बौद्ध विहार मानव बस्तियों के बाहर बनाये जाते थे। ऐसी स्थिति में बौद्ध भिक्षुणियों को यौन प्रताड़ना की सम्भावना बनी रहती होगी। एक दृष्टांत के द्वारा इसे सिद्ध किया जा सकता है। 'एक बार कई भिक्षुणियां कोशल प्रदेश से श्रावस्ती जा रही थी। एक भिक्षुणी मल-मूत्र त्यागना चाहती थी, अतः वह अकेले ही पीछे ठहर गई। उस भिक्षुणी को अकेले देखकर लोगों ने उसके साथ यौन सम्बन्ध स्थापित कर लिया।[34] इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भिक्षुणियों को

तरह-तरह से तिरस्कृत किया जाता था। भिक्षुणियों द्वारा छोटी सी गलती हो जाने पर भी लोग उन्हें 'सिर मुंडी वेश्याएँ' कहकर तिरस्कृत करते थे।[35] जबकि भिक्षुओं द्वारा गलती किये जाने के बावजूद उनके लिये इतने अपमानजनक शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता था। यही कारण था कि भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों के लिये ज्यादा कड़े नियमों का निर्माण किया गया। यही कारण था कि बौद्ध संघ जैसे-जैसे विकसित होता गया उसने अपने चरित्र को बाहरी समाज के अनुसार ढालना शुरू कर दिया। इस नये हो रहे परिवर्तन का अर्थ यह था कि महिलायें धर्म को पूर्णकालिक विषय के रूप में तो स्वीकार कर सकती हैं लेकिन यह कार्य एक ऐसे नियंत्रित संस्थागत ढांचे के भीतर होगा जो पुरुष प्रधानता और महिला अधीनीकरण को पारम्परिक रूप से स्वीकृत सामाजिक मानकों द्वारा सुरक्षित और सशक्त बनाता हो।'

ऐसा माना जा सकता है कि प्रथम भिक्षुणी महाप्रजापति गौतमी तथा उन पर लगाए गए 8 प्रतिबन्ध भी काल्पनिक ही हैं। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि मजाप्रजापति गौतमी ने अपने पति की मृत्यु के बाद प्रव्रज्या प्राप्त की थी, उस समय तक अनेक महिलायें बुद्ध से उपसम्पदा प्राप्त कर चुकी थीं। आइ० बी० हार्नर का भी यह मानना है कि बुद्ध द्वारा 500 वर्ष बाद बौद्ध धर्म के पतन की भविष्यवाणी करना बाद के भिक्षुओं द्वारा कल्पित कहानी ही मानी जा सकती है।[36]

कुछ आलोचकों का यह भी कहना है कि बुद्ध ने अपनी पत्नी का परित्याग किया था। यह परित्याग उनके स्त्री विरोधी दृष्टिकोण को ही प्रदर्शित करता है। लेकिन बुद्ध की इस तरह आलोचना करना ठीक नहीं है क्योंकि जब उन्होंने घर का त्याग किया था, उस समय वे एक साधारण मनुष्य थे। ज्ञान की प्राप्ति के लिए उन्होंने प्रारम्भ में ब्राह्मणवाद की परम्पराओं का अनुसरण करते हुए सांसारिक जीवन का परित्याग किया था। इस अवधि में आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए तीन चीजों का परित्याग करना अनिवार्य माना जाता था। ये वस्तुएं थीं- धन, स्त्री और प्रतिष्ठा।[37] अतः इस आधारपर बुद्ध को स्त्री विरोधी नहीं माना जा सकता है।

थेरीगाथा, बौद्ध गीत संग्रह है जिसकी रचना लगभग सौ बौद्ध भिक्षुणियों ने मिलकर किया था। बौद्ध ग्रन्थ त्रिपिटक जो पालि भाषा में है, कई स्थानों पर

महिलाओं की प्रशंसा की गई है (जैसा कि खेमा के बारे में कहा गया है कि जब उसकी शिक्षा पूरी हुई तबतक वह धर्म के पूर्ण ज्ञान के साथ अर्हत्व प्राप्त कर चुकी थी। स्वयं बुद्ध ने उसे उच्च स्थान प्रदान किया था)[41] किसा गौतमी ने भी बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेश को समझने के बाद आर्हत्व प्राप्त किया।[42] आनन्द के उपदेश को सुनकर भिक्षुणी समा ने अर्हत् का पद प्राप्त किया था। भिक्षुणी मुक्ता के बारे में कहा गया कि उसने पुनर्जन्म और मृत्यु से भी मुक्ति प्राप्त कर ली थी।[43] ये सभी दृष्टान्त यह सिद्ध करते हैं कि बुद्ध ने महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष मानते हुए उन्हें स्वयं ही दिक्षीत किया था।

बौद्ध धर्म में महिलाओं की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर भी निकाले जा सकते हैं। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में अहिंसा, करुणा, श्रद्धा, दूसरों के प्रति व्यवहार में समानता और उचित व्यवहार जैसी बातें प्रमुख थीं। स्वयं बुद्ध ने कहा था 'कोई किसी को धोखा न दे,' किसी स्थान में किसी से घृणा न करे तथा क्रोध या प्रतिकारवश किसी को क्षति पहुंचाने की इच्छा न करे। समस्त प्राणी प्रसन्न, सुखी, सुरक्षित और प्रसन्नचित हों।[44] इस दृष्टान्त के आधार पर यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि जिस धर्म का आधार ही मानवीयता और करुणा हो, वहाँ स्त्रियों को हीन दृष्टि से कैसे देखा जा सकता है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष माना गया था। यद्यपि बाद के बौद्ध ग्रन्थों में स्त्रियों के प्रति दुर्भावना को व्यक्त किया गया है। संभवतः इसका कारण बौद्ध धर्म पर ब्राह्मण धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव और बुद्ध जैसे आकर्षक और महान व्यक्तित्व का अभाव रहा होगा।

संदर्भ

1. ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ
2. मैत्रायणी संहिता
3. जातक ग्रंथों में वर्णित है। द जातका, एडिटेड बाई वी० फॉसवॉल IInd Vols., पृ० 406
4. वही, पृ० 95 VIth Vols, पृ० 268
5. वही

6. विनय पिटक का प्रथम नियम (विनयपिटक, चुल्लवग्ग 10/1/2)
7. विनय पिटक का आठवां नियम।
8. विनय पिटक (चुल्लवग्ग 10/1/2)
9. वही 1/1/2
10. मज्झिम निकाय
11. थेरीगाथा में उल्लिखित।
12. काजियामा यूइचि, वूमेन इन बुद्धिज्म
13. विनय पिटक का आठवां नियम।
14. जोनाथन वाल्टर्स-ए वायस फ्रॉम द साइलेंसः द बुद्धाज मदर्स स्टोरी, हिस्ट्री ऑफ रेलिजन्स, 33/4, 1994, पृ० 358-379
15. एडिट नोलोट, रेगलेस दे डिसिपलिन डेस ननस बुद्धिस्ट : ले भिक्षुनियां डेल इकोल महासांधिका - लोकोत्तरवादीन, पेरिस कॉलेज डे फ्रांस, 1991
16. जातक ग्रंथों में वर्णित। द जातका, एडिटेड बाई वी० फॉसवॉल प्प्दक अवसेण्ए पृ० 474, 478
17. विनय पिटक (चुल्लवग्ग 1/11/2)
18. वही
19. वही
20. अगञ्ञ सुत्ततं में उल्लिखित।
21. अंगुत्तर निकाय में उल्लिखित। द अंगुत्ता निकाय, एडि० आर० मौरिस एण्ड ई० हार्डी, Vth vols., लन्दन 1885-1900। ट्रांसलेटेड रेफरेंस आर फ्रॉम द बुक ऑफ ग्रेडुअल सेइंग्स, एफ० एल० वुडवार्ड, Vols, I, II, V.
22. जातक ग्रंथों में वर्णित है। द जातका, एडिटेड बाई वी० फॉसवॉल Ist vols., पृ० 27, 1st 4th vols., पृ० 468
23. चुल्ल पदुम जातक ग्रंथ में वर्णित है। द जातका, एडिटेड बाई वी० फॉलवॉल, Ist vols., पृ० 115-121
24. वही Vth vols., पृ० 419
25. वही IVth vols., पृ० 43
26. गरडा लर्नर, द क्रियेशन ऑफ पैट्रियारची, न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस, 1986।
27. जातक ग्रंथों में वर्णित है। द जातका, बाई वी० फॉसवॉल IInd vols., पृ० 474, 478, 527।
28. ए स्पॉनबर्ग, 'एट्टियूडस टुवार्ड वूमैन एण्ड द फेमिनिन इन अर्ली बुद्धिज्म' पृ० 125।

29. चन्द्राधर शर्मा, 'ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इंडियन फिलास्फी', नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, 1983, पृ० 30

30. अंगुत्तर निकाय में उल्लिखित है। एडि० बाई आर० मौरिस एण्ड ई० हार्डी, IVth vols., पृ० 278।

31. 'डैमिंग द धम्मा: प्राब्लेम्स विथ भिक्खुनिज इन द पाली विनया' - इस शोधपत्र को केट ब्लैकस्टोन ने 12वें अंतर्राष्ट्रीय बुद्धिस्ट स्टडीज कांफ्रेंस में प्रस्तुत किया था। इसका आयोजन 1999 में स्वीटजरलैंड के शहर ल्यूसेन में किया गया था।

32. डायना पॉल, वूमेन इन बुद्धिज्म : इमेजेज ऑफ द फेमिनिन इन महायान ट्रेडिसन, बर्कले यूनिवर्सिटी ऑफ कैलेफोरनिया प्रेस, 1979, पृ० 245-304

33. जैनिस विल्लिस 'नन्स एण्ड बेने फैक्ट्रेसेस : द रोल ऑफ वूमैन इन द डेवलपमेंट ऑफ बुद्धिज्म।'

34. 'द सैकरेड बुक ऑफ द ईस्ट' 50 vols., एडि० बाई एफ० मैक्समूलर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली Vols, XII, पृ० 189।

35. विनय पिटक में उल्लेख मिलता है।

36. आई० बी० हार्नर, 'अर्ली बुद्धिज्म एण्ड टॅकिंग ऑफ लाईफ' पृ० 105।

37. डायना पॉल, 'वूमेन इन बुद्धिज्म : इमेजेज ऑफ द फेमिनिन इन महायान ट्रेडिसन', 1979, पृ० 145।

38. थेरीगाथा (बौद्ध गीतों का संग्रह) में वर्णित है। 'द थेरीगाथा' एडी० बाई के० आर० नार्मन एण्ड एल आल्सड्रॉफ, लन्दन पृ० 61, 1966।

39. वही, पृ० 89।

40. वही, पृ० 11

41. मेत्ता सूत्र, पृ० 140, 144, 146।

12

बौद्ध परम्परा में सारनाथ के स्तूप

शोभा राम दुबे

स्तूप सम्पूर्ण विश्व में श्रद्धा के प्रतीक के रूप में पूजित हैं। भगवान बुद्ध के अन्तिम समय में आनन्द के पूछने पर उन्होंने बताया कि जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के अस्थि अवशेषों पर स्तूप निर्मित किया जाता है उसी प्रकार तथागत के लिए भी स्तूप बनाना चाहिये।[1] भगवान बुद्ध के इन वचनों से ज्ञात होता है कि भारत वर्ष में उनसे पहले भी मृतक के अस्थि अवशेषों पर स्मारक बनाने की परम्परा विद्यमान थी।

मौर्य कालीन स्तूपों में सारनाथ का धर्मराजिका स्तूप सर्वप्रथम परिगणित है।[2] इस काल की पालिश युक्त वेदिका से घिरे लघु आकार के एक अन्य स्तूप को विद्वानजन उद्देशिक स्तूप मानते हैं, जो सारनाथ का प्रथम स्तूप हो सकता है।[3] सम्भवत: इस स्तूप का निर्माण बुद्ध के निर्वाण के बाद हुआ जिसमें बुद्ध के अवशेष संग्रहीत थे।[4] 1794 ई० में जब काशी नरेश चेत सिंह के दीवान जगत सिंह ने यहाँ खुदाई करवायी तो इस स्तूप के गर्भ से एक गोलाकार पत्थर में रखी गई मंजूषा मिली थी, जिसमें संभवत: बुद्ध के अवशेष थे।[5] इस मंजुषा को वरुणा नदी में विसर्जित कर दिया गया था।[6] जिसे डंकन ने प्राप्त करके भारतीय संग्रहालय के सुपुर्द कर दिया जहाँ ये आज भी सुरक्षित हैं।[7] तत्पश्चात् धर्म राजितका स्तूप की खुदाई 1815 ई० में मैकेन्जी द्वारा कराई गयी थी। जिसमें प्राप्त वस्तुओं को कलकत्ता की एशियाटिक सोसइटी को प्रदान कर दिया गया था।[8] पुन: एमा राबर्ट्स द्वारा उत्खनन कराया गया जिसमें दो बुद्ध प्रतिमा मिली।[9] इस स्तूप का व्यास 44' × 3" है तथा इसकी ईंटे 19–1/2" × 14–1/2" × 2 1/2" तथा 16 1/2", 12 1/2", 3 1/2" आकार की हैं।[10]

ये सभी ईंटें स्तूप के गर्भ से प्राप्त हुई थीं। स्तूप के नीचे ईंटों के खण्डित अवशेष दिखलायी पड़ते हैं। धर्मराजिका स्तूप का भाग बराबर है। राजा कनिष्क के समय सर्वप्रथम इसका विस्तार हुआ। इसी कारण इस स्तूप की दूसरी सतह से प्राप्त ईंटों की माप 17" × 10 1/2" × 2 3/4" है। पुनः पांचवी छठी शताब्दी में धर्मराजिका का जीर्णोद्धार हुआ। उस समय स्तूप के चारों ओर 16' का चौड़ा प्रदक्षिणा पत्र बनाया गया जिसके बाहरी भाग के चारों ओर 4' × 5" का एक आकार बना हुआ था। इसके चारों तरफ द्वार भी थे।[11] सातवीं शताब्दी में उक्त प्रदक्षिणा पथ को पाटकर पत्थर की चार सीढ़ियां बना दी गयीं।[12] मूलतः यह अण्डाकार था जिस पर एकाश्म वेदिका बनी हुई थीं।[13] सारनाथ से सन् 1027 ई० में प्राप्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस स्तूप का नाम धर्मराजिका है तथा स्थिरपाल एवं वसन्तपाल द्वारा इसका जीर्णोद्धार किया गया था यथा -

सफली कृतपाण्डित्यौ बोधावविनिवर्तिनौ।
तौ धर्मराजिका सांगं धर्मचक्रपुनर्भवं।।
कृतवन्तौ च नवीनामषृमहास्थान शैलगंध कुटी।
एतां श्री स्थिरपालो वसन्तपालौ नुजः श्रीमान्।।[14]

ह्वेन सांग ने अपने यात्रा विवरणों में सारनाथ के स्तूपों का वर्णन करते हुए कहा है कि स्तूपों के आस-पास छोटे- छोटे मनौती स्तूप थे।[15] इस स्तूप की ऊंचाई इसी समय 300 फिट थी।[16] स्तूप बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्ति के जीवन की प्रथम महत्वपूर्ण घटना धर्मचक्रप्रवर्तन का बोध कराता है। धर्मराजिका नाम संकेत करता है कि अशोक ने बुद्ध के शरीर के अवशेषों को निकालकर अन्य अनेक स्तूपों में रखवाया तथा इस स्तूप का निर्माण संभवतः वहाँ किया गया जहाँ बुद्ध निवास करते थे।[17] धर्मराजिका स्तूप के चारों ओर लगी एकाश्म वेदिका चुनार के बलुआदार पत्थर को काटकर बनायी गयी थी।[18] मूलगंधकुटी के पास से चैत्य के समीप 1904-05 ई० में ओर्टल को यह वेदिका मिली थी।[19] इस वेदिका की लम्बाई 264 सेमी० और ऊंचाई 156 सेमी० थी। यह वेदिका धर्मराजिका स्तूप की चोटी पर लगाई गयी थी, जिस पर सर्वास्तिवादी आचार्यों का लेख खुदा है।[20] कुषाण काल में इस वेदिका को स्तूप से उतार

लिया गया। जब गुप्त काल में मूलगंध कुटी का निर्माण आरम्भ हुआ तो यह उसके नीचे दबा हुआ था। संभवतः इस सुन्दर कलाकृति को ऊपर से उतार कर कुषाण कालीन कुटी के स्थान पर स्थापित कर दिया गया था। इस वेदिका में *सम्वाहिका का नाम प्राकृत भाषा में* खुदे लेख से स्पष्ट होता है।[21] यह मौर्य कालीन वेदिका खण्डित रूप में मिली है, जिसके मूल स्थान में संबंध में विद्वानों में मतभेद है। फोगल का मत है कि यह वेदिका उस स्थान की पवित्रता का द्योतक है जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया था।[22] दयाराम साहनी का कथन है कि यह वेषृनी धर्मराजिका स्तूप के ऊपर हर्मिका रही होगी जो पूर्व स्तूप के शिखर भाग पर चारों ओर निर्मित थी तथा इसके मध्य में सांची स्तूप के सामान छत्र लगा था।[23] सारनाथ की वेदिका पर एक लेख भी उत्कीर्ण है जिस पर दान दाताओं का नाम दिया गया है।[24] इस वेषृनी पर अलंकृत त्रिरत्न, बोधीवृक्ष, पुष्पमाला, धर्मचक्र, छत्र इत्यादि दृष्टव्य हैं।[25] इसी काल का खण्डित बृहद्चक्र भी प्राप्त है।[26] इस पर क्रमशः कमलवेल, पूर्णघट, बोधिवृक्ष आदि के अलंकरण हैं। इन सभी स्तम्भों की लम्बाई 4' × 4", मोटाई 8" × 6" और ऊंचाई 4' × 2" तथा मोटाई 8 1/2' × 6" तथा लम्बाई 4' × 4", ऊंचाई 8' × 7" है।[27]

सारनाथ जाते समय मार्ग में चौखण्डी नामक स्तूप के भग्नावशेष दृष्टिगोचर होते हैं।[28] ये सारनाथ से 200 मी० दक्षिण पश्चिम दिशा में ऊंचा ईंटों का एक बड़े टीले के रूप में वर्तमान है।[29] इस टीले पर आठ कोण का स्तूप है[30] जो 84 फुट ऊंचा है।[31] ह्वेन सांग ने अपने यात्रा विवरण में इसका उल्लेख किया है।[32] इस बुर्ज का निर्माण टोडरमल के पुत्र गोवर्धन ने 1583 ई० में कराया था।[33] उस पर अकबर ने भी गुम्बज बनवाया था।[34] हुमायूं ने इस पवित्र स्थान पर एक दिन विश्राम किया था।[35] सन् 1835 ई० में कनिंघम ने अष्टकोण गृह के बीच में उत्खनन कराया जिससे उन्हें कलात्मक सामग्री प्राप्त हुई।[36] इसी स्थान पर बुद्ध ने पांच साधुओं को उपदेश दिया था जिसका विवरण बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है।[37] इस स्तूप के मूल भाग की ऊंचाई 52' × 8" है, जिसके ईंटों का आकार 29' × 2' है।[38] वाशुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि इस स्तूप पर किसी समय शिव प्रतिमा की स्थापना हुई थी।[39] फाहियान ने इस स्तूप को

विशाल स्तूप माना है।[40] संभवतः यही विशाल स्तूप था जिसकी चीनी यात्रियों ने वर्णन किया है।[41]

चौखण्डी स्तूप से कुछ दूरी पर धामेख स्तूप स्थित है। जिसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। संभवतः इसी स्थान पर बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि मैत्रेय बुद्ध का जन्म यहीं होगा।[42] घने वन के मध्य यह स्तूप बिना किसी आश्रय के गगनचुंबी रूप में स्थित है जो मूलतः मौर्यकाल में स्थापित हुआ था तथा गुप्तकाल में इसका जीर्णोद्धार हुआ तथा इस स्तूप की कलाओं का अनेक विद्वानों द्वारा उल्लेख किया है।[43] सर्वप्रथम कनिंघम द्वारा यहाँ 1836 ई० में वैज्ञानिक ढंग से उत्खनन प्रारम्भ कराया गया जिससे एक विशाल लेखांकित पट्टिका स्तूप में ऊपरी भाग से चार फुट नीचे मिली थी।[44] जिस पर छठी शताब्दी का एक लेख अंकित था यथा – ये धर्म्मा हेतु प्रभवा हेतु तेष्यान् तथागतस्य वदत्।

तेषश्च यो निरोधः एवं वादी महाश्रमणः।।[45]

कनिंघम का अनुमान है कि यह स्तूप छठी शताब्दी में स्थापित हुआ होगा।[46] किन्तु फोगल का कथन है कि यह लिपि सातवीं- आठवीं शताब्दी की है।[47] धमेख स्तूप एक ठोस गोलाकार बुर्ज के रूप में है, जिसका व्यास 28.35 मी० तथा ऊंचाई 39 मी० है। इसमें लगे ईंटों की लम्बाई चौड़ाई और मोटाई क्रमशः 14 1/2" × 8 1/2" × 2 1/2" है जो स्तूप में विद्यमान है।[48] इस स्तूप के नाम के संबंध में कनिंघम का अनुमान है कि धामेख धर्मोपदेश का परिवर्तित रूप है।[49] जबकि वाशुदेव उपाध्याय का कथन है कि धामेख शब्द धर्म का असांस्कृतिक रूप है।[50] साहनी एवं स्मिथ के अनुसार धामेख शब्द का अर्थ संस्कृत एवं धर्मेक्षा है।[51] वेनिश ने भी धामेख को धर्मेक्षा माना है।[52] आर० सी० मजूमदार के अनुसार धामेख शब्द पालि का धम्मेक तथा संस्कृत का धर्मेक्ष ही है।[53]

12वीं शताब्दी की मिट्टी की एक मोहर पर धमाक जयतु उल्लिखित है जिससे प्रतीत होता है कि किसी समय इस स्तूप का नाम धमाक था।[54] यह स्तूप बिल्कुल ठोस है जिसके मध्य में निधान गृह नहीं है और नीचे का भाग मोटी एवं चौड़ी ईंटों से निर्मित है।[55] इसकी सतह में प्रस्तर लगे हैं और स्तूप

का निम्न भाग सुन्दर खुदे प्रस्तरों से आच्छादित है तथा ऊपरी भाग ईंट का है।[56] यह 36' × 9" आकार के ऊपर लोके की कील से जड़े हुए पत्थरों से बना है जिसमें 8 बड़े ताखे बनाये गये हैं, इन ताखों में बुद्ध की मूर्तियां स्थापित थीं, जो वर्तमान में सारनाथस के संग्रहालय में रखी हैं।[57]

उत्तर भारत में अनेक स्थलों से प्राप्त मनौती स्तूपों का निर्माण बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध धर्मानुयायियों ने आरम्भ किया। सारनाथ के साथ-साथ मथुरा में भी यह स्तूप मिले हैं।[58] ओरटल ने इन स्तूपों का विवरण दिया है, जिसमें इन सभी स्तूपों का परिमाण दिया गया है।[59] मनौती स्तूप के खण्डित भाग सारनाथ में वर्तमान है जिनकी ऊंचाई भिन्न-भिन्न रूप में है इन स्तूपों में से कुछ पर नवीं से बारहवीं शताब्दी तक के लेख अंकित हैं जो बौद्ध सम्प्रदाय के हैं।[60] संभवतः इनका निर्माण अशोक के बाद किसी समय छोटे आकार के अनेक मनौती स्तूप बनाये गये।[61] इन स्तूपों में बुद्ध की सभी प्रमुख मुद्राओं की मूर्तियां मिलती हैं। ह्वेनसांग ने ऐसे स्तूपों का विवरण दिया है।[62] सारनाथ में धामेख स्तूप के पास कुछ छोटे स्तूप वर्तमान में भी मिलते हैं, जिनमें प्राप्त बुद्ध की मूर्तियों की मुद्राओं में सम्बोधि, धर्मचक्र परिवर्तन, भूमि स्पर्श एवं व्याख्यान मुद्रायें उपलब्ध हैं। इस प्रकार के स्तूपों का निम्न भाग वर्तालुकार गुम्बद तक बना है।[63] इसी प्रकार के स्तूप मथुरा में भी प्राप्त हैं।[64] इसमें भी सारनाथ की भांति मूर्तियां अभयमुद्रा में बनी हैं[65] तथा स्तूप में ताखें भी बने हैं जिनमें बुद्ध की मूर्तियां रखी जाती होंगी। सारनाथ प्रांगण भूमि के दोनों ओर अनेक प्रकार के स्तूप बने हैं। इसके पूर्व भाग में दो पंक्तियों में निर्मित 32 छोटे स्तूपों के अवशेष हैं। संभवतः ये सभी संकल्पित स्तूप हैं।[66] प्रधान मन्दिर के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में बहुसख्यक स्तूप हैं, कुछ स्मारक के रूप में अस्थि निधान बने हैं और प्रधान मन्दिर के निकट स्तूपों का जाल बिछा है। चुनाव के पत्थरों से निर्मित इसी प्रकार का लघु स्तूप सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित है।[67] इस पर धर्मचक्रम मुद्रा में सिंहासन से पैर लटकाये बुद्ध प्रतिष्ठित है तथा पीछे प्रभामण्डल पूर्व की भांति है और पारदर्शिक वस्त्र बुद्ध के अंग में विद्यमान है। मूर्ति के आयताकार पीठ के ऊपर अण्ड हर्मिका है। यह स्तूप कमल पुष्प के ऊपर प्रदर्शित है।[68]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म में स्तूप निर्माण की प्रक्रिया में सारनाथ के स्तूपों का विशिष्ट महत्व है। सारनाथ का इतिहास बुद्ध के सारनाथ आगमन से ही आरम्भ होता है। छठी शताब्दी ई० पू० में सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद सारनाथ के मृगदाव में पांच भिक्षुओं को उपदेश दिया था। इस पवित्र भूमि पर लगभग सभी धर्मों के विकास का प्रमाण कलाकृतियों से लगाया जाता है। यह स्थल धर्म के साथ-साथ कला का केन्द्र भी बन गया तथा इसका क्रम पूर्व मध्यकाल तक चलता रहा। बौद्ध धर्म में सारनाथ का विशेष महत्व है। आज सारनाथ बौद्धों के तीर्थ एवं पर्यटक स्थल के रूप में प्रसिद्ध हैं। इसके साथ ही सारनाथ भारतीय धर्म, कला एवं संस्कृति के अध्येताओं के आकर्षण का केन्द्र भी है। सारनाथ में भगवान बुद्ध के धर्मचक्र परिवर्तन करने के कारण इन स्तूपों का महत्व बौद्ध धर्म के साथ ही भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के लिए भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

संदर्भ

1. वाशुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० 136
2. ओम प्रकाश पाण्डेय, सारनाथ की कला, पृ० 33
3. फाहियान, पृ० 75
4. उ० प्र० (काशी अंक परिशिष्टांक) अंक 1 वर्ष 12 (ल० 1983)
5. बी० भट्टाचार्या, सारनाथ का इतिहास पृ० 68
6. जे० डंकन, बनारस गजेटियर, पृ० 350
7. दयाराम साहनी, सारनाथ केटलाग, पृ० 10
8. दयाराम साहनी, ए गाइड टू बुद्धिस्ट रुइन्स एट सारनाथ पृ० 7
9. आर० इलियट, व्यूज इन इण्डिया भाग 2, पृ० 7
10. आ० स० रि० 1903-04, पृ० 212
11. तत्रैव, पृ० 69
12. एच० सरकार, स्टडीज इन अर्ली बुद्धिस्ट, आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया पृ० 58
13. रक्षित भिक्षुधर्म, पृ० 120
14. साहनी दयाराम, पूर्वोक्त, पृ० 88
15. ह्वेन सांग का भारत भ्रमण, पृ० 310-340
16. एस० बील, रेकार्डस ऑफ बुद्धिस्ट रिलिजन, पृ० 29
17. वाशुदेव शरण अग्रवाल, सारनाथ, पृ० 64

18. बी० मजूमदार पृ० 30
19. आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ० 61 और 91
20. बी० मजूमदार पूर्वोक्त पृ० 30, साहनी दयाराम, पूर्वोक्त पृ० 208
21. एन्डरसन, आर्कियोलॉजिकल कैटलॉग ऑफ इण्डियन म्यूजियम, पृ० 9, बी० भट्टाचार्या, पृ० 86
22. फोगल पृ० 3
23. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला पृ० 105, दयाराम साहनी, पूर्वोक्त पृ० 11
24. आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया पृ० 72, साहनी, दयाराम पूर्वोक्त पृ० 209, भिक्षु धर्मरक्षित पूर्वोक्त पृ० 59
25. साहनी दयाराम पूर्वोक्त पृ० 209, वासुदेव शरण अग्रवाल पूर्वोक्त पृ० 15
26. आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पूर्वोक्त भाग 1, पृ० 21-22
27. साहनी दयाराम पूर्वोक्त पृ० 208-09
28. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर पृ० 83
29. ओम प्रकाश पाण्डेय, पूर्वोक्त पृ० 37
30. वासुदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त
31. रक्षित भिक्षु धर्म, पूर्वोक्त पृ० 156
32. ह्वेनसांग की भारत यात्रा, पृ० 333-37
33. रक्षित भिक्षु धर्म, पूर्वोक्त
34. वासुदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त
35. बी० मजूमदार पूर्वोक्त, पृ० 26-27
36. आ०स०रि० पूर्वोक्त पृ० 118
37. वासुदेव उपाध्याय पूर्वोक्त
38. ओम प्रकाश पाण्डेय पूर्वोक्त
39. वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोक्त पृ० 8
40. ए० एच० गाइल्स, दि ट्रेवेल्स ऑफ फाहियान, पृ० 61
41. वाटर्स, ऑन युवान च्वांग ट्रैवल्स इन इण्डिया पृ० 55
42. वासुदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त
43. सुशीला पन्त, ओरिजन एण्ड डेवल्पमेंट ऑफ स्तूप आर्किटेक्चर पृ० 15
44. आ० स० रि० पूर्वोक्त पृ० 103
45. साहनी दयाराम, पूर्वोक्त पृ० 58-59
46. आ० स० रि० पूर्वोक्त पृ० 111
47. फोगल, सारनाथ, कैटलाग, पृ० 12
48. आ० स० रि० पूर्वोक्त पृ० 74

49. तत्रैव, पृ० 103
50. वासुदेव उपाध्याय पूर्वोक्त
51. दयाराम साहनी, पूर्वोक्त पी० ए० स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन पृ० 168
52. ज० प्रा० ए० सो० आ० व० भाग 2, पृ० 445-47
53. बी० मजूमदार, पूर्वोक्त पृ० 40-41
54. ओम प्रकाश पाण्डेय पूर्वोक्त, पृ० 36
55. तत्रैव
56. वासुदेव उपाध्याय, पूर्वोक्त
57. आ० स० रि० पूर्वोक्त
58. ओम प्रकाश पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 37
59. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ० 99
60. तत्रैव, पृ० 103-04
61. ओम प्रकाश पाण्डेय, पूर्वोक्त, पृ० 38
62. ह्वेनसांग की भारत यात्रा, पृ० 223
63. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, प्ले 25
64. फोगल, कैटलाग ऑफ दी आर्कियोलॉजिकल म्यूजियम एट मथुरा, पृ० 166
65. तत्रैव, पृ० 166-69
66. ओम प्रकाश पाण्डेय, पूर्वोक्त
67. साहनी दयाराम, पूर्वोक्त पृ० 217-19
68. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ० 99, साहनी दयाराम, पूर्वोक्त, पृ० 21

13

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध परम्परा का प्रभाव

आशाराम

संस्कृति मानव को मानव बना देने वाले कतिपय विशिष्ट तत्वों में अन्यतम् है। वे सारी अभिव्यक्तियां ही संस्कृति हैं जो मनुष्य को मानसिक आत्मिक एवं बौद्धिक विशिष्टता प्रदान करती हैं। किन्तु यह संस्कृति किसी एक व्यक्ति के कुछ समय के अथवा सम्पूर्ण जीवन के कार्यों से निर्मित नहीं होती। यह संस्कृति तो किसी भी देश के ज्ञात अथवा अज्ञात असंख्य व्यक्तियों के दीर्घकालीन एवं कष्ट साध्य प्रयत्नों के परिणाम से पल्लवित पुष्पित होती है। देश की परम्परागत सम्पूर्ण मानसिक निधि ही संस्कृति शब्द में समाहित हो जाती है। समय की निर्वाध गति में सभी अपनी-अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार अपने देश की संस्कृति निर्माण में योगदान देते जाते हैं। श्री हरिदत्त वेदालंकार ने संस्कृति निर्माण की इस प्रक्रिया के लिए अत्यन्त सुन्दर उपमान प्रस्तुत किया है। 'संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पायी जाने वाली मूंगे की भीमकाय चट्टानों से की जा सकती है। मूंगे के असंख्य कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गये, फिर नये कीड़ों ने घर बनाये उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी अगली पीढ़ी ने भी वही किया, और यह क्रम हजारों वर्ष तक निरन्तर चलता रहा। आज उन सब मूंगों के नन्हें-नन्हें घरों ने परस्पर जुड़ते हुए विशाल चट्टानों का रूप धारण कर लिया है। संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्माण होता है और उनके निर्माण में हजारों वर्ष लगते हैं। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण,

संस्थाओं, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म-दर्शन, लिपि भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति की भी इसी प्रकार रचना हुई है।'

किसी भी देश की संस्कृति उसके विभिन्न युगों के आचारों एवं विचारों की परम्परा से उत्पन्न एक भूषण युक्त परिष्कृत स्थिति की द्योतक होती है। विश्व में प्राचीन एवं अर्वाचीन अनेक संस्कृतियां हैं। किन्तु उन सब में भारतीय संस्कृति का स्थान अनुपम एवं सर्वोच्च है। विद्वानों के एक वर्ग का मानना है कि भारतीय संस्कृति मूलतः हिन्दू संस्कृति है। प्राचीन काल से लेकर आज तक अनेक बाहरी जातियां शक, हूण, सीथियन आदि इस देश में आयी और सभी को इस ग्रहणशील संस्कृति ने उदरस्थ कर लिया। सभी ने अपने प्रभावों से इसके ऊपर छाप छोड़ी पर इस संस्कृति का मूल स्वर हिन्दू ही रहा। इसके बाद भारत में मुसलमान और ईसाई जातियां आयीं। इन जातियों की अपनी अलग संस्कृति और सभ्यता थी, ये भारत वर्ष में शताब्दियों से एक शासक के रूप में रहीं और भारत के विशाल हिन्दू समाज में विलीन न हो सकीं। इन्होंने हिन्दुओं से अपने आचार-विचार, धर्म दर्शन, रीति रिवाज, खान-पान, और वेशभूषा में अपना पृथकत्व बनाये रखा। फिर भी इन जातियों ने हिन्दू संस्कृति को प्रभावित किया। प्रतिदान में हिन्दू संस्कृति ने इन संस्कृतियों पर अपना संस्कार डाला पर इनकी संस्कृति भारत में परम्परा से चली आने वाली प्रवाहमान हिन्दू संस्कृति से भिन्न रही।

भारतीय संस्कृति में मूलतः हिन्दू संस्कृति देखना और घोषित करना वस्तुतः संकीर्ण दृष्टि का परिचायक हैं, क्योंकि आज हिन्दू शब्द अपनी अर्थ व्यापकता खो चुका है। यदि हिन्दू और हिन्दी शब्द के आदि सृष्टाओं के द्वारा मान्य अर्थ को आज भी ग्रहण किया जाता तो, हिन्दू शब्द का अर्थ निकलता - भारतीय। आज हिन्दू शब्द भारतीय पर्याय न रहकर एक धार्मिक जाति विशेष के लिए प्रयुक्त होता है। यह प्रयुक्ति आज की नहीं है, तब की है जब इस्लाम इस देश में आया और उसने अपने पॉव पसारने के लिए काफिर की इस्लामी परिभाषा ग्रहण करते हुए काफिरों को समस्त गैर इस्लामी भारतीयों को हिन्दू मानकर नेस्तनाबूद करने का बीड़ा उठाया। यह काम घृणा के साथ

इस्लामी फौज ने किया और प्रेम के साथ सूफियों ने। तभी से प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय (हिन्दुओं) में इस्लामियों के प्रति घृणा का भाव उपजा और उनके साथ हर प्रकार की वर्जना, निषेध और दूरी की शुरूआत हुई। हमारे हिन्दु बुद्धिजीवियों ने भारतीय संस्कृति को भले ही हिन्दू संस्कृति घोषित किया हो, लेकिन उनके मन में कहीं न कहीं भारतीयता की भावना अवश्य बसी हुई है। लेकिन वे द्वन्द्वात्मक भाव से घोषित करते हैं कि आज भी भारत में विभिन्न जातियां रहती हैं और उन्हें हम उचित रीति से भारतीय भी कहते हैं, पर जब भारतीय संस्कृति का प्रश्न उठता है तो यह विचारणीय विषय बन जाता है कि किसे भारतीय संस्कृति कहें। हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, या ईसाई संस्कृति को? एक विकल्प सामने आता है कि इन सब की मिली जुली संस्कृति को भारतीय संस्कृति कहा जाय।

इस मिली-जुली संस्कृति को भारतीय संस्कृति कहना सर्वथा उपयुक्त होगा, परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका ताना वही है जिसे आर्य या हिन्दू नाम से उपलक्षित किया जा सकता है। बाने के सूत इधर-उधर से आये हैं पर वे सब ताने पर आश्रित हैं। गंगा में बहुत सी छोटी-बड़ी नदियां मिली हैं। परन्तु मिलने पर जो पयस्विनी बनती है, वह गंगा ही कही जाती है। इस न्याय से भारतीय संस्कृति को हिन्दू संस्कृति कह सकते हैं।

विश्व की अन्य सभी संस्कृतियों ने कट्टरता एवं मदान्धता के तत्व दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु इसके विपरीत भारतीय संस्कृति की विशिष्टता उसकी सहनशीलता में है। विश्व की अन्य संस्कृतियों ने अपने ही देश में पनपने वाली नवीन प्रवृत्तियों को सहन नहीं किया, इसी कारण सुकरात को विषपान करना पड़ा और ईसा को मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा। परन्तु किन्तु भारतीय संस्कृति ने विभिन्न प्रवृत्तियों और प्रभावों को सहर्ष सहन कर लिया। इस संस्कृति ने प्रत्येक व्यक्ति को विचार, धर्म एवं विश्वास की स्वतंत्रता दी। यही कारण है कि अन्य संस्कृतियों में भगवान के रूप में पूज्य आराध्यदेव एक हैं। किन्तु भारत में आराध्य देवों की सम्पूर्ण परिगणना कर सकना सम्भव नहीं है। मनुष्य की विविधात्मक प्रवृत्ति को परिलक्ष्य करके ही ऋषियों ने ऋग्वेद में ही सभी देवताओं को एक परब्रह्म के विविध रूप घोषित कर दिया था। कालान्तर

में वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया में बौद्ध और जैन धर्म उदित हुए, तो बुद्ध और महावीर को भी अवतारों में परिगणित कर लिया गया। सहनशीलता के इसी गुण के कारण भारत में सारे धार्मिक विश्वास, सारी भिन्न-भिन्न पूजा विधियां विभिन्न रहन-सहन, खानपान, आदि सभी एक साथ स्वीकृत रहते आये हैं। भारतीय संस्कृति के इसी वैशिष्ट्य के कारण भारत में साम्प्रदायिक युद्धों एवं रक्तपात का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं होता।

बौद्ध धर्म मूलतः हिन्दू धर्म का ही एक सुधार वादी दृष्टिकोण था। बौद्ध धर्म ने जिन सिद्धान्तों को अपनाया वे वस्तुतः नये नहीं थे। वरन् सारे ही उपनिषदों ने उनका प्रतिपादन किया था। किन्तु भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर बौद्ध धर्म ने अपनी विलक्षण एवं अमिट छाप छोड़ी है। भारत के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक कला सम्बन्धी सभी क्षेत्र बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित हुए हैं। जिसका विवरण निम्नलिखित है -

बौद्ध धर्म पूर्ववर्ती जटिल हिन्दू धर्म की अपेक्षा अत्यन्त सरल एवं कर्मकाण्ड रहित था। हिन्दू धर्म में प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक रूप देवताओं की याज्ञिक उपासना प्रचलित थी अथवा निर्गुण ब्रह्म का अध्यात्मवाद था। यह सारा धर्म सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए समझ पाना आसान नहीं था। बुद्ध धर्म ने इस कठिनता को दूर कर दिया। बौद्ध धर्म में ही सर्व प्रथम व्यक्तित्व को भी प्रधानता मिली। बौद्ध धर्म की सरलता, शिष्ट नैतिक नियम, सामूहिक प्रार्थना तथा पूजन, उपमा और दृष्टान्तों से समन्वित उपदेश का सर्वप्रिय ढंग इन सबने मिलकर भारतीय जीवन पद्धति पर ही बहुत प्रभाव डाला।

बौद्ध धर्म में सत्य, सदाचार, काम, क्रोधादि छः विकारों का त्याग, अपरिग्रह, जनसेवा आदि उच्च नैतिक नियमों के पालन में जन मानस की नैतिकता का स्तर भी ऊंचा किया। इससे पूर्व में सारे सिद्धान्त मात्र थे, किन्तु बुद्ध एवं उनके भिक्षुओं ने इन समस्त गुणों को अपनी जीवन पद्धति में साक्षात प्रयोग करके भी दिखा दिया जो जैसा करेगा वैसा ही भरेगा। आत्मा की पवित्रता शुद्ध कर्म से ही सम्भव है। अतः अष्टांगिक मार्ग पर चलकर ही दुःख से निवृत्ति सम्भव है। बुद्ध के इन उपदेशों ने व्यक्तिगत जीवन के निर्वाह का मार्ग भी उत्कृष्ट किया, जिससे समाज में उच्च नैतिकता स्थापित हुई।

बुद्ध से पूर्व भारतीय समाज में जाति प्रथा के कारण ऊंच-नीच का बहुत भेदभाव था। ब्रह्मण पूज्यतम थे और शूद्र अस्पृश्य एवं अधमतम। बौद्ध धर्म ने सब मनुष्यों में समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया। समानता से दयाभाव एवं दया से सहिष्णुता का भाव स्वतः ही उत्पन्न होता है। बौद्ध धर्म में अनेक राजाओं को प्रेम, शान्ति, सहन, शीलता, दया तथा प्रजावत्सल्य का पाठ पढ़ाया, जिससे प्रजा बहुत सुखी हुई। अशोक, कनिष्क हर्षवर्धन आदि ऐसे प्रसिद्ध राजा हैं।

बौद्ध धर्म के विचारों एवं नैतिकता की भावना ने हिन्दू धर्म के स्वरूप को बहुत प्रभावित किया। बौद्धों ने अहिंसा के सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप से सफल कर दिया था। इस अहिंसा ने हिन्दू धर्म में भी पशु बलि को भी बहुत अधिक प्रभावित किया, यज्ञों में पहले से सदृश्य हिंसा नहीं रही। वस्तुतः परवर्ती भागवत (वैष्णव) धर्म का जन्म ही बौद्ध धर्म के अप्रत्यक्ष प्रभाव से हुआ। भागवत धर्म का अहिंसा परमो धर्मः बौद्ध धर्म की ही देन है।

बौद्ध धर्म से पूर्व भारत में मूर्ति पूजा नहीं थी। समस्त धार्मिक अनुष्ठान यज्ञ में ही सम्पन्न होते थे। मूर्ति पूजा का प्रारम्भ बौद्धों के द्वारा किया गया। बौद्ध धर्म की महायान शाखा ने बुद्ध एवं बोधिसत्व की सुन्दर अलंकृत प्रतिमाएं बनाई। उस पर मंदिरों का निर्माण किया तथा उनकी विविध प्रकार की पूजन विधि भी विकसित की। इसका प्रभाव अन्य धर्मों पर भी पड़ा, जिनमें भारत का ब्राह्मण धर्म भी था। इस प्रकार भारत में मूर्ति पूजा प्रारम्भ करने का श्रेय बौद्ध धर्म को है।

बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व भारतीय संस्कृति में तपस्वी, ऋषि, मुनियों, परिव्राजकों, सन्यासियों आदि का तो उल्लेख है किन्तु सुव्यवस्थित संगठन बनाकर अपना धर्म प्रचार करने की प्रभा का कोई संकेत नहीं है। बौद्ध धर्म की संघ व्यवस्था ने भारतीय संस्कृति को एक नई देन दी। ये बौद्ध संघ प्रजातांत्रिक प्रणाली पर सुगठित अनुशासनशील समुदाय थे। जो अपने धर्म के प्रचार में तत्पर रहते थे। इन्हीं बौद्ध संघों से प्रभावित होकर अन्य धर्मों में भी मठ, राम द्वारे, सन्यासी, सम्प्रदायों के अखाड़े और महन्तों के समुदाय आदि विकसित हुए।

ब्राह्मण धर्म में वेद ईश्वरीय ज्ञान तथा शब्द प्रमाण रूप थे। इसके फलस्वरूप बौद्धिक क्षेत्र में पुरोहितों का एकाधिकार हो गया था। इस एकाधिकार ने स्वतंत्र एवं व्यक्तिगत बौद्धिक चिन्तन के विकास को लगभग प्रतिबन्धित कर दिया, किन्तु बुद्ध ने अपने शिष्यों को प्रधानता दी। बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'आत्मदीप बनो' मेरे वचनों और उपदेशों को आप्त वचन न मानकर उन्हें तर्क और विवेक की कसौटी पर भली प्रकार कसो। इससे उत्साहित होकर बौद्ध दार्शनिकों ने तत्व ज्ञान की विभिन्न समस्याओं पर स्वतंत्र चिन्तन किया। इसी लिए भारतीय दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में बौद्ध दार्शनिकों की विचारधाराएं भारतीय तत्वज्ञान के उच्चतम् विकास की परिचायिका है। नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिक भारत के ही नहीं अपितु समग्र विश्व के श्रेष्ठतम दार्शनिकों में परिगणित है।

बौद्ध धर्म ने इन सभी कलाओं को स्थायी आधार भी दिया और उन्हें अत्यधिक समृद्ध भी किया। बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए देश भर में बड़े-बड़े विहार बने। बुद्ध के अवशेषों पर पाषाण के स्तूप बने। बुद्ध के वचनों और उपदेशों को खोद कर स्तम्भ खड़े किये गये। इन सबसे वास्तुकला की अत्यधिक उन्नति हुई। सांची, भरहुत, अमरावती के स्तूप आज भी भारतीय कला के अनुपम उदाहरण हैं। सांची स्तूप की सुन्दर परकोटा, भित्ति तथा चार कलापूर्ण द्वारा आज भी बेजोड़ हैं। बुद्ध की मूर्तियों में भारतीय मूर्तिकला का चरमोत्कर्ष परिलक्षित होता है। चित्रकारों ने बुद्ध के सम्पूर्ण जीवन तथा सम्पूर्ण घटनाओं को सुन्दर चित्रों में अंकित करके अमर कर दिया। अजन्ता, एलोरा, बाघ तथा बारबरा के गुहा चित्र विश्व भर में प्रसिद्ध हैं। तथा भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने वास्तु, स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र इन विविध कलाओ को विशिष्ट रूप से गतिशील करके सर्वश्रेष्ठ सोपान तक पहुंचा दिया।

बौद्ध धर्म ने ऊंच-नीच भाव के विनाश लोक भाषा के प्रयोग तथा आडम्बर मुक्ति के द्वारा भारत की सामाजिक एकता को सुदृढ़ किया उससे स्वतः ही उस युग में भारत की राजनैतिक एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ तथा भारतीय राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ।

बौद्ध धर्म की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन यह है कि इस धर्म ने अन्य अनेक देशों के साथ भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध कर दिया, भारत के बौद्ध धर्म प्रचारकों ने मध्य एशिया, चीन, मंगोलिया, मंचूरिया, जापान, कोरिया, जावा सुमात्रा, मलाया, लंका, आदि देशों तक इस धर्म का प्रचार किया, जिससे इन देशों में भी भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ। इसके फलस्वरूप इन विदेशों में भारत वर्ष एक तीर्थ स्थल की भांति पवित्र हो गया। अनेक बुद्धोपासक भारत आने के लिए लालायित रहते थे। फाह्यान, ह्वेन सांग आदि अनेक चीनी यात्री विविध कष्ट सहकर भारत आये। वर्षों तक भारत में रहे और यहाँ से पवित्र ज्ञान एवं सस्कृति की अमूल्य धरोहर लेकर अपने देश वापस गये।

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का एक दुःखद प्रभाव भी पड़ा है। इस धर्म ने अहिंसा और जीवन दया पर सर्वाधिक बल दिया। बौद्ध धर्म के प्रभाव में आकर अशोक ने पुनः कभी युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की और अपनी शासन नीति परिवर्तित कर डाली। युद्ध न करने की स्थिति में सेना आलसी, शिथिल तथा निष्क्रिय बनी और सामान्य जनता की प्रवृत्ति भी रक्तपात आदि विमुख हो गयी। शस्त्रागारों का प्रशिक्षण और अभ्यास बहुत कम रह गया। इसी कारण जब भारत पर विदेशी आक्रान्ताओं ने बर्बर आक्रमण किये तो भारत को पुनः पराजय का मुख देखना पड़ा। केन्द्रीय राज्य सत्ता के अहिंसक हो जाने पर व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई और देश छोटी-छोटी अनेक ईकाइयों में बंट गया। क्रमशः अहिंसा का सिद्धान्त बद्धमूल हो जाने पर भारत से दीर्घकाल के लिए सैनिक भावना का लोप हो गया। भारतीय इतिहास पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का यह दुःखद पहलू है।

संदर्भ

1. भारतीय संस्कृति, प्रीति प्रभा गोयल।
2. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर।
3. भारतीय दर्शन, डॉ० राधा कृष्णन्।
4. बौद्ध दर्शन के मूल आधार, हेलेना रेरिख।
5. भारतीय संस्कृति, डॉ० किरण टण्डन।
6. हिन्दी सूफी, साहित्य में हिन्दू संस्कृति, डॉ० कन्हैया सिंह

14
जातक कथाओं में महोत्सव

दुर्गेश कुमार त्रिपाठी एवं अंजनी कुमार मिश्र

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का काल विश्व के बौद्धिक आन्दोलन का काल माना जा सकता है। इसी काल में विश्व के विभिन्न धर्म आन्दोलनों का जन्म हुआ। जैसे पार्थिया के जरथुस्थ, चीन के कन्फ्यूसियस, लाओत्सो, ग्रीक का पाइथागोरस, इजराइल का जर्मिया तथा विभिन्न भारतीय आन्दोलन। भारतीय आन्दोलनों में ऐसे 62 विभिन्न आन्दोलन ज्ञात थे, जिनमें मुख्यत: निवृत्तिवादी धर्म है। इनमें बौद्ध धर्म सर्वश्रेष्ठ है।

एक विचार के अनुसार - 'चारों ओर मनुष्य की जिज्ञासा युग-युग के पूंजीभूत विश्वासों के आवरण को चीर कर प्रत्येक वस्तु के अन्तस्तत्व को देखना चाहती थी। मनुष्य की उद्भूत तर्कशीलता अब किसी भी पुरातन मत को ग्रहण करने के पूर्व, पहले उसे भलीभांति परख लेना चाहती थी। उस समय प्राचीन अन्धविश्वास कांप रहे थे, कर्मकाण्ड की विशाल दीवारें, जर्जरित हो रही थीं।[1]' अत: भारतीय सभ्यता, संस्कृति और इतिहास के नव-निर्माण तथा *सामाजिक अभ्युत्थान की दिशा में जिन सुधारवादी धार्मिक सम्प्रदायों का* सर्वाधिक योगदान रहा, धर्म का उनमें प्रमुख स्थान है।

सैन्धव वासियों के मनोरंजन के अनेक साधन थे। उत्खनन में अनेक मिट्टी की बनी पशुओं की मूर्तियां, बौने की मूर्तियां, गाड़ियां प्राप्त हुई हैं।[2] मोहनजोदड़ों से कांसे की बनी एक नृत्यरत नारी की मूर्ति, एवं एक मुद्रा पर मानव आकृति ढोल बजा रहा है। हड़प्पा से सार्वजनिक कुओं के पास से ईंटों की बनी एक बेंच मिली है। एक विचार के अनुसरा यहाँ स्त्रियां पानी भरने आती थीं और यहाँ बैठकर मनोरंजन हेतु गीत गाती थीं।[3] वैदिक काल वाद्य-यंत्रों

में दुन्दुभी[4] (अवनद्ध वाद्य), कर्करी[5] (तन्तु वाद्य), वण,[6] नाड़ी[7] (सुशिर वाद्य) आदि प्रमुख थे। वैदिक काल की भांति पाणिनी काल में भी द्यूत' होता था।[8] यह परसों (अक्षों) खेला जाता था।[9] एक निश्चित स्थान पर विभिन्न प्रकार के मनोरंजन का आयोजन होता था जिन्हें उत्सव कहा जाता था।[10] अशोक के स्तम्भलेखों और महाभारत में उसे 'समाज' कहा गया है। मनोरंजन हेतु संगीत-नृत्य का आयोजन होता था।[11]

बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत कौमुदी महोत्सव के शुभावसर पर सम्पूर्ण नगर भव्यता के साथ सजाया जाता था।[12] न केवल नगर ही बल्कि नागरिक भी विशिष्ट रूप से सजते थे। इस अवसर पर सम्पूर्ण नगर में अवकाश दिवस के रूप में मनाया जाता था।[13] समस्त नगर के लोग मनोरंजन के विभिन्न साधनों से आमोद-प्रमोद करते थे तथा स्वच्छन्द होकर घूमते थे।[14] जिसकी पुष्टि पालि साक्ष्य से होती है। जहाँ स्त्रियां अपने प्रेमियों के गले में बाहें डालकर घूमना पसन्द करती थीं।[15] वहीं साल मंजिका पर्व के अन्तर्गत एक निश्चित तारीख को शालवन में मनाया जाता था।[16] इस शुभावसर पर शालवन के प्रत्येक वृक्ष शाल-पुष्पों से घिर जाते थे। पुरुष, स्त्री, बच्चे सभी उन पुष्पों को तोड़कर विशेष आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते थे। हस्तिमंगलोत्सव समाज के संभ्रान्त वर्ग तक ही सीति था। यह अभिजात वर्ग का वैभवपूर्ण पर्व समझा जाता था।[17] राजा की उपस्थिति इस समारोह का शुभारम्भ एवं समापन वेदज्ञ ब्राह्मण करता था। यह समारोह राजमहल के प्रांगण की शोभा बढ़ाता था। इस पर्व के अवसर पर राजदरबार विशेष रूप से अलंकृत करके उसमें स्वर्ग परिष्टोम ध्वज एवं जाल से सुशोभित हाथियों को पंक्ति में खड़ा किया जाता था।

गिरज्ज समज्ज धार्मिक उत्सव था। इस उत्सव में राजपरिवार के लोग भी शामिल होते थे। इस पहाड़ी पर देवता का निवास समझा जाता था, उनके सम्मुख नृत्य संगीत आदि का आयोजन होता था। यह पर्व राजगृह की पहाड़ी पर किया जाता था।[18] कर्षणोत्सव पर्व अन्नपूर्णा माता को प्रसन्न करने के निमित्त मनाया जाता था। स्वामी द्वारा हल चलाने की रस्म पूरी होने पर कृषक कृषि कर्म प्रारम्भ करते थे। सुरा नक्षत्र वर्ष की मुख्य विशेषता मद्यमांस का

सेवन[19] और संगीत नृत्त्य का भरपूर रसास्वादन करना था। प्रत्येक वर्ष यह उत्सव विशेष रूप से उमंग के साथ मनाया जाता था। इस दिन तपस्वी भी सुरपान का सेवन करते थे।[20] किन्तु यह कथन मान्य नहीं है। वहीं राजा एवं प्रजा भी समान रूप से मद्यपान करते थे।[21] मद्यपान के पश्चात कुछ घटनाएं भी घटित हो जाती थीं। इन पर्वों के अतिरिक्त संगीत, नाटक, नृत्य, समूह-गान एवं नर्तक, लाठीयुद्ध, मल्लयुद्ध, हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, महिषयुद्ध, वृषभयुद्ध, मुर्गों की लड़ाई का आयोजन कभी-कभी राजदरबार के प्रांगण में भी होता था।[22]

इस प्रकार वर्ष भर किसी न किसी पर्व, उत्सव का आयोजन होता था। वर्णगत एवं स्तरगत भेदभाव से दूर, समाज के समस्त नागरिक अद्‌भुत उत्साह एवं उल्लास के साथ इन जनप्रिय पर्वों में भाग लेते थे। राजा एवं गरीब, अमीर एवं साधारण जन, गृहस्थ एवं सन्यासी, बच्चे एवं वृद्ध, स्त्री एवं पुरुष, समस्त लोक इन महोत्सव के शुभ अवसर पर पुलकित एवं मुखरित हो उठते थे।

संदर्भ

1. पाण्डेय, विमल चन्द्र, भाग 1, 1996, इलाहाबाद चतुर्थ संशोधित संस्करण, प्रकाशक, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 254
2. पाण्डेय, विमल चन्द्र, भाग 1, 1996, इलाहाबाद चतुर्थ संशोधित संस्करण, प्रकाशक, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 120
3. श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र, प्रथम आवृत्त 1991, इलाहाबाद, प्रकाशक यूनाइटेड बुक डिपो, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ० 41
4. ऋग्वेद संहिता, 1977, बान, सम्पादक, थॉमस ऑफ्रेख्ट, 1.28.5
5. ऋग्वेद संहिता, 1977, बान, सम्पादक, थॉमस ऑफ्रेख्ट, 2.43.3
6. ऋग्वेद संहिता, 1977, बान, सम्पादक, थॉमस ऑफ्रेख्ट, 10.32.4
7. ऋग्वेद संहिता, 1977, बान, सम्पादक, थॉमस ऑफ्रेख्ट, 10.135.7
8. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी, 1929, निर्णय सागर प्रेस, 3.3.37
9. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी, 1929, निर्णय सागर प्रेस, 4.4.19
10. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी, 1929, निर्णय सागर प्रेस, 3.3.96
11. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी, 1929, निर्णय सागर प्रेस, 3.1.145-146

12. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 1.433, 1.499, 1.508 (अंग्रेजी अनुवाद)
13. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 1.499
14. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 1.499
15. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 1.499
16. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 1.52
17. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 2.46-49, 4.91, 5.286
18. चुल्लवग्ग, 5.2.6, 6.2.7
19. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 1.489
20. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 1.362
21. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 4.116
22. जातक, 1890.96, लन्दन, सम्पादक, फाउल्स बोल, ट्रबनर एण्ड कम्पनी, 1895-1909, अनुवादक कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, 2.253, 3.46-49

15

बौद्ध परिक्षेत्र में शैलकृत वास्तु कला

राम गोपाल शुक्ल

बुद्ध धर्म के अभ्युदय के साथ बौद्ध सम्प्रदाय के सम्मुख विभिन्न समस्याएं आयी जिनका समाधान बुद्ध ने स्वयं किया। धर्म कार्य के विकास के साथ भिक्षुओं की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी अतः यह भी समस्या था कि भिक्षुगण का निवास कहाँ स्थिर किया जाय? चुल्लवग्ग में वर्णन आता है कि राजगृह के नगर श्रेष्ठी ने भगवान से प्रार्थना की कि भिक्षुओं के लिए निवास अथवा निर्मित स्थान में रहने की अनुमति मिलनी चाहिये, अन्तोगत्वा परिव्राजक की गतिशीलता का ध्यान रखकर बुद्ध ने शिष्यों को निर्मित स्थान में रहने की अनुमति दे दी, अतः धनी सेठ लोग बौद्ध भिक्षुओं को निवास बनवाकर दान देने लगे। जिसमें पर्वत की गुफा भी शामिल है। महावग्ग में बिहार का अनगिनत उल्लेख मिलता है। निवास के लिए नगर के कोलाहल से दूर शांत वातावरण तथा तपस्या के योग्य पर्वत से सम्बन्धित गुहा ही सब कठिनाइयों का अन्तिम हल माना गया। नगर के समीप पर्वत खोदकर गुहा निर्माण का कार्य शुरू किया गया, परन्तु पूर्वी भारत के प्रस्तर कमजोर तथा मिट्टीदार थे। इस कारण वहाँ गुहा का स्थानीय रूप नहीं हो सका। ठोस पर्वत को ढूंढने का श्रेय मौर्य सम्राट अशोक को गया। अतः अशोक ने बिहार की बराबर पर्वत श्रेणी में गुफाएं में उत्कीर्ण कराने की परिपाटी का आरम्भ किया जिसे अशोक के पौत्र दशरथ ने इस वास्तु शैली को आगे बढ़ाया और नागार्जुनी पहाड़ी में वैसी ही गुफाएं खुदवाकर उन्हें आजीवक भिक्षुओं को दान दिया। अशोक के समय ही बौद्ध धर्म का पश्चिम भारत में गिरिनार पहाड़ी (रैवतक पर्वत) सोपरा, सौराष्ट्र के जूनागढ़ तक हुआ।[1] सौराष्ट्र के मध्य जूनागढ़ में पूर्ववर्ती

तलाज और प्रायदीप के दक्षिणी भाग के सान नामक स्थान पर लगभग एक सौ चालीस गुफाएं मिली हैं, जो कहीं एक गर्भशाला और कहीं बहु गर्भ शालाओं के रूप में खुदी हैं।[2]

वास्तव में बौद्ध वास्तु कला का प्राचीनतम रूप स्तूप, चैत्य और बिहार थे, विनय पिटक में पांच प्रकार के लयनों अथवा शयनासनो का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें बिहार, प्रसाद हर्म्य एवं गुहा कहा गया है।[3] इसमें पहाड़ी काटकर गुहा निर्माण की प्रक्रिया ने ही क्रमशः प्रस्तर कला के विकास को आधार प्रदान किया।

गुहा के दो रूप थे – एक चैत्यगृह और दूसरा बिहार चैत्यगृह में कोई रहता न था वह केवल पूजा का स्थान था, जबकि बिहार भिक्षुओं का आवासगृह था। चैत्य की आकृति वृतायत अर्थात् घोड़े की नाल जैसी होती थी। इसका आरम्भिक भाग आयताकार और अन्तिम भाग अर्द्धवृत्ताकार होता था। अर्द्धवृत्ताकार भाग में छत के नीचे ठीक मध्य में चट्टान को काटकर ठोस अण्डाकृति में स्तूप की रचना की जाती थी। बीच के लम्बे मण्डप में पूजा–पाठ और संगीत के लिए भिक्षु एकत्र होते थे, चैत्यगृह की छत गजपृष्ठाकृति होती थी।[4] कालान्तर में वास्तु की इस शैली का विस्तार बौद्ध धर्म के साथ भाजा, कार्ले, कन्हेरी आदि स्थानों पर चैत्य मन्दिर के रूप में हुआ, इन्हें शैलकृत वास्तुकला भी कहा जाता है।[5]

चैत्यगृह एवं बिहार दोनों ही बौद्ध पर्वतीय गुफा वास्तु के महत्वपूर्ण अंग है, केवल तीन चैत्यगृह चिनाई से बनाए गये हैं – एक सांची में, दूसरा तेर में (नलल दुर्ग हैदराबाद) और तीसरा चेजरला (कृष्णा जिला) में, स्तूप में बुद्धमूर्ति के अभाव एवं निर्माण के आधार पर बौद्ध धर्म की दो शाखाओं के अनुसार इन्हें भी दो वर्गों में विभाजित किया गया है।

हीनयान युगीन चैत्यगृह एवं बिहार (द्वितीय शताब्दी ई०पू० से द्वितीय शताब्दी ईस्वी तक) इस युग के आठ चैत्यगृह प्रसिद्ध है – भाजा, कोण्डाने, पीतल–खोरा, अजन्ता (गुफा सं० 10) बेडसा, अजन्ता (गुफा सं० 9) नासिक और कार्ले। इनमें भाजा का चैत्यगृह सबसे प्राचीन है जबकि कार्ले का चैत्यगृह भव्यता, विशालता और कलात्मकता में सर्वोत्तम था।[6]

भाजा चैत्यगृह अन्त: भाग में 55 फीट लम्बा एवं 26 फीट चौड़ा है, स्तम्भों एवं भित्ति के मध्य 2 1/2 फीट का प्रदक्षिणापथ है, गज पृष्ठाकार छत 29 फीट ऊंची है तथा मण्डप में 11 फीट ऊंचे स्तम्भ है, मण्डप का अंतिम सिरा अर्द्ध चन्द्राकार है, मण्डप तथा स्तूप को घेरते हुए 27 सोद अष्टांशिक स्तम्भ बने हैं। स्तम्भ अपने ब्रह्म सूत्र से भीतरी ओर 5 इंच झुके हुए हैं। स्तूप पूर्णत: अलंकरण विहीन है, किन्तु यह सम्भव है कि प्रारम्भ में ये काष्ठ अलंकरणों से अलंकृत किया गया हो, भाजा चैत्यगृह का एक विलक्षण बात यह है कि इसके मुख्य मण्डप में पाषाण और काष्ठ शिल्प का परस्पर संयोग था जो अब नष्ट हो चुका है।

कोण्डाने चैत्यगृह में उसने मुखमण्डप से काष्ठ स्तम्भों को हटाकर पाषाण स्तम्भों को उत्कीर्ण किया। यह चैत्यगृह 66 फीट लम्बा 26 1/2 फीट चौड़ा तथा 28 फीट ऊंचा है। इसका निर्माण भी भाजा शैली में ही हुआ है।

पीतल खोरा चैत्यगृह कोण्डाने का विकसित रूप है। यह 86 फीट लम्बा 35 फीट चौड़ा तथा 31 फीट ऊंचा है, इसमें 37 अष्टांसिक स्तम्भ थे, जो मण्डप और प्रदक्षिणापथ को बांटते थे, उनमें से केवल 12 अपने पूर्व रूप में बिना टूट-फूट के बचे हैं। उन पर पांचवीं शदी के कुछ चित्र एवं दो लेख हैं, जिसके अनुसार प्रतिष्ठान के श्रेष्ठियों ने गुफाएं बनवाई हैं, इसमें खम्भों का झुकाव भाजा की भांति भीतरी ओर है तथा छत के नीचे जो काष्ठ धन्रियां बनती थीं उनके स्थान पर पाषाण धन्रियों को तराशा गया है।

अजन्ता का चैत्यगृह वास्तु-संबंधी इस आन्दोलन के उच्च्व शिखर पर है। इसमें चित्र, शिल्प और वास्तु विद्या सम्बन्धी दीर्घकालीन प्रयत्न व्यक्त हुआ है। यह (गुफा सं० 10) 96 फीट 6 इंच लम्बा, 41 फीट 3 इंच चौड़ा तथा 36 फीट ऊंचा है। मण्डप तथा प्रदक्षिणापथ के बीच 59 स्तम्भों की पंक्ति है। खम्भों के बीच की डण्डी चौकोर और कुछ भीतरी झुकाव लिए हुए है। इसमें प्रस्तर धन्रियां स्तम्भों पर टिकी काटी गई हैं। ऊपर सम्भवत: काष्ठ धन्रियां रहीं होंगी क्योंकि भित्ति में छिद्र कटे हैं। गर्भगृह में उत्कीर्ण स्तूप दो भागों में है - एक गोल अधिष्ठान भाग, और दूसरा उसके ऊपर लम्बा अण्डभाग जिससे स्तूप का कुछ विकास सूचित होता है, चैत्यगृह गुफा सं० 9, 10 से छोटी है, जिसके मुख भाग में किसी प्रकार का काष्ठशिल्प नहीं पाया जाता है।

बेड़सा का चैत्यगृह का भीतरी भाग 45 1/2 फीट लम्बा और 21 फीट चौड़ा है, यह एकदम सादा है जिसके खम्भों पर न ऊपर शीर्षक है और न नीचे अधिष्ठान है कहीं-कहीं बौद्धों के मांगलिक चिन्ह अवश्य उत्कीर्ण हैं।

नासिक का चैत्यगृह अपेक्षाकृत कुछ बाद का है (लगभग प्रथम शताब्दी इस्वी के मध्य) इसका मुख्य मण्डप वास्तु विन्यास की श्रेष्ठता का बहुत अच्छा उदाहरण है, यह दो तलों में है, नीचे की मंजिल में गोलम्बर सहित द्वार है, और ऊपर महाकीर्ति मुख या सूर्यद्वार है, द्वारा के पार्श्व में एक महाकाय पक्षाकृति रक्षा पुरुष है, चैत्यगृह के भीतरी खम्भे पर एक लेख है, लेखों के अनुसार इस चैत्यघर का वास्तु विधान और शिल्प की मूर्तियां कई दान दाताओं की उदारता का फल है। यह चैत्यग्रह पाण्डुलेण के नाम से प्रसिद्ध है।[7] इसमें कहीं भी काष्ठकर्म का प्रयोग नहीं देखा जा सकता है।

कार्ले का हीनयान चैत्य मंदिर अपनी श्रेणी के सब चैत्य ग्रहों में श्रेष्ठ है। इससे यह भी सूचित हो जाता है, कि पश्चिम भारत में वास्तु शिल्प का यह आन्दोलन कितनी ऊंचाई तक उठ चुका था, इस गुफा में वास्तु और शिल्प का अद्‌भुत समन्वय देखा जाता है जैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। चैत्य गृह के मुखमण्डप में उत्कीर्ण लेख के अनुसार यह उस युग में भी जम्बूद्वीप का सर्वोत्तम चैत्यगृह समझा गया था। मुख्य चैत्य मण्डप 124 फीट लम्बा 46 1/2 फीट चौड़ा तथा 45 फीट ऊंचा है, इसमें किनारे-किनारे 37 स्तम्भ उत्कीर्ण है। स्तम्भों एवं भित्ति के मध्य 10 फीट चौड़ा प्रदक्षिणा पथ है। स्तम्भ कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त ही उन्नत है, स्तम्भ का आकार चौकोर है, उसके ऊपर कुमभ है, जिसके निकलते हुए स्तम्भ अठ पहलू हैं। शीर्ष पर औंधा पद्मम्धत है, जिनमें पंखुड़ियां निकलती है। उसके ऊपर गज पर आरूढ़ दो दम्पति मूर्तियां हैं। चैत्यगृह के मुख मण्डल के समक्ष दोनों किनारे दो पृथक स्तम्भ निर्मित है, जो द्वारा रक्षक के रूप में प्रतीत होते हैं। पर्सीब्राउन[8] ने किया है कि ऐसे स्तम्भ 3000 ई० पू० उर नामक स्थान में चन्द्रमंदिर के सामने, मिस्त्र देश के मंदिर के सामने और पेरूशलम में सोलोमन के मंदिर के सामने दो पीतल के स्तम्भ थे जिसका प्रभाव कार्ले के कीर्ति स्तम्भों पर पड़ा। परन्तु डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल[9] इसे औचित्यपूर्ण मानते हैं, इनके अनुसार इस प्रकार के स्तम्भों को

स्थापित करने का रिवाज बहुत पुराने समय से चला आ रहा है। ऋग्वेद[10] में इसका उल्लेख है इसके साथ लौरियानन्दनगढ़ में मिट्टी के थूहों में ऐसे स्तम्भों के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं, सांची के महाचैत्य में तोरण के सामने ऐसे ही स्तम्भ है। चैत्यगृह का यह स्तम्भ 50 फीट ऊंचा षोडश पहलू है। इनके शीर्ष भाग पर क्रमशः औधा पद्म कोश, त्रिमेधि पीठिका तथा चारों दिशाओं में मुख किए एवं पीठ सटाए चार महाकाय शिंह मूर्तियां बनी हैं।

हीनयान युगीन चैत्यगृहों के साथ-साथ बिहारों को भी उत्कीर्ण कया गया है, यद्यपि वास्तु दृष्टि से बिहार चैत्यगृहों की भांति महत्वूपर्ण नहीं किन्तु इनमें बौद्धों की शान्तीप्रियता का ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। बौद्धों ने पर्वतों को खोदकर अपना आवास बनाया, विशाल एवं सादे प्रांगण के चतुर्दिक जो कक्ष काटकर बनाई गई है, उनमें पाषाण के ही शयन मंच बने हैं, ये कक्ष सामान्यतः 9 फीट वर्ग के हैं। इनका प्रवेश द्वार मध्य में नहीं वरन् किनारे को एक दीवार से सटाकर बना है, प्रांगण के समक्ष मुख मण्डप एवं अन्तराल बने हैं, इनका सम्पूर्ण निर्माण संरचनात्मक भवनों के ही आधार पर किया गया प्रतीत होता है।

महायान युगीन चैत्यगृह एवं बिहार (पांचवीं शताब्दी इस्वी में आठवीं शताब्दी.......) हीनयान चैत्यगृहों के लगभग दो शताब्दी पश्चात् महायान गुफाओं की परम्परा विकसित हुई परन्तु वास्तुकला की दृष्टि से यद्यपि कोई विशिष्ट प्रगति न हुई किन्तु बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियों के निर्माण से मूर्तिकला के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। महायान चैत्यगृहों का मध्य केन्द्र अजन्ता, एलोरा तथा औरंगाबाद है। इन चैत्यगृहों में भी हीनयान की भांति मण्डप, स्तूप प्रदक्षिणापथ, अर्द्धवृत्ताकार पृष्ठभाग एवं ढोलाकार छतों का निर्माण किया गया है, किन्तु स्तूप के सम्मुख बुद्ध की मूर्ति स्थापित की गई है।

महायान बिहारों में उपयोगिता वादी दृष्टिकोण से अनावश्यक स्तम्भों को समाप्त कर निवास गृह को भी एक मंदिर का स्वरूप प्रदान किया गया तथा इसमें भी मूर्ति का निर्माण किया गया।

इस प्रकार शैलकृत वास्तुकला के विकास का मूलभूत कारण यही था कि इसका स्रोत और प्रेरणा धार्मिक मूल्यों से प्राप्त होता है बौद्ध धर्म की प्रेरणा

से ही कई सौ वर्षों एवं विभिन्न राजवंशों के शासन काल में एक नवीन कला शैली का विकास और विस्तार हुआ। बौद्ध वास्तुकला में ही सर्वप्रथम पत्थरों को काटकर निर्माण किया गया।[11] अशोक के समय भारतीय कला में पाषाण का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ जिसमें बौद्ध स्तूपों एवं गुफाओं का निर्माण हुआ, शुंग-सातवाहन काल में कार्ले, नासिक, माजा, अजन्ता इत्यादि स्थानों पर शैलकृत वास्तुकला के अन्तर्गत चैत्य और बिहार बनाये गये। गुप्त काल तक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित स्तूप, चैत्य बिहार तथा मंदिरों का निर्माण होता रहा। अतः कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ बौद्ध कला का भी विस्तार हुआ।

सन्दर्भ

1. अंगुत्तर निकाय, जिल्द 2, पृ० 38, 39
2. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० 196
3. विनय पिटक, चुल्लवग्ग, पृ० 239
4. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया: ए रिव्यू 1913, 14 पृ० 4
5. संयुक्त निकाय, जिल्द 3, पृ० 120
6. मार्शल एण्ड फूशे, 1940 द मॉनुमेन्ट्स ऑफ सांची जिल्द 3
7. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० 211
8. इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० 30
9. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ० 214
10. ऋग्वेद, 10:18:13
11. पर्सी ब्राऊन, इण्डियन, ऑर्किटेक्चर, पृ० 30

16

बौद्ध धर्म का तत्कालीन स्त्रियों के धार्मिक अधिकार पर प्रभाव

प्रवेश कुमार श्रीवास्तव

स्त्रियों को प्राचीन भारतीय समाज में बड़े ही श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वह पुरुष की 'शरीरार्द्ध' और 'अर्द्धांगिनी' मानी गयी तथा उसके जीवन में स्त्री का महत्व 'श्री' एवं 'लक्ष्मी' के रूप में, वह उसके जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्त और पुंजित करने वाली कही गई।[1] वह श्वसुर गृह की साम्राज्ञी मानी जाती थी।[2] ऋग्वेद में दम्पत्तियों द्वारा यज्ञीय कार्य करने का उल्लेख मिलता है।[3] चूंकि स्त्री और पुरुष यज्ञ रूपी रथ के जुड़े हुए दो बैल माने गये थे।[4] अतः यज्ञ में उसकी उपस्थितिक अनिवार्यता पत्नी संज्ञा को चरितार्थ करता है।[5] पति की अनपुस्थिति में वह धार्मिक कृत्य कर सकती थी।[6] जबकि अकेला पुरुष यज्ञ के अयोग्य समझा जाता था।[7]

यद्यपि उत्तरवैदिक काल के उपरांत धार्मिक जटिलताएं क्रमशः बढ़ते जाने के कारण ज्यादातर अनुष्ठान पुरुष ही करने लगे थे[8]; तथापि उसमें पत्नी की उपस्थिति स्वीकार की जाती रही।[9] ऐतरेय ब्राह्मण साहित्य से विदित होता है कि यद्यपि कुछ धार्मिक कार्य पत्नी की उपस्थिति के बिना भी सम्पन्न होने लगा था,[10] जो निःसन्देह बदलते सामाजिक परिवेश में हो रहे उनके धार्मिक अधिकारों के ह्रास को चिह्नित करता है। किन्तु अश्वमेध, वाजपेय तथा राजसूय जैसे यज्ञों एवं सामान्य धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी उपस्थिति अब भी अनिवार्य थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उन्हें वैदिक साहित्य पढ़ने और यज्ञीय कार्य करने सम्बन्धी समस्त अधिकार प्राप्त था।

किन्तु इन्हीं ब्राह्मण ग्रंथों में नारी के धार्मिक अधिकारों के हनन का भी उदाहरण प्राप्त होता है अर्थात उनके दूसरे पक्ष को भी उजागर किया गया है जैसे उत्तरवैदिक काल के परवर्ती युग में धार्मिक कृत्यों की सम्पन्नता में नारी का स्थान पुरोहितों ने ग्रहण कर लिया। इसका प्रभाव स्पष्टतः पुत्री को मिलने वाली शिक्षा पर पड़ा। पुरोहित पत्नी द्वारा की जाने वाली यज्ञ विधि को, अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाला पुरोहित करने लगा - इससे पत्नी का अधिकार क्रमशः कम होने लगा और समाज में उनका महत्व भी कम होने लगा -

सद्धस्मतत्पुरा जायेव हविष्कृदुपोतिष्ठति।
तदिदं पतर्हिं य एव कश्चनोपतिष्ठति।।[11]

कालांतर में परिस्थितियां बदलती गयी, तदुपरांत न केवल उनका उपनयन एवं ब्रह्मचर्य जीवन क्रमशः बाधित होता गया।[12] बल्कि वैदिक ज्ञान एवं यज्ञीय अधिकारों से भी उन्हें वंचित कर दिया गया। याज्ञवल्क्य का कथन है कि स्त्रियों का उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिये। वस्तुतः जब उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होने लगा तब उन्हें वैदिक ज्ञान और धार्मिक अधिकारों से *वंचित कर दिया गया तथा शिक्षा की दृष्टि से तो नारी की स्थिति शूद्रों जैसी हो गयी थी।*[13]

इस प्रकार वैदिक एवं उत्तर वैदिककालीन नारियों की स्थिति की समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि बौद्धकाल के पूर्व सम्पूर्ण समाज की विस्फोटक स्थिति बन गई थी। जातक कथाओं एवं अन्य बौद्धसाहित्य के आधार पर बौद्धकालीन नारियों की स्थिति पर विचार किया जा सकता है।

बौद्ध धर्म का आविर्भाव ब्राह्मण धर्म के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया स्वरूप था। अतः अन्य सभी धार्मिक अन्धविश्वासों के साथ ही ब्राह्मण धर्म की यह धारणा कि नारी प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष से हीन है, महात्मा बुद्ध द्वारा निर्मूल घोषित कर दी गई। इससे महात्मा बुद्ध के उदारवादी दृष्टिकोण का पता चलता है। उन्होंने यह घोषणा की, कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार जन्म पाता है।[14] इस घोषणा ने इस बात पर सीधा आघात किया कि मोक्ष प्राप्ति के लिए पुत्र का होना अनिवार्य है।

द्वितीयतः महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति का मार्ग नारियों के लिए भी

रखा तथा सभी जाति की नारियों को संघ में प्रवेश का अधिकार देकर ब्राह्मण धर्म की इस अवधारणा को अमान्य सिद्ध कर दिया कि नारी अध्यात्मिक सत्य को प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखती है।[15]

बौद्ध आगमों के काल तक वैदिक परम्परा के अनुयायियों की दृष्टि में पुत्र एवं पुत्री के बीच पर्याप्त भेद स्थापित हो गया था। संयुक्त निकाय में उपलब्ध एक घटना से उस समय पुत्री जन्म पर होने वाली प्रतिक्रिया ज्ञात होती है – एक बार कौशल नरेश प्रसेनजित भगवान बुद्ध के पास गए थे। उसी समय किसी व्यक्ति ने पुत्री जन्म की सूचना उन्हें दी जिससे वह खिन्न हो गए, जिसे देखकर महात्मा बुद्ध ने उन्हें सांत्वना दी और कहा कि – 'जो वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं उनकी जननी स्त्रियां ही हैं, वही स्त्रियां पति, श्वसुर एवं सास की सेवा करती हैं, अतः इनसे कभी भी घृणा नहीं करनी चाहिये।[16]'

उपर्युक्त घटना से दो बातें स्पष्ट होती हैं, प्रथम यह कि वैदिक परम्परा के अनुयायियों में व्याप्त पुत्री के जन्म पर असन्तोष की भावना महात्मा बुद्ध के समय तक अविच्छिन्न रूप में चली आई थी जिसके मूल में प्रमुख कारण सामरिक दृष्टिकोण का था तथा द्वितीय कारण यह था कि पुत्र एवं पुत्री में इस प्रकार भेदभाव भरी नीति का महात्मा बुद्ध ने विरोध किया। उन्होंने जनसामान्य को यह समझाया कि जिस सामरिक दृष्टिकोण के कारण पुत्र को महत्व दिया जाता है उसका अस्तित्व परोक्ष रूप से पुत्री में विद्यमान है। महात्मा बुद्ध ने कन्या को महत्व प्रदान करते हुए उनमें स्वावलम्बन एवं स्वाभिमान की भावना उत्पन्न करने वाले सिद्धान्तों का प्रचार किया। अतः स्पष्ट है उनमें कहीं पितृ ऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र प्राप्ति आवश्यक है – इस बात की उपेक्षा की गई है।[17]

पारिवारिक जीवन में माता द्वारा कन्याओं के हृदय में धार्मिक भावना उत्पन्न करने की प्रथा बौद्धागम में पाई जाती है क्योंकि बौद्धयुग तक समाज में नारियों के प्रति उत्तर वैदिक कालीन दृष्टिकोण विद्यमान था। अतः माता के लिए यह स्वाभाविक था कि वह अपनी पुत्रियासें को धार्मिक वातावरण से प्रभावित कर दे जिससे विपत्तिकाल में पुत्रियां धार्मिक जगत का आश्रय ले विपत्ति से मुक्त हो सकें। कन्याओं के जीवन में धार्मिक बुद्धि के विकास से

अत्यधिक परिवर्तन हुआ। महात्मा बुद्ध के नूतन एवं स्वतन्त्र दृष्टिकोण से प्रभावित समाज में कन्या को सम्मान मिलने लगा था तथा वह माता-पिता के लिए कष्टों का स्रोत नहीं रह गई थी।[18] नारियों को सक्रिय रूप से धार्मिक साधना में भाग लेने की अनुमति मिलने पर ही कन्याओं में आत्म निर्भरता की भावना उदित हुई। अतः पुत्री का जन्म अमंगलकारी नहीं माना जाता था कि उनकी शिक्षा पर पुत्रों के समान ध्यान दिया जाता था।[19]

बौद्धागमों में 'पुत्ता' शब्द उपलब्ध होता है जिसका अभिप्राय बिना किसी लिंगभेद के संतान मात्र से है।[20] बौद्ध साहित्य में उत्तरोत्तर कन्या का महत्व वृद्धिगत दृष्टिगोचर होता है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में मनुष्यों को कन्या के जन्म पर हर्षित होते हुए पाते हैं। थोरीगाथा के अनुसार उव्विरी अपनी कन्या की मृत्यु पर अत्यन्त दुःखित थी।[21] उस समय सुन्दर कन्याएं तो तो सम्मान की पात्र बन गई थी। विवाह के अवसर पर माता-पिता भावी जामाता से अपनी कन्या का शुल्क लिया करते थे। ऐसा उल्लेख थेरीगाथा से प्राप्त होता है।[22]

बौद्धयुग के प्रारम्भिक काल तक नारी शिक्षा समाप्तप्राय सी हो चुकी थी। नारी को विवाह के पूर्व या पश्चात् जैसा कि कहा गया है कि केवल कुशल गृहणी बनने की शिक्षा दी जाती थी।[23] उन्हें पतिकुल के योग्य शिक्षा दे दी जाती थी।[24] स्त्रियों को जीविकोपार्जन की शिक्षा नीं दी जाती थी। कन्याओं को यह सिखाया जाता था कि वे पति के पूज्य माता-पिता एवं श्रमण ब्राह्मणों का आदर करें तथा अभ्यगतों को आसन एवं उदक देकर सम्मानित करें।[25] आशय यह है कि उस समय शिल्प एवं कला का ज्ञान पुत्र को तथा पति कुल के अनुरूप आचरण करने में दक्षता पुत्री के भावी जीवन को सुखी बनाता था। अतः कन्या के प्रति व्याप्त उपेक्षा एवं असन्तोष व्यवहार की बौद्धागमों में प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है।

महात्मा बुद्ध के भिक्षुणी संघ ने इस दिशा में क्रान्तिकारी कार्य किया। सभी भिक्षुणी विहार महिला शिक्षणशाला के समान हो गए थे। वहाँ प्रव्रजित एवं गृहस्थ दोनों प्रकार की महिलाएं शिक्षा प्राप्त करने लगी थीं। वैदिक काल में विदुषी नारियों ने वैदिक ऋचाओं की रचना में महत्वपूर्ण भाग लिया था। बौद्ध भिक्षुणियों ने इस परम्परा को धार्मिक गीतों द्वारा पुनर्जीवित किया। इन

गीतों का संग्रह 'थेरीगाथा' के नाम से प्रसिद्ध है।[26] महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं के प्रसार में इनका प्रमुख योगदान था। धम्मादिन्ना, सुबका, पटाचारा शिक्षिकायें थीं।[27] विनयपिटक (चतुर्थ भाग) में चुल्लनन्दा तीन स्थलों पर महान शिक्षिका कही गई है। भद्राकुडकेशा, शुभा, अमोपमा, सुमेधा, राजकुमारी सुमना आदि अन्य भिक्षुणियां थीं जो महात्मा बुद्ध के साथ धार्मिक परिचर्चा में भाग लेती थी।[28]

जातक साहित्य से अनेक विदुषी नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है। थेरी भिगारमाता, अमरा, उब्बिरी आदि ऐसी नारियां थीं जो सांसारिक भोग-विलासों से दूर रहकर साधना अध्ययन एवं मनन का जीवन व्यतीत करती थीं। क्षेमा के प्रकाण्ड दार्शनिक ज्ञान तथा सूक्ष्म विवेचन ने राजा पसेनदि को आश्चर्यचकित कर दिया। संयुक्त निकाय में सुभद्रा नामक भिक्षुणी का उल्लेख है जो व्याख्यान में दक्ष थी।[29] इस प्रकार बौद्धयुगीन भिक्षुणी संघ से नारी शिक्षा को प्रश्रय मिला। अजातशत्रु की मां को वैदेही इसीलिए कहा जाता था क्योंकि वह विदुषी थी।[30] इसी प्रकार नन्दुत्तरा ने शिल्प एवं विज्ञान की शिक्षा ली थी।[31] कुमारी के लिए पण्डिता, वक्ता मेधाविनी जैसे विशेषणों के प्रयोग से तत्कालीन नारी शिक्षा का स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है। यत्र तत्र गुरुकुलों में शिष्य-शिष्याओं के उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह कहा जा सकता है कि बौद्ध युग में वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति के अवशेष भी अपवाद रूप में विद्यमान थे।[32]

बौद्ध युग में महिलाओं की दशा के पड़ताल के क्रम में यह आवश्यक सा हो जाता है कि महिलाओं के बारे में बुद्ध के विचारों का परीक्षण किया जाय। बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध का महिलाओं के प्रति बहुत ही सकारात्मक और क्रांतिकारी रुख था।

बुद्ध ने नारी को ज्ञानी, मातृत्वशील, सृजनात्मक, भद्र व सहिष्णु के रूप में स्वीकार किया। जातक ग्रंथों से महिलाओं के प्रति बुद्ध के विचारों का निदर्शन होता है जिसमें कहा गया है कि 'स्त्रियां विलक्षण एवं पण्डिता होती हैं, सभी जगह पुरुष ही पण्डित नहीं होते, सूक्ष्म विस्तार करने वाली स्त्रियां भी पण्डिता होती हैं। *व्यक्तिगत रूप से बुद्ध ने संघ के भीतर महिलाओं को पुरुषों*

के समान दर्जा प्रदान किया। बुद्ध का युग गंगा नगरीकरण के उद्‌भव व विकास के साथ ही साथ व्यक्तिवाद के उदय और तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति के हाशिए पर सामाजिक व आध्यात्मिक रूप से रह रहे लोगों पर इसके प्रभाव का गवाह था। उभरती नयी सामाजिक व्यवस्था की विद्यमान सामाजिक मूल्यों के बचाव में बहुत कम दिलचस्पी थी और ऐसे वातावरण में महिलाएं व निचले सामाजिक तबके के लोग आम तौर पर अपनी पसंद के धार्मिक लक्ष्य को पाने व प्रकट करने में अधिक स्वतंत्र थे जिस प्रकार बुद्ध द्वारा स्थापित लक्ष्य किसी खास वर्ग में पैदा हुए लोगों के लिए नहीं थी, उसी प्रकार बुद्ध द्वारा स्थापित लक्ष्य किसी खास वर्ग में पैदा हुए लोगों के लिए नहीं था, उसी प्रकार यह केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं था। बहुत-सी नारियों ने बुद्ध द्वारा मुहैया कराये गये इस अवसर का फायदा उठाया। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में न केवल महिलाओं के लिए धर्मपथ खुला था, बल्कि वास्तव में यह रास्ता महिलाओं व पुरुषों दोनों के लिए एक ही प्रकार का था। ऐसी बात नहीं कि लिंग-भेद विद्यमान नहीं थे, लेकिन वे 'मुक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से नगण्य थे। जो अधिक से अधिक मुक्ति के वास्तविक लक्ष्य में विपथक हो सकते थे।[33]'

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि बौद्ध युग में नारी का स्थान महत्वपूर्ण हो गया था। क्योंकि वह जीवनशक्ति देती है, सौन्दर्य प्रदान करती है, वह आनंद देती है और बल प्रदान करती है। जीवनशक्ति देने से वह मानवीय एवं देवी जीवन शक्ति की, सौन्दर्य देने में सौन्दर्य की, आनंद देने से आनंद की और बल देने से मानवीय एवं देवी बल की साझीदार बन जाती है।

बौद्ध ग्रंथों में प्रशंसात्मक दृष्टिकोण से इतर महिलाओं की निंदा एवं अवगुणों की भी चर्चा किया गया है। स्त्रियों को दो अंगुल प्रज्ञावाली[34] (यानी चावलों के पक जाने पर दो अंगुलियों से उन्हें दबाकर देखना ही जिसका एकमात्र बुद्धिमानी का कार्य है) कहना नारी समाज का अपमान करना था। इसके अतिरिक्त जातक साहित्य में स्त्रियों के दुर्गुणों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं नारी को सार्वजनिक उपभोग की वस्तु कह देना जातक युग में आम बात थी। उसमें कहा गया है कि 'स्त्रियां असभ्य होती हैं, अकृतज्ञ होती है,

जातक साहित्य में व्यभिचारिणी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जिनसे उस काल के नैतिक आचरण पर प्रकाश पड़ता है। किन्तु बौद्ध ग्रंथों के गंभीर अनुशीलन से यह जान पड़ता है कि कुछ बौद्ध लेखकों का लक्ष्य था कि कथा के माध्यम से भिक्षुओं को स्त्री-साहचर्य से विरक्त करना, अत: जातकों में स्त्री जाति को धृष्टता का अवतार बना दिया गया। बौद्ध धर्माचार्य भिक्षुओं को इन अनेकानेक कथानकों द्वारा स्त्री-सम्पर्क से दूर रखने का प्रयत्न किया, क्योंकि नारी सौन्दर्य की माया किसी भी समय उन्हें भिक्षु-जीवन के आदर्श से च्युत कर सकती थी। किन्तु प्रो० के० टी० एस० सराओ उक्त विचार का खण्डन करते हैं उनका स्पष्ट विमर्श है कि वास्तव में बुद्ध की मृत्यु के उपरांत कम से कम जहाँ तक महिलाओं का प्रशन है एक शून्य उत्पन्न हुआ। बुद्ध जैसे महान व्यक्तित्व के अभाव में आनंद जैसे महिलाओं के मुट्ठी भर बचे समर्थकों को संघ के उन भीतरी तत्वों ने अभिभूत कर दिया, जो महिलाओं के प्रवेश को एक अपमान की बात मानते थे। काल के उसी चक्र में बौद्ध संघ ने ब्राह्मणवाद के महिला विरोधी रुख को गले लगाया जिसने लगातार महिलाओं को अपूर्ण, दुष्ट, नीच, कपटी, विध्वंसक, विश्वासघाती, नमकहराम, अविश्वासी, चरित्रहीन, गिरी हुई, कामुक, ईर्ष्यालु, लालची, बेलगाम, मूर्ख व फिजूलखर्ची जैसे विशेषणों से विभूषित किया था।[35]'

इस प्रकार बौद्ध युगीन समाज के परिप्रेक्ष्य में नारियों की धार्मिक दशा पर अध्ययन के क्रम में स्पष्ट होता है कि महिलाओं की अपकर्षोन्मुख स्थिति के कारणों में यज्ञ पद्धति की जटिलता में वृद्धि तथा कन्या पक्ष के संदर्भ में विवाह की आयु का घट जाना सर्व शिक्षा से वंचित करना प्रधान कारण था।[36] परन्तु बौद्ध धर्म ने महिलाओं को विद्यमान ब्राह्मणवाद की तुलना में अधिक अच्छे अवसर प्रदान किये।[37] भिक्षुणी संघ के माध्यम से महिलाओं के पास अपनी पारिवारिक भूमिकाओं के स्थान पर एक विकल्प भी उपलब्ध था। एक या दूसरे रूप में इस धर्म में लैंगिक समानता और लिंग की अंतिम अप्रासंगिकता के बारे में उपदेश निहित थे। तथागत ने निर्वाण प्राप्ति का मार्ग नारियों के लिए भी रखा तथा सभी जाति की महिलाओं को संघ में सम्मिलित होने का अधिकार देकर प्रजातांत्रिक मूल्यों को बढ़ावा दिया। बुद्ध व आनंद

जैसे उनके सहयोगियों का यह स्पष्ट मानना था कि जाति की तरह लिंग भी किसी व्यक्ति द्वारा दु:ख से छुटकारा पाने के बौद्ध लक्ष्य को प्राप्त करने में बाधा नहीं हो सकता था।

संदर्भ

1. वृहत् संहिता, 74.5.11.15-16; मनु० 9.26
2. ऋग्वेद, 10.85.46
3. ऋग्वेद, 1.72-5; 5.32
4. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.75
5. शपथ ब्राह्मण, 1.19.2.14
6. ऋग्वेद, 10.86.10
7. शतपथ ब्राह्मण, 5.1.6.10; तैत्तिरीय ब्राह्मण, 22.2.6
8. शतपथ ब्राह्मण, 1.1.4.13
9. ऐतरेय ब्राह्मण, 1.2.5; शतपथ ब्राह्मण 5.1.6.10
10. ऐतरेय ब्राह्मण 7.9.10
11. शतपथ ब्राह्मण, 14.3.1.85
12. वीरमित्रोदय, पृ० 402 पर हारीत का वचन। स्मृति चंद्रिका, पृ० 62
13. हरिदत्त शास्त्री, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० 137
14. मज्झिम निकाय, 1.2.4
15. विनयपिटक, भिक्षुणी स्कन्ध
16. संयुक्त निकाय, 3/2/6 प्रथम भाग
17. वही 3/2/6, प्रथम भाग, पृ० 78
18. संयुक्त निकाय, 1/28, 1/29
19. आई० बी० हार्नर, विमेन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, पृ० 19-20
20. संयुक्त निकाय, 1/7, अंगुत्तरनिकाय : 2/312, सुत्तनिपात : 1/2/24
21. थेरीगाथा परमत्थदीपनी अट्ठकथा, 3/1/52, पृ० 53-54
22. थेरीगाथा: परमत्थदीपनी अट्ठकथा, 15/1/422; 6/5/152-153
23. इण्डियन एजूकेशन इन एण्श्येंट एण्ड लेटर टाइम्स, पृ० 75
24. थेरीगाथा, 15/1/409, 'चयाम्हि अनुसिट्ठा'
25. अंगुत्तर निकाय, 2/303
26. थेरीगाथा परमत्थदीपनी
27. वही
28. डॉ० जयशंकर मिश्र: प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 390

29. अल्तेकर: प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० 213
30. थेरी की अट्ठकथा, पृ० 46
31. दीघ निकाय, 1/96, संयुक्त निकाय 3/111
32. दीघ निकाय, 3/142
33. प्रो० के० टी० एस सराओ: प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म, उद्‌भव स्वरूप और पतन, पृ० 96
34. धर्मानंद कौशाम्बी, भगवान बुद्ध, पृ० 126
35. प्रो० के० टी० एस० सराओ, पूर्वोद्धृत, पृ० 91
36. प्रो० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ० 342
37. कैथरीन के यंग, इंट्रोडक्शन, 'अरविंद शर्मा वुमेन इन वर्ड रिलीजन्स', उद्धृत के० टी० एस० सराओ ओरिजिन्स ऑफ बुद्धा, पृ० 37

17
बुद्धायन में अभिव्यक्त बौद्ध धर्म एवं उसकी प्रासंगिकता

मृत्युंजय कुमार सिंह

भोजपुरिया लोग स्वभावतः युद्धप्रिय,[1] महान चिंतक या दार्शनिक होते हैं। इनका साहित्य भी इसी परंपरा से भरा पड़ा है। भोजपुरी के आदि कवि कबीरदास[2] ने जहाँ अपनी रचनाओं से समाज में फैली वर्णव्यवस्था, जात पात, कुरीतियों आदि पर प्रहार कर सामाजिक चेतना फैलाया वहीं उसी परंपरा को भोजपुरी के संत कवि धरनीदास ने आगे बढ़ाया। धरनीदास ने कबीर के समान ही बाह्याडम्बर, मूर्तिपूजन, बहुदेववाद, बकवाद, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि का प्रखर विरोध हुए प्रेम, दया, परोपकार आदि की प्रतिष्ठा की।

कबीरा पुनी धरनी भयो, शाहजहाँ के राज[3]

भोजपुरी भाषा एवं भोजपुरिया समाज के महान चिंतक महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने जहाँ विश्व को बौद्ध संस्कृति के लुप्त हो रहे दर्शन तथा ग्रंथों की खोज की वहीं अपनी प्रगतिशील एवं सामाजिक रचनाओं से पूरे राष्ट्र का मार्ग दर्शन किया। उन्होंने अप्नी मातृभाषा भोजपुरी में सात नाटकों की रचना की तथा जीवन पर्यन्त अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिए प्रयासरत रहे।

बहुआयामी प्रतिभा के धनी भोजपुरी के शेक्सपीयर, लोककवि भिखारी ठाकुर ने जहाँ एक ओर अपनी रचनाओं के माध्यम से गरीब, उपेक्षित और अशिक्षित जनता में नवजागरण एवं पुनर्जागरण का कार्य किया वहीं दूसरी ओर भोजपुरिया क्षेत्र से नवजवानों का शहरों की ओर पैसे के लिए पलायन के कष्ट को भी उजागर किया, जो आज भी प्रासांगिक है।[4]

राष्ट्रीय आंदोलन में तो भोजपुरिया लोगों ने सभी क्षेत्रों में (राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं साहित्यिक) आगे आकर राष्ट्रीय चेतना फैलाया। पूर्वी के जनक एवं लोक चेतना के अप्रतिम गीतकार - पं० महेन्द्र मिश्र[5] ने लोक चेतना एवं राष्ट्रीय चेतना से संबंधित गीतों की रचना की। जहाँ एक ओर बाबू रघुवीर नारायण ने भोजपुरी के राष्ट्रीय गीत, भोजपुरी के बन्दे मातरम्[6]

सुन्दर सुभूमि भैया, भारत के देसवा से।
मोरे प्रान बसे, हिम खोह रे बटोहिया।।

की रचना की, वहीं दूसरी ओर प्रिंसिपल मनोरंजन प्रसाद सिंह ने 'फिरंगिया' की रचना कर अंग्रेजी सरकार की पोल खोल कर रख दी। इन दोनों गीतों ने राष्ट्रीय क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार कर भोजपुरिया समाज में राष्ट्रीय चेतना भर दिया।

भोजपुरी क्षेत्र और समाज से गौतम बुद्ध का रिश्ता बहुत ही पुराना है।[7] गौतम बुद्ध का जन्म नेपाल के मधेशी प्रदेश में हुआ था। पश्चिमी नेपाल के मधेशी शतप्रतिशत आज भोजपुरी भाषी हैं। बुद्ध ने जिन लोगों को देखकर तथा जिन इलाकों में वैराग्य प्राप्त किया वह भी आज भोजपुरी भाषी क्षेत्र है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अपना प्रथम उपदेश भी भोजपुरी भाषा क्षेत्र की सांस्कृतिक राजधानी वाराणसी के सन्निकट सारनाथ में दिये। बुद्ध ने अपने जीवन के आधे से अधिक समय भोजपुरी भाषी क्षेत्र में व्यतीत किए। अधिकांश, चातुरमास इसी में व्यतीत किए। यहाँ तक कि अपना शरीर-त्याग भी कुशीनगर (कसयां) भोजपुरी क्षेत्र में ही किया। यही कारण है कि भोजपुरिया समाज के मूल संस्कार में चाहे वह कोई भी धर्म या विचारधारा क्यों न हो, बुद्ध के प्रभाव बहुत गहराई में रचे-बसे हैं।[8]

बुद्ध के वैराग्य के कारण जो तब थे, बाद में भी रहे और आज भी भोजपुरिया समाज में हैं। आज भी भोजपुरिया समाज हिंसा और अत्याचार से पूरी तरह जूझ रहा है। समाज के हर क्षेत्र में तृष्णा तथा ज्यादा प्राप्त करने की होड़ लगी हुई है। समाज में जातिवाद, सम्प्रदायवाद का बोलबाला है। ऐसे में बुद्ध को याद करना समय की मांग है। यही कारण है कि भोजपुरी में रचे

लगभग एक दर्जन महाकाव्यों में से दो – दो महाकाव्य अपने महानायक महात्मा बुद्ध के ही जीवन और दर्शन पर रचे गए हैं। इनमें प्रथम दण्डिस्वामी विमलानन्द सरस्वती द्वारा रचित 'बउधायन' है। जिसका प्रकाशन 1983 ई० में भोजपुरी अकादमी पटना से हुआ।[9] बत्तीस सर्गों में रचित 'बउधायन' मुक्त छंद में लिखा गया है तथा इसमें बुद्ध, बौद्ध धर्म और उसके देश विदेश में प्रचार प्रसार तक का वर्णन है।

जबकि दूसरा अर्जुन सिंह 'अशांत' रचित 'बुद्धायन' है। दोहा– चौपाई शैली में रचित इस महाकाव्य को दस पर्वों में विभाजित किया गया है। 'बुद्धायन' में भगवान बुद्ध के जन्म के कारण से शुरू होकर निर्वाण तक की कथा के साथ साथ बुद्ध के जीवन चरित्र एवं जीवन दर्शन का वर्णन है। इसमें दोहा, चौपाई के अलावे सौरठा और सवैया का प्रयोग भी कहीं कहीं सर्ग के आरम्भ में काव्य में रोचकता लाने के लिए किया गया है। बुद्धायन की भाषा तत्सम् शब्दावली से भरी पड़ी है। सजातीय शब्द समूह और सामाजिक पदों के साथ साथ संस्कृत शास्त्रीय ग्रंथों के अध्यात्मिक शब्दों की भरमार है। कहीं कहीं तत्सम शब्दों को भोजपुरी में उच्चारण के अनुसार दोहा–चौपाई के अनुकूल तुक बैठाने के लिए स्थानीय रूप दे दिया गया है।

महाकाव्य 'बुद्धायन' का दस पर्वों में विभाजन कथा–वस्तु तथा उसके क्रम को ध्यान में रख कर दिया गया जो इस प्रकार है –

1. वंदना पर्व, 2. जन्म पर्व, 3. बाल पर्व, 4. बसंत पर्व, 5. संन्यास पर्व, 6. संवाद पर्व, 7. योग पर्व, 8. ज्ञान पर्व, 9. निर्वाण पर्व, 10. कल्याण पर्व।

कविवर 'अशांत' जी ने बंदना पर्व में पूरे महाकाव्य का सार विषय–वस्तु के निर्देश के साथ–साथ बुद्धायन लिखने का अपना उद्देश्य एवं संदेश बताया है। कवि कहता है आज पूरा देश हिंसा, अत्याचार, शोषण जातिवाद और वर्ग संघर्ष से जूझ रहा है। अर्थ शक्ति और सत्ता सभी पर दबंगों का अधिकार है जो कमजोर तबके का शोषण कर रहे हैं। दलितों एवं निर्बलों को न तो कोई अधिकार प्राप्त है न ही किसी प्रकार का उनके साथ न्याय हो रहा है।

अर्थ – शक्ति सत्ता संसारा। जापर सबल करहिं अधिकारा।
सो कमजोर जीव–समुदायी। चूसहिं रक्त सदा बरियाई।।

मनुज वस्तुवादी इतिहासा। भरल रक्त-संघर्ष-पिपासा।
सम सुख-भाग, भोग-अधिकारा। दुलर्भ सदा दलित परिवारा।।[10]

मनुष्य का वस्तुवादी इतिहास जो कि रक्त रंजित संघर्षों से भरा है उसके चेतना पर उनका वहीं वस्तुवादी अस्तित्व प्रभावित हो गया है। धन और सत्ता पर शक्तिशाली लोगों का ही अधिकार होता है। सुख, समृद्धि से हमेशा दलित एवं शोषित दूर ही रहते हैं और यही हिंसा तथा जन संघर्ष का कारण है।

जबतक न्याय, सत्य, सम्माना। हुइहें सुलभ न एक समाना।
तबतक जन संघर्ष, विरोधा। रहिहें करत जगत-जन-जोधा।।
जबतक श्रम-फल श्रमिक जन शोषक-वर्ग शिकार।
होत रही संघर्ष जग सदा वर्ग-आधार।।[11]

जिस प्रजा शक्ति के बल पर आज के नेतृत्व वर्ग शक्ति सम्पन्न होकर सुख भोग रहे हैं तथा उनकी कृपा से उनके चमचे भी सुख भोग रहे हैं। वे भी शोषण का ही दमन चक्र चला कर कामिनि कंचन के साथ भोग विलास कर रहे हैं और पैसा कमाने के लिए हर प्रकार के राक्षसी प्रवृति अपना रहे हैं।

करत कुबेर परम सम्माना। जे जग माहिं परम बलवना।
कामिनि, कंचन, भोग विलासा। दमन-चक्र, शोषण इतिहासा।।
करहिं जोइ शासन संसारा। रखहिं सदा सत्ता-अधिकारा।
साधन अर्थ-प्राप्ति लगि जोई। करहिं विनाश दनुज जग होई।
चूसहिं रक्त जोंक जिमि देहा। स्वान समान मांस से नेहा।।[12]

इस प्रकार जब अत्याचार का अति हो जाता है। तब-तब कोई न कोई क्रान्तिकारी क्रान्ति की चिंगारी फूकते हैं।

जब जब शोषित दलित समाजा। करहिं बुलंद बंद आवाजा।
तब-तब युद्ध छिड़हिं घमसाना। सुलभ विश्व इतिहास प्रमाणा।।[13]

कवि ने युद्ध की निंदा और उसकी विभीषिका पर भी प्रहार करते हुए बताया है, युद्ध चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो, चाहे सिधी युद्ध हो या शीत युद्ध दोनों ही दुःखदायी होता है। युद्ध में जहाँ धन जन की हानि होती है, वहीं शीत युद्ध से संसार का व्यापार प्रभावित होता है। और इस सभी के मूल में मानव का भौतिक स्वार्थ, शक्ति और प्रभुसत्ता की ही तृष्णा है।

यद्यपि युद्ध होत दुःखदायी। करत अशान्त मनुज समुदायी।
पसरत शीत युद्ध संसारा। होत प्रभावित जग-व्यापारा।
भौतिक स्वार्थ, शक्ति, प्रभुताई। कारण जन-संघर्ष लड़ाई।।[14]

आज आम आदमी आपसी प्रेम और भाईचारा के साथ रहना चाहता है। फिर भी कुछ लोग अपने स्वार्थ के लिए पुरे संसार को जाति भेद, रंग भेद और वर्ग भेद में बांट दिया है। फलतः आपसी ईर्ष्या, द्वेष घृणा समाज में फैल चुका है जो महान मानव मूल्यों का ह्रास कर रहा है। ऐसे में सत्य मार्ग जो सभी दुःखों को कम करने वाला है, उसको मनुष्य चारों तरफ ढूंढ रहा है। ऐसे में महात्मा बुद्ध को याद करना प्रासंगिक हो गया है।

यद्यपि मनुज परम अभिलाषा। चाहत प्रेम, बंधु-विश्वासा।
जाति, रंग अरु वर्ग-विचारा। बांटत जगत मनुज परिवारा।
ईर्षा, द्वेष, घृणा, अपमाना। नासत मानव मूल्य महाना।
सत्य-मार्ग कम करे कलेशू। ढूंढ़त आज मनुज सब देसू।[15]

जिन कठिन संघर्ष के बाद हमारे जन नायक जाति, रंग एवं वर्ग भेद को समाप्त कर प्रजातांत्रिक लोक तंत्र की स्थापना की, उसे आज के नेतृत्व वर्ग अपने स्वार्थ तथा सत्ता पर अधिपत्य जमाने के लिए जाति, धर्म, सम्प्रदाय के आधार पर अपने-अपने लिए दलों का निर्माण कर समाज को धर्म जाति और वर्गों में बांट दिए हैं। और उनके प्रतिनिधि बन कर इस संसार का आर्थिक शोषण करते हुए प्रजा पर भार बने हुए हैं।

जे निज-दल, अरु जाति बल, प्रतिनिधि बन सरकार।
करहिं अर्थ-शोषण-जगत, बनहिं प्रजा पर भार।।[16]

यद्यपि धर्म का मूल मंत्र मानव कल्याण ही है फिर भी आज धर्म में बाह्याडंबर स्वार्थ, पैसा एवं राजनीति आदि का प्रवेश हो चुका है। धार्मिक लोग स्वार्थ एवं शक्ति के अनुसार धर्म का प्रचार कर रहे हैं। इन्होंने राजनीति से प्रेरित होकर धर्म का उपयोग कर मानव प्रेम एवं विश्व बंधुत्व के सिद्धान्त को घृणा एवं वैमनष्य में बदल दिया है, और धर्म के आधार पर समाज को बाट रहे हैं। इस सब के पीछे इनका मुख्य उद्देश्य भी 'अर्थ' ही है।

अस कुछ संत ज्ञान-अभिमाना। घोषित स्वयम् कहहिं भगवाना।
निज-निज स्वार्थ शक्ति अनुसारा। धर्म प्रचार करहिं संसारा।
संग्रह अर्थ धर्म प्रभुताई। मानत मुख्य संत-समुदायी।
फल अनुसार धर्म आधारा। बांटल समस्त मनुज-परिवारा।
प्रेरित राजनीति से लोगू। धर्म-विभेद करहिं उपयोगू।
मनुज-प्रेम, बंधुत्व-महाना। बदलत घोर घृणा, अपमाना।।[17]

आज के समय में विज्ञान ने खुब प्रगति की है जिससे, मानव कल्याण का अधिकांश कार्य हो रहे हैं। वहीं दूसरी ओर यही विज्ञान ने मानव सृष्टि को ही विनाश के कगार पर ला खड़ा कर दिया है। विज्ञान ने जो आणविक अथियारों का निर्माण किया है, वह अपने सुरसा मुख को फाड़े पूरी मानव सृष्टि को ही निगलने के लिए तैयार बैठा है।

करत प्रशंसा अस विज्ञाना। चिंता एक बसत मन-प्राणा।
जे अणुशक्ति सुलभ निर्माणा। होत सोई पुनि प्रलय समाना।।
प्रक्षोपास्त्र विविध बहु दूरी। समुझत अणु-हथियार जरूरी।
करहिं - प्रदर्शित शक्ति अपारा। मनुज आज जँह-तँह संसारा।
अस अणुशक्ति सुलभ जग माहीं। हुइहें प्रलय अगर टकराहीं।
देखल विश्व-युद्ध मँह लोगू। प्रलय-रूप जब भइल प्रयोगू।
सकल विश्व मरघट बन जाई। जड-चेतन जईहें मुरझाई।
मानव-मूल्य विश्व-इतिहासा। ज्ञान, सभ्यता होइ विनाशा।।[18]

ऐसे में विश्व की रक्षा आपसी प्रेम, भाईचारा एवं विश्व शान्ति के प्रयास से ही हो सकता है, जो कि महात्मा बुद्ध के द्वारा बताए गए मार्गों से ही सम्भव है।

समाज का हर वर्ग धन लोलुपता में लिप्त है। जन सेवा को भी लोगों ने व्यापार बना दिया है। समाज में ऐसे भी पतित लोगों की भरमार है, जो पैसे के लिए राष्ट्रीय सम्पत्ति एवं राष्ट्र की अस्मिता तक बेचने के लिए तैयार बैठे हैं।

बंदीं जन-सेवा-रत लोगू। जे धन-लोलुप केन्द्रित भोगू।
जे निज स्वार्थ-हेतु संसारा। समुझत जन-सेवा व्यापारा।

जे सम्मान राष्ट्र-अभिमाना। बेंचत करत घात छल नाना।
जाहि शत्रु धन देइ अपारा। खरिदहिं भेद प्रगति-आधारा।
अधम नीच अस पतिति परानी। वर्णत होत दुःखित कवि-वाणी।।[19]

पूरे विश्व में चिकित्सकों को दूसरा भगवान माना गया है लेकिन चिकित्सक वर्ग भी आम जन को लूटने में लगे हुए हैं। उनकी चिकित्सीय कार्य कोई सेवा भावना से नहीं बल्कि उसके पीछे उनकी धन प्राप्ति की तृष्णा ही है।

बंदीं विश्व-चिकित्सक लोगू। रोग-निदान-हेतु न जोगू।
किन्तु कार्य सेवा के सोई। समुझत नाहिं स्वार्थ-वश होई।
करहिं द्रव्य-मोचन व्यापारा। लूटहिं जन पीड़ित जग सारा।
सकल समाज जाहि सम्माना। समुझत जग दूसर भगवाना।।[20]

आज का समाज बुद्ध कालीन 'अंगुली माल' डाकू जैसे लोगों से भरा पड़ा है जो की शांति प्रिय लोगों को पीड़ित कर उन्हें दुःख एवं शोक पहुंचा रहे हैं। ऐसे लोग आम जन की इज्जत एवं धन दोनों को लूट रहे हैं।

बिनु अपराध शांति-प्रिय लोगू। पीड़ित करहिं देंहि दुःख-सोगू।
करहिं कुकर्म सदा संसारा। लूटहिं धन, इज्जत जन सारा।।[21]

इस प्रकार समाज में चारों तरफ अशांति भ्रष्टाचार एवं शोषण फैला हुआ है। मानव मूल्यों का अन्त हो चुका है। समर्थवान व्यक्ति निर्बलों का शोषण कर रहे हैं। सभी के पीछे अर्थ, शक्ति एवं सत्ता प्राप्त करने की तृष्णा है। जिसके पास जितना है वह और ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने की तृष्णा में डूबा हुआ है। विश्व में आण्विक अस्त्रों के निर्माण से उसके अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लग गया है। ऐसे में एक मात्र सहारा '**बुद्धं शरणं गच्छामि**' ही है। यही कारण है कि स्व० कविवर अर्जुन सिंह अशांत ने आम लोगों के बीच बुद्ध चरित्र एवं दर्शन को अपनी कालजयी रचना बुद्धायन के माध्यम से लाया तथा इस अशांत जग को बुद्ध की शरण में जाने की प्रेरणा दी और उनका गुणगान किया।[22]

कविवर अशांत ने बताया है कि इस अशांत जग के दुःखों के कारण का

नाश- 'चार आर्य सत्य' (1. दुःख, 2. दुःख समुदय, 3. दुःख निरोध, 4. दुःख निरोध गामिनी पतिपदा) के ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। और 'अष्टांगिक मार्ग' (1. सम्यक दृष्टि, 2. सम्यक संकल्प, 3. सम्यक वाक, 4. सम्यक कर्मान्त, 5. सम्यक आजीव, 6. सम्यक व्यायाम, 7. सम्यक स्मृति, 8. सम्यक समाधि) के द्वारा ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है।

आर्य सत्य के ज्ञान जग-दुःख-कारण शमन हित।
अष्ट अंग सोपान प्राप्ति हेतु निर्वाण जग।।[23]

जिस प्रकार जीव इस संसार में जन्म लेता है मृत्यु को प्राप्त करता है और अन्तिम क्षण तक गतिमान रहता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार वह पूर्व जन्म के कर्म के आधार पर ही जन्म एवं मृत्यु को प्राप्त करता है। यही संपूर्ण सृष्टि का आधार है। जो क्षण-क्षण अपना रूप बदलते रहता है, यही सत्य है। और इसके अलावे इस संसार में कुछ शाश्वत नहीं है।

जइसे जीव जहान जन्मत होखत काल लय।
सदा संग गतिमान अंतिम क्षण अवसान तक।।
पूर्व कर्म-आधार जन्म-मरण-व्यापार जग।
चलत रहत संसार चंचल नित्य प्रवाह मँह।।
सकल सृष्टि-आधार बदलत क्षण-क्षण रूप जग।
भइल सत्य साकार नइखे शाश्वत जगत किछु।।[24]

बौद्ध दर्शन का मुख्य आधार जन कल्याण ही है। जिसे कविवर ने बताया है कि लोगों के कल्याण करने से अज्ञान रूपी अंधेरा का नाश होगा तथा दूसरों को सुख देने से मुक्ति का मार्ग प्रसस्त होगा। ऐसा करने से निर्वाण सुलभ हो जाएगा और इस संसार में शांति और सद ज्ञान प्राप्त होगा।

जे जन परम हिताय करहिं नष्ट अज्ञान-तम।
जे जन परम सुखाय करहिं प्रकाशित मुक्ति-पथ।।
सुलभ परम निर्वाण होखहिं कारण जाहि जग।
प्राप्त शांति-सद्ज्ञान भोगत मानव जाहि फल।।[25]

इस प्रकार कवि उस दया के सागर 'बुद्ध' को और वह 'जन कल्याणकारी

धर्म' को प्रणाम करता है, जिसका मुख्य दर्शन – 'प्रज्ञा, शील और समाधि[26]' है तथा जो संसार के सभी जीवों के कल्याण के लिए कार्य करता है, उसकी वंदना करता है।

प्रज्ञा, शील, समाधि जिनि रहल धर्म-आधार।
बंदीं करुणा-सिंधु सम जाहि जीव-हित प्यार।

अत: हम कह सकते हैं कि इस हिंसा प्रधान युग में 'बुद्धायन' एवं इसमें वर्णित बौद्ध दर्शन आम आदमी के जीवन में एक शीतल छाया समान है, जिसके आश्रय में आने पर इस अशांत जग को शांति मिलेगी। प्रख्यात विद्वान डॉ० केदार नाथ सिंह ने ठीक ही कहा है, "अगर अपने पुराने क्रान्तिकारी नायक बुद्ध को सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनकर्त्ता की दृष्टि से देखा जाए तो बुद्ध एवं बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता घटी नहीं बल्कि और अधिक बढ़ गयी है।[27] और अर्जुन सिंह अशांत ने महाकाव्य 'बुद्धायन' की रचना कर एक ऐतिहासिक कार्य किया है, जो कि समय की मांग है।"

संदर्भ

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, डॉ० उदय नारायण तिवारी, पृ० 234
2. भोजपुरी के आदि कवि कबीर, डॉ० मैनेजर पाण्डेय, पृ० 4
   (अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन)
3. सारण के महान संतकवि धरनी दास, डॉ० अजय कुमार
   (हिन्दी विभाग जय प्रकाश विश्व विद्यालय, छपरा) ईक्षा, अखिल भारतीय भाषा साहित्य सम्मेलन भोजपुर, आरा अंक 6, पृ० 97
4. भिखारी ठाकुर रचनावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
5. डॉ० अजय कुमार (सारण वाणी, महेन्द्र मिश्र विशेषांक), पृ० 43
6. स्व० श्री रघुवीर नारायण जी, आचार्य श्री शिवपूजन सहाय
7. बुद्धायन भूमिका, डॉ० केदार नाथ सिंह
8. बुद्धायन भूमिका, डॉ० केदार नाथ सिंह
9. बुद्धायन सम्पादकीय, पाण्डेय कपिल
10. बुद्धायन वंदना पर्व
11. वही
12. वही
13. वही

14. वही
15. वही
16. वही
17. वही
18. वही
19. वही
20. वही
21. वही
22. वही
23. वही
24. वही
25. वही
26. आधुनिक खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि बुद्ध ने शील, समाधि एवं प्रज्ञा को ही दु:ख निरोध का साधन बताया था। शील का अर्थ सम्यक आचरण, समाधि का अर्थ सम्यक ध्यान तथा प्रज्ञा का अर्थ सम्यक ज्ञान से है। शील और समाधि से प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है, जो सांसारिक दु:खों से मुक्ति पाने का मूल साधन है। (प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति डॉ० के० सी० श्रीवास्तव) पृ० 849।

18

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध व जैन-परम्परा का प्रभाव

अनुपम कुमार

छठी शताब्दी ईसापूर्व की अवधि विश्व के कई क्षेत्रों में धार्मिक हलचल तथा आंदोलन की अवधि थी। 'चीन में कन्फ्यूशियस, ईरान में जरथ्रुष्ट्र तथा यूनान में पाइथोगोरस अपने उपदेश समाज के बीच दे रहे थे।'

भारत की धरती पर भी छठी शताब्दी ईसापूर्व में दो महापुरुष महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध का उदय हुआ। वैसे तो महावीर व महात्मा बुद्ध धर्म की दो अलग पद्धतियों, जो कि क्रमशः जैन और बौद्ध धर्म के नाम से विश्व में प्रचलित हैं, जो स्थापित किया, परंतु दोनों ही धर्म भारतीय संस्कृति के जड़ से जुड़े होने के कारण उस समय में भारतीय संस्कृति में होते हुए क्षरण को निष्प्रभावी कर इसमें जीवंतता प्रदान कर इसे पुनः विश्वव्यापकता प्रदान करने का सफल प्रयास किया।

भारतीय संस्कृति अति प्राचीन काल से धर्म-आधारित संस्कृति रही है। छठी शताब्दी में सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में हो रहे परिवर्तनों ने वैदिक धर्म की कई प्रचलित मान्यताओं को जीर्ण बना दिया था जिससे उसमें परिवर्तन आवश्यक प्रतीत हो रहा था। इसी आवश्यकता ने दरअसल बौद्ध व जैन धर्म के प्रस्फुटन का वास्तविक आधार बनाया।

बौद्ध व जैन धर्म का उदय व विकास छठी शताब्दी ईसापूर्व में भारत में गंगा का दोआब क्षेत्र, जो मुख्य रूप से बिहार व उत्तर प्रदेश का क्षेत्र है, में हुआ। यह वह क्षेत्र है जहाँ उस समय सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र

में परिवर्तन हो रहे थे तथा इसके समर्थन के लिए धार्मिक स्वीकृति की आवश्यकता थी।

विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तन तथा वैदिक धर्म की रूढ़ियां

लौह तकनीक के विकास ने खेती में क्रांतिकारी परिणाम लाये। लोहे के फाल से गहरी जुताई के कारण अधिक उपज होना संभव हुआ तथा कृषि क्षेत्र में भी विकास हुआ। इसके परिणामस्वरूप कृषि प्रणाली में अब कृषि कार्य के लिए अधिकाधिक पशुओं की जरूरत महसूस हो रही थी। अतः पशुवध अब वैदिक यज्ञ में हो अथवा इस क्षेत्र में जनजातीय लोगों द्वारा, सामाजिक प्रगति के लिए बाधक बन गया।

कृषि विकास के अतिरिक्त लौह उपकरण के बढ़ते प्रयोग से अनेक शिल्पों तथा उद्योगों में भी प्रगति हुई। फलस्वरूप उत्तर पूर्व भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। साथ ही, इसका सकारात्मक प्रभाव व्यापार के द्रुत विकास पर भी पड़ा। इन सबके कारण वैदिक सामाजिक व्यवस्था के कबायली जीवन की परंपरागत मान्यता टूटने लगी। व्यवसायी तथा व्यापारी अत्यधिक धनी होने लगे। निजी संपत्ति की धारणा दृढ़तर होने लगी। उसे सामाजिक व धार्मिक मान्यता की आवश्यकता थी।

लौह तकनीक के विकास ने क्षत्रि वर्ग को अधिक शक्तिशाली बनाया तथा बड़े-बड़े साम्राज्य की स्थापना का मार्ग पथ-प्रशस्त किया। क्षत्रिय वर्ग अत्यधिक धन संपन्न होने लगे। परिणाम - स्वरूप समाज में अपनी अग्रणी भूमिका व उनकी अपेक्षा स्वभावतः बढ़ने लगी।

उत्तर वैदिक काल में कृषिगत विकास, शिल्प एवं उद्योग में वृद्धि तथा व्यापारिक प्रगति हो रही थी। साथ ही इस काल में वैदिक यज्ञ का प्रभाव भी बहुत बढ़ गया था एवं विभिन्न साम्राज्यों की स्थापना के कारण निरंतर युद्ध चल रहे थे, परिणामस्वरूप सर्वाधिक क्षति कृषि, शिल्प एवं उद्योग तथा व्यापार से संबंधित लोगों को हो रही थी, क्योंकि वैदिक यज्ञ में जहाँ धन व पशु की हानि हो रही थी वहीं युद्ध के अधिकांश बोझ इन्हीं लोगों को उठाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त युद्ध के कारण वे विस्थापित भी हो जाते थे। दूसरे, वैदिक व्यवस्था में व्यापार से संबंधित कई बाधाएं भी थीं।

उत्तर वैदिक काल की धार्मिक आस्थाएँ, यज्ञ अनुष्ठान एवं कर्मकांडीय व्यवस्था जहाँ प्रारम्भ में तत्कालीन भौतिक पृष्ठभूमि से प्रभावित थी तथा वृहत्तर समुदाय के संगठन में मदद करती थी, परंतु लौह तकनीक में उत्तरोत्तर विकास तथा इसका कृषि, उद्योग, व्यापार तथा राजनीति पर पड़े प्रभाव ने छठी शताब्दी ईसापूर्व तक इसे मूल्यहीन बना दिया।

महात्मा बुद्ध तथा महावीर स्वामी का उदय

इस प्रकार छठी शताब्दी ईसापूर्व में वैदिक धर्म में आयी कुरीतियों तथा इसके विरोधस्वरूप अतिवादी सिद्धांतों पर आधारित उपदेश के कारण समाज में पैदा हुई नयी समस्या ने भारत की स्थिति दयनीय कर दी थी। इस स्थिति से निदान तथा समाज को पुनः दिशा दिखाने के लिए ऐसे महापुरुषों की आवश्यकता थी जिनका चिंतन उस समय के सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों को समाहित करता हो तथा वैदिक धर्म की जीर्ण परंपराओं तथा विभिन्न परिव्राजकों के अव्यवस्था मूलक उपदेशों से समाज को मुक्ति दिलाने में सक्षम हो। ऐसे ही उपयुक्त समय पर हो महापुरुषों का जन्म भारत में हुआ, जिनकी शिक्षा तथा उपदेश भारतीयों द्वारा ही नहीं वरन् विश्व के कई क्षेत्रों में स्वीकार किया गया।

इन दो महापुरुषों में एक महावीर स्वामी थे जो जैनधर्म के 24वें व सर्वाधिक महत्वपूर्ण तीर्थंकर थे। इनका जन्म 540 ईसापूर्व में वैशाली के निकट कुण्डग्राम गांव में हुआ था। वे वैशाली के वज्जिसंघ के ज्ञातृक क्षत्रिय कुल से संबंधित थे। तथा दूसरे महापुरुष महात्मा बुद्ध का जन्म 566 ईसा पूर्व में कपिलवस्तु जो वर्तमान बिहार तथा नेपाल की सीमा पर पड़ता है, में हुआ। वे शाक्य क्षत्रिय कुल से संबंधित थे।

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म के उपदेश

महात्मा बुद्ध तथा महावीर जैन दोनों श्रमण संस्कृति के निवृत्ति मार्ग (सन्यासी मार्ग) से संबंधित थे। इनके संबंध में हमें जानकारी क्रमशः बौद्ध ग्रंथों तथा जैन ग्रंथों से मिलती है।

बौद्ध ग्रंथों में महत्वपूर्ण है त्रिपिटक - (1) सुत्त पिटक, (2) विनय

पिटक, (3) अभिधम्म पिटक। इसके अतिरिक्त बौद्धों से संबंधित संस्कृत साहित्य में अश्वघोष द्वारा रचित बुद्धचरित, सौदरानंद, सुत्रलंकार, सारिपुत्रप्रकरण, वज्रसूचि, वसुमित्र द्वारा रचित महाविभाष शास्त्र इत्यादि।

जैनग्रंथों में महत्वपूर्ण हैं (1) बारह अंग, (2) बारह उपांग, (3) दस प्रकीर्ण, (4) छः छेद सूत्र, (5) चार मूलसूत्र, (6) दो सूत्र ग्रंथ। ये सभी प्राकृत/अर्धमागधी भाषा में लिखित हैं।

इसके अतिरिक्त भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र, भद्रबाहुचरित, हेमचंद्ररचित प्रसिष्ठ पर्व महत्वपूर्ण जैनी ग्रंथ है।

जैन व बौद्ध दोनों ने वेद की प्रमाणिकता तथा वेदवाद पर संदेह व्यक्त किया है। यज्ञ कर्मकांड तथा यज्ञ में पशुवध के विधान, जैन व बौद्धों के लिए आलोचना की विषय वस्तु रहे। दोनों ने ईश्वर की सत्ता को नकारा तथा जन्म मरण के चक्र से मुक्ति तथा दुःख से निवृत्ति हेतु वैदिक व्यवस्था में सुझायी गयी राह जिसमें ईश्वर, पुरोहित, यज्ञ, इत्यादि का महत्व था, जो खारिज किया।

जैन व बौद्ध धर्म दोनों में संसार को दुःख से भरा हुआ बताया गया है। मनुष्य का जीवन तृष्णा से घिरा रहता है। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होते हैं, तथा कर्मफल भोगता है। इस कर्मफल से मुक्ति पाना तथा जीवन-मरण के चक्र से छुटकारा पाना ही जीव का चरम लक्ष्य है। इसे दोनों धर्मों में निर्वाण कहा गया है। जैन धर्म में निर्वाण यद्यपि मृत्यु के साथ प्राप्त होता है जबकि बौद्ध धर्म में निर्वाण की प्राप्ति इसी जन्म में अर्थात् मृत्यु से पूर्व ही संभव बताया गया है।

महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं अपना उत्तरदायित्व बताया है। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है। मनुष्य अपने कर्मफल के संग्रह को समाप्त कर तथा उससे विमुख होकर जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्त कर सकता है। यह सभी जाति एवं वर्ण के लिए समान रूप से लागू होता है। भले ही वह वैश्य अथवा शूद्र हो या स्त्री हो।

जैन धर्म में आत्मा पर विचार किया गया है। यहाँ तक कि जीव-अजीव सभी पदार्थों में आत्मा का होना माना गया है। महावीर स्वामी ने माना है कि

आत्मा कर्मफल के बंधन में बंध जाती है, जिससे जीव को पुनः – पुनः जन्म लेना पड़ता है तथा दुःख भोगता है, इसके लिए आवश्यक है कि आत्मा की शुद्धि तथा कर्मफल के बंधन से मुक्ति के लिए वैदिक यज्ञवाद, उपनिषदीय ज्ञानवाद में न पड़कर सम्यक जीवन की राह का अनुसरण करे। क्योंकि यज्ञवाद की संस्कृति एक तो पुरोहित प्रधान संस्कृति है तथा दूसरे यज्ञीय कर्मों में पशुवध होता है जो हिंसा होने के कारण पाप उत्पन्न करता है। मुक्ति के लिए ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक ज्ञान के केवल एक अंश को देखता है। अतः आत्मा की शुद्धि के लिए सम्यक् जीवन की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त जैन धर्म में आत्मा की शुद्धि तथा शरीर से उसकी मुक्ति के लिए उपवास के द्वारा काया-क्लेश का भी विधान किया गया।

महात्मा बुद्ध ने वेद यज्ञ तथा ईश्वर के अस्तित्व की तरह आत्मा का भी कोई स्थान नहीं माना है। उनके अनुसार जन्म-मरण का कारण आत्मा नहीं है, बल्कि किसी जीव का कर्मफल है जो उसे बार-बार जीवन-मरण के चक्र में डालता है। कर्मफल अगले जन्म का कारण कैसे बनता है, इसके उत्तर में मिलिन्द प्रश्न में कहा गया है, जिस प्रकार पानी में लहर उठकर दूसरे को जन्म देकर स्वयं समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार कर्मफल चेतना के रूप में पुनर्जन्म का कारण होता है।

महात्मा बुद्ध ने चार आर्य सत्यों के ज्ञान तथा अनुशीलन तथा अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण से निर्वाण संभव बताया है।

बौद्ध व जैन धर्म की सीमाएं

बौद्ध व जैन धर्म दोनों ने सभी जाति, वर्गों के स्त्री पुरुष के लिए अपना द्वार खोला परंतु स्पष्ट व मुखर तौर पर जाति व वर्ण व्यवस्था की आलोचना नहीं की। दोनों मतों में जाति निर्धारण को जन्म के बदले कर्म पर आधारित करने का प्रयास ब्राह्मणों से कई जगह पर क्षत्रियों को श्रेष्ठ बताना जाति प्रथा को पुष्ट करता है। दूसरे बौद्ध व जैन धर्म भी उत्पीड़त वर्गों को समाज में सम्मान दिलाने में सक्षम न रहा। उच्च वर्ग के लोग ही मुलतः इन मतों से ज्यादा लाभ उठाया।

बौद्ध व विशेषकर जैन धर्म में अहिंसा पर अधिक जोड़ दिया गया था जिससे साम्राज्य निर्माताओं के लिए इनके मतों को स्वीकार करना कठिन था। कृषि से जुड़े लोगों को भी जैन विचारों को स्वीकार करना संभव न था, क्योंकि कृषि कार्य में कीड़े मकोड़ों की मृत्यु होती ही है।

जैन धर्म में निर्वाण की प्राप्ति हेतु कष्टसाध्य तप व कायाक्लेश का विधान तथा समाज के बंधन यथा वस्त्रों का परित्याग जैन धर्म को समाज में व्यापक स्वीकार्यता नहीं प्रदान करने दिया।

इसके अतिरिक्त जैन व बौद्ध धर्म में प्रचारकों की कमी रही। दोनों धर्मों के अन्तर्गत अनेक संप्रदाय भी फूट पड़े जो एक दूसरे का विरोध करते थे। मठ पाप व षड्यंत्र का केन्द्र बन गया। ब्राह्मण धर्मावलंबी राजाओं ने भी बौद्ध व जैन मतों का फैलाव का भारत में विरोध किया।

वहीं शंकराचार्य, कुमारिभट्ट और अन्य वैदिक आचार्यों ने वैदिक धर्म का खूब प्रचार किया दूसरे भारत में वैदिक ब्राह्मण धर्म के तहत भक्ति/धार्मिक आन्दोलन बाद की शताब्दियों में हुआ जिसमें बौद्ध व जैन धर्म की भांति समाज के हर वर्गों के लिए मुक्ति व सतमार्ग की राह का स्थानीय सरल भाषाओं में विभिन्न आचार्यों ने अपना उपदेश दिया। बुद्ध को भी हिन्दु अवतार की श्रेणी में मान्यता दी गयी। इस सभी ने पुनः हिन्दु धर्म का उद्धार किया तथा जैन व बौद्ध धर्म का भारत में गला घोटने का कार्य किया।

निष्कर्ष

बौद्ध व जैन परंपराओं की भी अपनी कुछ सीमाएं अथवा कमजोरियां थीं और कुछ समय के साथ इसमें जीर्णता व अपसंस्कृति भी आ गयी थी। जैन धर्म का प्रसार मूलतः भारत तक ही सीमित रह गया तथा बौद्ध धर्म अपने गृह प्रदेश मगध व्र भारत से ही सीमित रह गया तथा बौद्ध धर्म अपने गृह प्रवेश मगध व भारत से लगभग पूर्णतः समाप्त हो गया तथापि शताब्दियों तक जैन व बौद्ध मत भारत के लोगों को प्रभावित तथा मार्गदर्शक की भूमिका निभाता रहा। इनके मतों को भारत के विभिन्न राजाओं ने भी अपना समर्थन दिया। उत्तर *भारत के जैन समर्थक राजाओं में मगध के नंदवंश, हर्यकवंश के बिम्बिसार,*

आजातशत्रु व उदायिन, मौर्यवंश चन्द्रगुप्त मौर्य, कलिंग के खारवेल महत्वपूर्ण हैं। दक्षिण भारत के जैन समर्थक राजाओं में गंगवश के राजा, कदम्ब वंश के राजा, चालुक्य/सोलंकीवंश के जयसिंह व कुमारपाल, राष्ट्रकूट वंश के अमोघवर्ष महत्वपूर्ण हैं। बौद्ध समर्थक मतों के राजाओं में मगध के हर्यक वंश के राजा बिम्बिसार, आजातशत्रु, कोशल के राजा प्रसेनजीत, वत्स के राजा उदायिन, अवंति के प्रद्योत, मौर्यवंश के अशोक, दशरथ, हिन्दूग्रीक वंशी मिनान्दर, कुषाणवंश के कनिष्क, वर्धनवंशी, हर्षवर्धन, पालवंशी गोपाल, धर्मपाल व रामपाल प्रमुख हैं। विश्व के कई देशों में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ जहाँ यह आज तक फल फूल रहा है।

जैन व बौद्ध मतों ने आर्थिक विकास तथा शहरीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया वहीं धर्माचरण से यज्ञ, पुरोहित, ईश्वर तथा आत्मा (बुद्ध) की भूमिका को नकारकर धर्म के क्षेत्र में नया शंखनाद किया। सभी वर्णों के स्त्री-पुरुष को जैन व बौद्ध मठों में समावेश, शिक्षा/उपदेश में स्थानीय भाषा को महत्व प्रदान करना, इनका एक बहुत ही सराहनीय कदम था। राजा के समक्ष दिग्विजय की जगह धर्म विजय, जनता को सेना से जीतने की जगह, मानवता व जन कल्याण के कार्यों से जीतने को महत्व प्रदान कर चक्रवर्ती सम्राट के नये लक्ष्य, नयी अवधारणा को जन्म दिया।

जैन धर्म व बौद्ध धर्म का अहिंसा, समाज के सभी वर्गों का समान महत्व, धर्म के क्षेत्र में दिये गये इन धर्मों के प्रवर्तकों द्वारा उपदेश जैन व बौद्ध धर्म के मतानुयायियों के लिए ही नहीं परंतु विश्व शांति व बंधुत्व में विश्वास करने वालों के लिए प्रेरणास्त्रोत व प्रभावित करने वाली अखंड दिव्य ज्योति है। इसके लिए भारतीय सभ्यता ही नहीं सम्पूर्ण विश्व सभ्यता जैन व बौद्ध परम्पराओं का सदा ऋणी रहेगी। आज जिस रूप में हम भारतीय संस्कृति को देखते हैं उसमें जैन व बौद्ध परंपराओं का प्रभाव अनुस्युत है।

संदर्भ

1. वृहत्तर भारत, डॉ० भगवत शरण उपाध्याय
2. भारत का इतिहास, नवीनमूल्यांकन, लेखक डी० एन० ग्रोवर, प्रकाशक मुकेशचन्द एण्ड कंपनी।

3. भारतीय इतिहास की समीक्षा, लेखक लाल बहादुर शर्मा।
4. प्राचीन भारत का इतिहास-हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन कार्यालय दिल्ली विश्वविद्यालय, सम्पादक (1) जितेन्द्र नारायण झा, (2) कृष्णमोहन श्रीमाली।
5. भारत का इतिहास, लेखक रोमिला थापर
6. प्राचीन भारत का इतिहास, लेखक डॉ० भगवत् शरण उपाध्याय।
7. प्राचीन भारत, लेखक डॉ० रमेश चन्द्र मजूमदार।

19
जैन धर्म में यक्षिणियाँ

इष्ट देव ओझा

जैन धर्म में यक्षिणियों का जिनों की सहायक देवियों के रूप में उल्लेख मिलता है। यक्षिणियाँ हिन्दु धर्म की दुर्गा, चामुण्डा जैसी देवियों की सदृश्य दिखाई देती हैं। जैन देव मण्डल में इनका स्थान लोक देवियों के रूप में दिखाई देता है। ऐसी धारणा है कि इन्द्र ने 24 तीर्थंकरों की सेवा हेतु 24 यक्षिणियों की कल्पना की तथा बाद में कलाकारों द्वारा इन्हें मूर्त रूप प्रदान किया गया। भरहुत एवं सांची के तोरण द्वार से प्राप्त अश्वमुखी यक्षी की मूर्तियों की शारीरिक बनावट उनके अंगों की कोमलता एवं विषय वासना से युक्त स्वरूप को उकेरने में समकालीन कलाकारों को सफलता मिली। जैन धर्म में 24 यक्षियों के स्वतंत्र अंकन में उनकी लाक्षणिक विशेषताओं का पूर्णतः पालन नहीं किया गया है। इनकी लाक्षणिक विशेषताएं स्वतंत्र रूप से 10वीं 12वीं शती के साहित्यिक ग्रन्थों में मिलती हैं। 24 यक्षिणियों की मूर्तियों का निर्माण लोकमंगल की भावना से प्रेरित दिखाई देता है। देवकोटि में यक्षिणियों को सम्मिलित करने के कारण इनकी मूर्तियों की भव्यता अत्यन्त आकर्षक दिखाई देती है।

यक्षियों के सबसे प्राचीन उल्लेख हमें वाल्मीकि के रामायण में मिलता है। जिसमें वाल्मीकि जी ने एक अश्वमुखी यक्षी की परिकल्पना की है। एक स्वप्न में भरत ने देखा कि काले लोहे की चौकी पर महाराजा दशरथ बैठे हैं उन्होंने काला वस्त्र पहना है और काले एवं पिंगल वर्ण की स्त्रियाँ उनके ऊपर प्रहार करती हैं-

पीठे कार्ष्णायसे चैव निषण्णं कृष्णवाससम्।
प्रहरन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिंगलाः।।[1]

इसी प्रकार एक अन्य स्वप्न में भरत ने देखा कि एक लाल वस्त्र पहने विकराल मुख वाली राक्षसी महाराज को हँसती हुई खीचकर लिए जा रही थी यथा –

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी।
प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना।।[2]

इसी प्रकार रामायण में अयोमुखी का नाम आया है जो अपने को लक्ष्मण की पत्नी बताती है।[3] पालि जातक कथाओं में भी अश्वमुखी यक्षी के सन्दर्भ एक कहानी के रूप में मिलती है जिसकी कोख से बोधिसत्त्व का जन्म हुआ था। इस जातक को विद्वान अश्वमुखी जातक भी कहते हैं।[4] श्रीलंका के पालि ग्रन्थ महावंश से भी अश्वमुखी यक्षी के उल्लेख मिलते हैं। अपने मामा गणों से संघर्ष के समय श्रीलंका के राजकुमार पाण्डुकाभय को चेतिया नाम की श्वेत अंग एवं लाल पैर की एक अश्वमुखी मिली थी जिनके सहयोग से पाण्डुकाभय को अपना राज्य वापस मिल गया था इसमें इस यक्षी का सम्बन्ध एक राजपुरुष के साथ दिखलाया गया है।[5]

अश्वमुखी यक्षी जातक कथागत शिल्पांकन सांची, भाजा, बोधगया, मथुरा, पटना आदि की उत्कीर्ण प्रस्तर कला में पाया गया है। सांची शिल्प में एक पुरुष और एक अश्वमुखी के मिथुन के दो अंकन मिले हैं। एक अंकन स्तूप नं० – 2 के एक वेदिका स्तम्भ (क्रमांक 86) के केन्द्रीय चक्रफलक में खुदे मिले हैं। इसमें एक अश्वमुखी अपनी गोद में एक मानव पुरुष को ले जाती हुई अंकित है।[6]

सांची शिल्प का दूसरा अंकन स्तूप सं० – 3 के एक मात्र तोरण की निचली बड़ेरी पर उत्कीर्ण है इस दृश्य में एक शिलातल पर आमने सामने बैठे हुए एक पुरुष और एक अश्वमुखी यक्षी को उकेरा गया है इसमें बन का वातावरण उपस्थित किया गया है।[7]

ई० सन् की दूसरी शती में भरहुत एवं साची के यक्षिणी का अनुकरण

अमरावती कला में भी किया गया है। यक्षिणी विषय वासना से पूर्ण कामातुर के रूप में दिखलाई गयी है। अमरावती के कलाकारों का ध्यान मानव आकृति पर अत्यधिक दिखलाई पड़ता है।[8] बिहार प्रान्त के चौसा नामक स्थान से कांसे के धर्मचक्र के मूँठ के साथ ही दो यक्षिणियों की मूर्तियाँ मिली हैं। ध्यातव्य है कि यह मूर्ति सांची तोरण की यक्षिणी से मिलती हैं।[9]

गुप्त काल में जैन मूर्तियों में यक्ष यक्षिणियों की मूर्तियों को पर्याप्त महत्व दिया गया है। गुप्त कालीन जैन मूर्तियां सुन्दरता तथा कलात्मक दृष्टि से उत्तम समझी गयी हैं। गुप्तयुग की मूर्तियों में 'अधोवस्त्र' तथा 'श्रीवत्स' दो प्रमुख विशेषताएं दिखलाई पड़ती हैं।[10] जैन मत में यह विश्वास है कि इन्द्र ने प्रत्येक तीर्थंकर की सेवा के लिए यक्ष तथा यक्षिणी को नियुक्त किया है। जैन धर्मावलम्बी यक्षिणियों को तीर्थंकर की सहायक देवी या शासन देवी मानते हैं।[11] यक्षियों की लाक्षणिक विशेषताएं एवं उनके नामों की सूची अपराजितपृच्छा जैसे ग्रन्थों में मिलते हैं। इनके नामों की सूची में किंचित अन्तर देवतामूर्तिप्रकरण एवं रूपमण्डन जैसे ग्रन्थों में दिखलाई पड़ते हैं। अपराजितपृच्छा से प्राप्त सूची दिगम्बर सम्प्रदाय से तथा रूपमण्डन एवं देवतामूर्तिप्रकरण की सूची श्वेताम्बर *सम्प्रदाय की यक्षियों की सूची से मिलती हैं। यक्षियों के नामों के किंचित* अन्तर निम्न सारणी से समझा जा सकता है[12] –

क्रम	तीर्थंकर	अपाराजितपृच्छा	रूपमण्डन	देवतामूर्तिप्रकरण
1.	ऋषभनाथ	चक्रेश्वरी	चक्रेश्वरी	चक्रेश्वरी
2.	अजितनाथ	रोहिणी	अजितबला	अजितबला
3.	सम्भवनाथ	प्रज्ञा	दुरितारी	दुरितारी
4.	अभिनन्दन	बज्रश्रृंखला	कालिका	कालिका
5.	सुमतिनाथ	नरदत्ता	महाकाली	महाकाली
6.	पद्मप्रभ	मनोवेगा	श्यामा	श्यामा
7.	सुपार्श्वनाथ	कालिका	शान्ता	शान्ता
8.	चन्द्रप्रभ	ज्वालामालिनी	भृकुटि	भृकुटि

9. सुविधिनाथ या पुष्पदंत	महाकाली	सुतारीका	सुताराका
10. शीतलनाथ	मानवी	अशोका	अशोका
11 श्रेयांशनाथ	गौरी	मानवी	मानवी
12. वासुपूज्य	गान्धारी	चण्डी	चण्डी
13. विमलनाथ	विराट	विदिता	विदिता
14. अनन्तनाथ	अनन्तमती	अंकुशी	अंकुशी
15. धर्मनाथ	मानसी	कन्दर्प	कन्दर्पी
16. कुथुनाथ	जया	–	बला
17. अरनाथ	विजया	धारणी	धारणी
18. मल्लिनाथ	अपराजिता	धरणाप्रिया	धरणाप्रिया
19. मुनिसुव्रत	बहुरुपा	नदराक्ता	नरदत्ता
20. नमिनाथ	चामुण्डा	गान्धर्व	गान्धारी
21. नेमिनाथ या अरिष्टनेमि	अम्बिका	अम्बिका	अम्बिका
22. पार्श्वनाथ	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती
23. महावीर	सिद्धयिका	सिद्धायिका	सिद्धायिका

यक्षियों की लाक्षणिक विशेषताएं 10वीं 12वीं शती ई० के मध्य निर्धारित हुई जिनके उल्लेख निर्वाणकलिका, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, प्रतिष्ठासारसंग्रह एवं प्रतिष्ठासारोद्धार, अपराजितपृच्छा जैसे शास्त्रीय ग्रन्थों में है। हरिवंशपुराण (783 ई०) में सिंहवाहिनी अम्बिका और चक्र धारण करने वाली अप्रतिचक्रा यक्षियों के उल्लेख मिलते हैं। कुछ यक्षियों के नामोल्लेख एक से अधिक जिनों के साथ किए गए हैं।[13]

भृकुटि का यक्ष एवं यक्षी दोनों ही रूपों में उल्लेख मिलता है।[14]

24 यक्षियों की सूची में अधिकांश के नाम एवं उनकी लाक्षणिक विशेषताएं ब्राह्मण और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देव कुल के देवों से प्रभावित

प्रतीत होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्म में ब्राह्मण देवकुल के विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द, कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्रश्रृंखला, वज्रतारा एवं वज्राकुंशी के नामों और उनकी लाक्षणिक विशेषताओं को ग्रहण कर लिया गया है। जैन देवकुल पर ब्राह्मण और बौद्ध देवकुलों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, तारा एवं वज्रश्रृंखला जैसे कुछ प्रमुख यक्षणियों पर उपरोक्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

छठी शती ई० में अकोटा में नेमिनाथ के अम्बिका यक्षी के निरूपण के बाद पार्श्वनाथ के पद्मावती यक्षी की मूर्तियों का निर्माण किया गया। लगभग 10वीं शती ई० में अन्य यक्षियों की मूर्तियों का भी निर्माण किया जाने लगा। लगभग छठी शती ई० में जिन मूर्तियों की पीठिका पर और नवीं शती ई० में स्वतन्त्र मूर्तियों के रूप में यक्षिणियों की मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा।[15] लगभग 10वीं शती ई० से ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर के साथ सर्वानुभूति एवं अम्बिका के स्थान पर स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष यक्षी युगलों का निरूपण आरम्भ हुआ। इसके मुख्य उदाहरण देवगढ़, ग्यारसपुर, मथुरा, खजुराहो एवं राज्य संग्रहालय लखनऊ में देखने को मिलते हैं।[16]

स्वतंत्र अंकनों में यक्षिणियां यक्षी मूर्तियों की तुलना में कहीं अधिक लोकप्रिय लगती हैं। 24 यक्षियों के सामूहिक अंकन के तीन उदाहरण देखने को मिलते हैं। पहला उदाहरण देवगढ़ मन्दिर 12, 862 ई० से देखने को मिलता है। यहाँ से प्राप्त 24 यक्षियों की मूर्तियों में त्रिभंग में खड़ी यक्षियों के नाम भी उत्कीर्ण किये गये हैं। देवगढ़ के उदाहरण में अम्बिका के अतिरिक्त अन्य किसी यक्षी के निरूपण में जैन शास्त्रों में उल्लिखित निर्देशों का पालन नहीं किया गया है। देवगढ़ समूह की यक्षिणयों के दो उदाहरणों में सरस्वती और मयूरवाहिनी नामों वाली यक्षियां भी उकेरी गयी हैं। देवगढ़ से प्राप्त यक्षियों के उदाहरण में प्रत्येक जिन के साथ एक यक्षी की कल्पना की गयी है परन्तु अम्बिका के अतिरिक्त अन्य किसी भी यक्षी की स्वतंत्र लाक्षणिक

विशेषताएं निश्चित न होने के कारण यक्षिणियों के निरूपण में महाविद्याओं एवं सरस्वती के लाक्षणिक स्वरूपों का ही अनुकरण किया गया है।[17]

दूसरा उदाहरण पतियानदाई मन्दिर (सतना, म० प्र०) की अम्बिका मूर्ति से मिलती है यह मूर्ति लगभग 11वीं शती ई० की प्रतीत होती है। इसमें 23 यक्षिणियों की चतुर्भुज आकृतियां अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। स्वतंत्र लक्षणों वाली इन यक्षियों के साथ इनके नाम भी उत्कीर्ण किये गये हैं। यहाँ से प्राप्त यक्षिणियों के नामों और लक्षणों के आधार पर विद्वान इनका समीकरण दिगम्बर परम्परा के साथ करते हैं।[18]

24 यक्षियों के सामूहिक अंकन का तीसरा उदाहरण बारभुजी गुफा (खण्डगिरि, उड़ीसा) से प्राप्त होता है इसको 11वीं 12वीं शती ई० का माना जाता है यहाँ भी सम्बन्धित जिनों के साथ उनकी यक्षियों की कल्पना की गयी है परन्तु उनके नाम अंकित नहीं मिलते। ध्यातव्य है कि यहाँ से प्राप्त 24 यक्षिणियों में केवल चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं पद्मावती के निरूपण में ही शास्त्रीय परम्परा का अंशतः पालन किया गया है। कुछ यक्षिणियों जैसे चक्रेश्वरी, अजिता, ज्वालामालिनी, पद्मावती की दो से 20 भुजाओं वाली मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो हिन्दू धर्म की दुर्गा, काली आदि मूर्तियों के सदृश दिखाई देती हैं।[19]

गोरखपुर जनपद और उसके आस पास श्री कृष्णानन्द त्रिपाठी को टूटे सिर वाली अनेक यक्ष यक्षी प्रतिमा मिली हैं। कोसल के कपिलवस्तु, श्रावस्ती, साकेत और वाराणसी में यक्ष यक्षी पूजा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। यक्ष यक्षिणियों की पूजा बस्ती, खलीलाबाद के लहुरादेवा जैसे स्थलों पर प्रचलित दिखाई देती हैं। उल्लेखनीय है कि बस्ती जिले की सीमा मखवाड़ या यक्षस्थली कहलाती है जहाँ राजा दशरथ ने पुत्रकामेष्टि यज्ञ किया था। यह मनोरमा के तट पर स्थित है मनोरमा नदी का प्राचीन नाम है जो सरयू में मिल जाती है। यहाँ श्रृगी ऋषि का श्रृंगी नारी स्थल भी है। मखौड़ा अर्थात् कामेष्टि यज्ञ स्थल जहाँ रामायण के अनुसार तीनों रानियों ने पुत्रेच्छा से फल खाया था। आज भी चैत्र पूर्णिमा पर यहाँ यज्ञ सम्पन्न होता है। ध्यातव्य है कि यह स्थल सरयू नदी के

समीप स्थित है। इस क्षेत्र में प्राचीन काल से इन्द्रमह, ब्रह्ममह और यक्षमह की परम्परा विद्यमान रही हैं।[20]

उपर्युक्त तथ्य से यह बात स्पष्ट होती है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में अत्यन्त प्राचीन काल से कुलदेवता एवं कुलदेवियों की पूजा लोक कल्याण की भावना से की जाती है।

संदर्भ

1. रामायण 2/69/14, द्र० श्रीमदवाल्मीकीय रामायण गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय सं० 2024
2. वही, 2/69/16
3. वही, 3/69/15
4. पालिजातक सं० 432, द्र० सर जान मार्शल: मान्यूमेण्ट्स ऑव सांची खण्ड एक, लन्दन, 1940, पृ० 151
5. महावंश, 10/53/61 (महावंश अनु० भदन्त आनन्द कौसलायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० 2014, पृ० 53-55)
6. द्र० डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव: भारतीय कला सम्पदा 2001, इलाहाबाद. पृ० 121-122, 233, चित्र सं० 121
7. वही, पृ० 233, चित्र सं० 120
8. द्र० डॉ० वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, 1982, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, पृ० 35
9. वही, पृ० 134
10. वही, पृ० 170
11. हरिवंश पुराण, 66, 43-44, द्र० बी० सी० भट्टाचार्य: दी जैन ऑइकनोग्राफी, 1939, लाहौर, पृ० 92
12. आर० एस० गुप्ते : ऑइकनोग्राफी ऑफ हिन्दु बौद्धिस्थ ऐण्ड जैन: 1972, मुम्ई, पृ० 177-178
13. नरदत्ता, मानवी, अच्छुप्ता यक्षियों के नामोउल्लेख एक से अधिक जिनों के साथ किये गये हैं, द्र० डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी, डॉ० कमलगिरी: मध्यकालीन भारतीय प्रतिमा लक्षण, 1997, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 269
14. वही, पृ० 269
15. वही, पृ० 269-270
16. वही, पृ० 270

17. वही, पृ० 270-271; द्र० डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी : जैन प्रतिमा विज्ञान, 1981, पार्श्वनाथ, विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, पृ० 160-161
18. वही, पृ० 161
19. डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी एवं डॉ० कमल गिरि: पूर्वोक्त, पृ० 271
20. द्र० डॉ० रेखा चतुर्वेदी: शब्द संस्कृति और विचार, 2008, इलाहाबाद, पृ० 333-334
21. डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी, पूर्वोक्त, पृ० 160
22. द्र० डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी: प्राचीन भारतीय, मूर्ति विज्ञान, 2000, पटना, पृ० 180-181

20
बौद्ध साहित्य में संगीत

अश्विन कुमार सिंह

भारत में संगीत का विकास धर्मनिरपेक्ष मनोविनोद के साधन रूप में हुआ है। फिर भी संगीत धर्म की मूल की उक्ति है। सांगीतिक स्वर नाद अथवा ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति करते हैं। इसके द्वारा धार्मिक आराधना की जाती है। यज्ञ रूप में संगीत स्वयं धार्मिक पूजा है। मानव शरीर में ईश्वरीय ज्योति परम सुख और आनंद से परिपूर्ण निस्तब्धता का कोष है योगी जन योगाभ्यास के द्वारा उन दैवी कुण्डलियों के ज्ञान से मोक्ष तथा जीवनोद्धार प्राप्त करते हैं। जब मस्तिष्क और बुद्धि नवीन रचना के लिए एक हो जाते हैं। तभी अनाहत नाद की उत्पत्ति होती है। संगीत शिक्षा मानव को मानव से जोड़ती है। संगीत की भावात्मक एकता एक समाज से दूसरे समाज को जोड़ती है। जोड़ने की शक्ति संगीत की मधुर ध्वनि में है। संगीत की ध्वनियां प्राणि मात्र के स्वरूप को भावात्मकता प्रदान करने में सक्षम हैं। मानव व्यक्तित्व में मन की भूमिका अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं क्योंकि मन मानव के क्रिया-कलापों को प्रभावित करता है।

संगीत शास्त्र सामवेद का उपवेद माना जाता है; फलत: वेद के साथ इसका साक्षात् संबंध देखा जाता है। प्राचीन आर्य ऋषि संगीत को मानव मस्तिष्क को शांति प्रदान करने वाला मानते हैं। संगीत प्रेम, कला, करुणा, दया और उदारता का भाव उत्पन्न करने का साधन है। हमारे वैदिक ऋषि संगीत को मानव की आत्मा और मानव शरीर को एक सांगीतिक वाद्य मानते हैं। सांगीतिक स्वर मानवीय दुर्बलताओं[1] से मानव को मुक्ति दिलाते हैं। अत:

प्रागैतिहासिक काल से ही किसी न किसी रूप में मानव संगीत का उपयोग भौतिक मानसिक और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं से मुक्ति पाने हेतु करता आया है। सर्व प्रथम हमें संगीत की उत्पत्ति के विषय में जानना आवश्यक है। संगीत की उत्पत्ति के सिद्धांतों को समझने या जानने से पूर्व सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धांतों को समझना आवश्यक है। क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति के सिद्धांतों में गहरा संबंध है अत: सर्वप्रथम सृष्टि की उत्पत्ति के तत्वों पर विचार किया जा रहा है।

सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में आज जितने मत प्रचलित है उन्हें प्रमुख रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। विचार धारा की दृष्टि से उनको आस्तिक मत और विकासवादी मत कह सकते हैं। आस्तिक मतानुसार सृष्टि ईश्वर की रचना है और विकासवादी मत में जड़ प्रकृति का आकस्मिक संयोग *संसार की उत्पत्ति का कारण माना जाता है। संगीत की उत्पत्ति कब और कैसे* हुई, इस संबंध में आज जितने मत मतान्तर प्रचलित हैं उन पर प्रमुख रूप से इन दो विचार धाराओं का प्रभाव दिखाई देता है।

आस्तिक मत का प्रबल समर्थक भारतीय विचारधारा है। इसका प्रमुख श्रोत वैदिक साहित्य है। वैदिक साहित्य पर आधारित सिद्धांतों के आधार पर ही, भारतीय संगीत शास्त्रों में संगीतोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यह वर्णन इतना स्पष्ट व्यापक और सार्थक है कि उसके अंतर्गत विकासवादी मत के प्रमुख सिद्धांत 'क्रमिक विकास' का भी तर्क संगत रूप में समावेश हो जाता है।

वैदिक मतानुसार सृष्टि रचयिता परब्रह्म परमेश्वर की इच्छा रूपी मायाशक्ति की प्रेरणा से संसार की उत्पत्ति हुई है। संसार की छोटी से छोटी वस्तु का भी जब कोई निर्माता अवश्य है तब इस विशाल सृष्टि का निर्माता जिसमें नियम से रात दिन, ऋतु-परिवर्तन, जन्म-मरण, सुख-दु:ख की अविरलधारा प्रवाहित होती हुई दिखती है - किसी का होना तर्क संगत ही प्रतीत होता है।

भारतीय प्राचीन संगीत के विषय में सन् 1622 ई० में पंजाब में मोहन जो दड़ो और हड़प्पा में खुदाई हुई है, उसमें जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं, उनके द्वारा

सिन्धु घाटी की सभ्यता का पता चलता है। पुरातत्ववेत्ताओं तथा इतिहासकारों की सम्मति से ये वस्तुएं ईसा से 4500 से 5000 वर्ष पूर्व की है।

सबसे पहले सन् 1622 ई० में श्री राधाकृष्ण बनर्जी ने सिंधु के नीचे की ओर लरकाना से लगभग पच्चीस मील दक्षिण में पुराने पर्वत के एक खंडहर को खोजा। फिर सर जॉन मार्शल, श्री नैनोगोपाल मजूमदार, रायबहादुर दयाराम शाहनी, अरनेस्ट मैके (Earnest Mackay), रायबहादुर रामप्रसाद चंद्र, रायबहादुर के० एन० दीक्षित, श्री ह्वीलर इत्यादि अनेक विद्वानों ने इन खंडहरों की खुदाई कराई। इस खुदाई में जो अनेक वस्तुएं प्राप्त हुई उनमें श्री शंकर भगवान की तांडव नृत्य करती हुई एक मूर्ति तथा कांसे की बनी नग्न नारी की एक मूर्ति, जिसके एक हाथ में बहुत-सी चूड़ियां हैं और जो नृत्य की मुद्रा में है, उपलब्ध हुई है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे चित्र भी मिले हैं, जिनमें नृत्य के उत्कृष्ट नमूने भी प्रस्तुत किये गये हैं। उन खंडहरों की दीवारों पर सांगीतिक चित्र भी मिले हैं।

ईसा के 563 वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। इस काल के संगीत में जीवन हुआ था। इस काल के संगीत में जीवन की व्यापकता का समावेश अधिक हो गया अतः वही संगीतज्ञ सफल समझा जाता था जो कि अपने संगीत प्रदर्शन से मानव को समस्त विकारों से ऊपर उठा सके भगवान बुद्ध के संपूर्ण सिद्धांतों को गीतों की लड़ियों में पिरो दिया गया था जिसका सुंदर ढंग से गायन करके गांव-गांव और नगर-नगर की सुप्त जनता को जागरण के भव्य रथ पर लाया गया। इस काल में वीणा पर ही गायन होता था। शास्त्रीय संगीत अपने पूर्ण यौवन पर था। वास्तव में यह युग प्रकाशपूर्ण संगीत का था। संगीत पर जो वासना की धुन्ध छाई हुई थी वह विनष्ट हो गई थी। इस युग में संगीत पर कुछ सुंदर ग्रंथ भी लिखे गए थे।

बुद्ध के भावी श्वसुर ने विवाह से पूर्व यह शर्त रखी थी कि अपनी कला सम्पन्न पुत्री के लिए उसके भावी वर को संगीतादि कलाओं में निपुण सिद्ध करना होगा। पितृपुत्र-समागम कथा में उल्लेख है कि बुद्ध के जन्मोत्सव पर पांच सौ वाद्यों का वृंदवादन हुआ था। नर्तकियों और गणिकाओं का संगीतज्ञों के रूप में विशेष सम्मान था। बौद्ध विहारों में आराधना के लिए नियुक्त

कलाकारों को शासन की ओर से द्रव्य दिया जाता था। इन कलाकारों पर शासन का पूर्ण नियंत्रण रहता था। जातक काल अर्थात् इन्हीं दिनों में वीणा वादकों की प्रतियोगिताएं भी हुआ करती थी, जिसमें विजेता को पुरस्कार तथा राजाश्रय प्राप्त होता था। नालंदा विक्रमशिला तथा ओदन्तपुरी जैसे विश्वविद्यालयों में भी गांधर्व का स्वतंत्र निकाय (फैकल्टी) था। इनके अधिष्ठाताओं के रूप में भारत विख्यात संगीतज्ञों की नियुक्ति की जाती थी सम्पन्न परिवारों में बालक-बालिकाओं की संगीत-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। (संगीत विशारद)

इस काल में शास्त्रीय संगीत का विकास महाभारतकाल से अधिक हुआ इसी काल के समीप (अर्थात् 566 ई० पू०) भगवान बुद्ध का जन्मकाल माना जाता है। इस काल का बौद्धिक साहित्य, जो कि 'जातक', 'पिटक' और 'अवदान' के रूप में प्राप्त है, हमें इस काल स्थिति का ज्ञान कराता है इनमें जातक का अभिप्राय एक विशेष शीर्षकवाली कहानी से होता है, जिसमें बोधिसत्व के जीवन-संबंधी किसी घटना का वर्णन हो। 'पिटक' (अर्थात् पिटारी) बुद्ध वचनों के संग्रह का नाम और 'अवदान' में भिक्षु-भिक्षुणियों के पूर्व-जन्म की कथाएं हैं। इनके अतिरिक्त 'थेरगाथा' में भिक्षुओं के लिए और 'थेरीगाथा' में भिक्षुणियों के लिए उपदेश हैं। ये गाथाएं भिक्षु एवं भिक्षुणियों *द्वारा गाई जाती थी। 'थेरगाथा' में 107 पद्य और 1279 गाथाएं हैं। 'मत्जातक'* में 'मेधगीति' का और 'गुप्तिल जातक' में गन्धर्व गुप्तिलकुमार को सप्ततंत्री वीणा के वादन में कुशल बताया गया है। भगवान बुद्ध स्वयं एक उत्तम संगीतज्ञ थे। उन्होंने एक स्थान पर जो कहा है, उसका भाव है कि 'जीवन अग्नि के उस स्फुलिंग की भांति है जो दो काष्ठों के मर्दन करने से उत्पन्न होता है। अथवा जो वीणा के ध्वनि की तरह उत्पन्न होता है और फिर विलीन हो जाता है। अत: विद्वानों की जीवन के प्रति यह जानने की उत्कंठा कि वह वहाँ से आता है और कहाँ जाता है, जानने का प्रयास व्यर्थ है।[2]'

इस काल के संगीत में जीवन की व्यापकता का समावेश अधिक हो गया था। अब वही संगीतज्ञ सफल समझा जाता था जो कि अपने संगीत प्रदर्शन से मानव को समस्त विकारों से ऊपर उठा सके। भगवान बुद्ध के संपूर्ण

सिद्धांतों को गीतों की लड़ियों में पिरो दिया गया था। (भारतीय संगीत का इतिहास)

इसी संदर्भ में संगीत को भारत भूमि में धर्म उपासना भक्ति से भी हम अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ पाते हैं। जहाँ हम प्राचीन उपासना में वैदिक और तान्त्रिक दो मुख्य प्रकार पाते हैं वहीं हम वर्तमान संदर्भ में वैदिक, तान्त्रिक अथवा आगम-निगम के साथ ही बौद्ध परंपरा का समावेश भी पाते हैं। बौद्ध परंपरा की सांगीतिक परंपरा ने न केवल भारतीय संगीत को प्रभावित किया बल्कि इस देश के साथ अन्य देशों को भी प्रभावित किया है। कहा जा सकता है कि संगीत मानवीय क्रिया-कलापों तथा क्रमिक विकास में एक विशेषक रूप में काम करता है। यही इसकी ऐतिहासिक भूमिका है। जैसे कि इन साईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका[3] 'The historical role of music as an adjunct to other human activities and its gradual emergence as an activity in its own right will be observed, along with the forms through which it found expression. Attention will be directed to the situation of music in the world today.'

संदर्भ

1. देखिए, भारतीय संगीत का इतिहास (दो भागों में) राम अवतार वीर, राधा पब्लिकेशन्स 4378/4 बी गली मुरारी लाल अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002 प्रकाशन वर्ष 1996।
2. 'चिप्स फ्रास ए जर्मन वर्क शाप' - अवसण पृष्ठ 217, मैक्समूलर।
3. The New Encyclopaedia Britannica, volume - 12, p. 662, Encyclopadia Britannica, Inc. William Benton, publication Publisher, 1948-1973 Helen Hemingway Benton; Publisher.

21

संगीत कला को समृद्ध करने में जैनधर्म का योगदान

अरविन्द कुमार

जैनधर्म से भारतीय संस्कृति गौरवान्वित हुई है। इस धर्म के कारण ही अहिंसा का सिद्धांत भारतीय जीवन का एक सजीव अंग बना। इस धर्म के प्रभाव से भारतीयों को नैतिक एवं सदाचारमय जीवन व्यतीत करने के लिए एक बलवती प्रेरणा मिली। भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्र जैसे धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज, नीति, कला आदि पर इस धर्म का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय कला को विकसित एवं समृद्ध करने में जैनियों का योगदान महत्वपूर्ण हैं। हस्तलिखित ग्रंथों पर सुनहले तथा अन्य चमकीले रंगों के खींचे गये चित्र चित्रकला के सुन्दर नमूने हैं। उड़ीसा, गुजरात, राजस्थान आदि में अनेक जैन मंदिर निर्मित हैं। जैसे मंदिर निर्माण कला के साथ मूर्ति निर्माण कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। श्रवणबेलगोल (मैसूर) और बड़वानी (मध्यप्रदेश) में विशाल जैन प्रतिमा मूर्तिकला के उत्कृष्ट नमूने हैं। उदयागिरी तथा खंडगिरि (उड़ीसा) के प्राचीन जैन गुफा के स्तंभों का ऊपरी भाग विशेष रूप से आकर्षक है। इनमें जैन स्थापत्य कला का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है।[1]

जैनियों के प्राचीन ग्रन्थों में संगीत संबंधी प्रचुर विवरण पाया जाता है। जिन जैन ग्रन्थों में संगीत संबंधी प्रचुर विवरण पाया जाता है। जिन जैन ग्रन्थों में संगीत संबंधी सामाग्री उपलब्ध हैं। वे निम्नलिखित हैं - स्थानांग सूत्र

(थानांगयुक्त), रायपसेणयसुत, वसुदेवाहिंडी, आयार, सूयगडंग निसीह, अणुओगदार, कम्प, जीवाजीवाभिगम, अंगविज्जा। ये उपयुक्त ग्रन्थ ई० पू० 600 शती के लेकर लगभग 500 ई० शती तक के हैं।[2]

स्थानांग सूत्र (थानांगयुक्त) तथा अणुओगदार (अनुयोगद्वारसुत) सांगीतिक दृष्टि से विशेष अवलोकनीय है। अनुयोगद्वारसुत (लगभग ई० 1) में स्वर, गीत, वाद्य, मूर्च्छना आदि गान्धर्व के विषयों का सूत्रबद्ध विवरण पाया जाता है।[3] जैन सिद्धांत ग्रन्थों में प्राचीन ललित कलाओं के अंतर्गत 72 अर्थात् 64 कलाओं की गणना पाई जाती है।[4] गन्धव्व अर्थात् गान्धर्व का अन्तर्भाव इन्हीं सिप्पों अर्थात् शिल्पों में किया जाता था।[5] गन्धव्व के अंतर्गत गीय अर्थात् गेय, वैय, अर्थात् वाद्य, सरगय अर्थात् स्वरगेय, नट्ट अर्थात् नृत, पुक्खरगेय अर्थात् तथा समताल का अन्तर्भाव है। रापसेणइयसुत के अनुसार आचार्यों के तीन वर्ग थे - (1) कलायरिक अर्थात् कलाचार्य, (2) सिप्पायरिक अर्थात् शिल्पाचार्य तथा, (3) धम्मयरिय अर्थात् धर्माचार्य। गुरुशुश्रुषा तथा धन दान से विद्या ग्रहण की जा सकती थी।[6]

थानांगसुत्त में स्वरों की उत्पत्ति, सप्तस्वरों का प्राणियों की ध्वनि से संबंध, ग्राम तथा मूर्च्छनायें (मङ्गी), गीत के गुण-दोष इत्यादि विषयों का विवरण पाया जाता है। इस ग्रन्थ के अनुसार गीत को स्वरसम, लयसम और तालसम होना चाहिये। इसके अतिरिक्त गीत को सारवत् (अर्थ से युक्त) होना चाहिये, अलंकृत अर्थात् अलंकारों से युक्त, उपनीत अर्थात् उपसंहारयुक्त, सोपचार अर्थात् मृदु और सोत्प्रसभित अर्थात् परिमित अक्षरों से युक्त और मधुर होना चाहिये। इस ग्रन्थ के अनुसार गायक के छः दोष अर्थात् आठ गुण हैं। गीत का गान निर्दोष तथा गुणयुक्त होने के लिए निम्न दोषों का निराकरण आवश्यक माना गया है - भीत, द्रुत, रहस्य, उत्ताल, काक स्वर तथा अनुनास।[7] भीत दोष वह है कि जिसमें गाने के समय चित्त विक्षिप्त हो, द्रुत वह है कि जिसमें गायन के अंतर्गत अत्यधिक त्वरा हो अर्थात् जल्दी लय में गाना, रहस्य में स्वरों तथा शब्दों का ह्रस्व अथवा लघु उच्चारण होता है, उत्ताल से तात्पर्य तालहीनता से है, काक स्वर कर्कश तथा अश्राव्य स्वर के लिए संज्ञा है तथा अनुनासिक से तात्पर्य है स्वरोच्चारण में नासिका का प्रयोग करना।

सुत्तकार ने गान के आठ गुण बतलाये है - पूर्ण, रत्तं, अलंकिय, वत्त, अविघुट्ठं, मधुरं, साम और सुकुमारं।[8] पूर्ण वह है कि जिसमें स्वर का उच्चारण उन्मुक्त कंठ से किया जाए। रक्त में रंजकता अथवा रसात्मकता विद्यमान होती हैं। विविध स्वरों का परस्पर गठन अलंकृत के लिए कारण होता है। वत्तं का अर्थ स्वर ओर पद के स्पष्टता से अर्थात् स्वर तथा शब्द का स्फुट उच्चारण व्यक्त (वत्तं) कहलाता है। आक्रोश से विहीन किन्तु उच्चैः स्वर से गायन अविघुष्ट (अविघुट्ठं) कहलाता है। कोकिला के समान मधुरस्वरयुक्त गान मधुर कहलाता है। वेणु, स्वर तथा ताल सामंजस्य सम कहलाता है। सुकुमार वह लालित्य गुण है जो स्वर के साथ नितांत तादात्म्य के कारण है। गीत को मधुर बनाता है। सुत्तकार के अनुसार स्वरों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं -

सज्जे रिसहे गन्धारे मज्झिमे पंचमे सरे।
धेवते चेव णिसाते सरा सत्त विआहिया।।[9]

अर्थात् सज्ज (षड़्ज), रिसह (ऋषभ), गांधार, मज्झिम (मध्यम), पंचम, धैवत और णिसात (निषाद्) ये सात स्वर इसमें व्याख्यात (विआहिय) है। स्वरों के उत्पन्न होने के स्थान को इस ग्रन्थ में इस प्रकार बताया गया है - षड्ज अग्रज है, उर स्थान से ऋषभ उद्भूत होता है। कंठ से गांधार, मध्य से मध्यम, नासा से पंचम तथा दंतोष्ठ से धैवत का उद्भव माना गया है।

सज्जं तु अग्गजे आए उरेण रिसभं सरम्।
कण्ठुग्गाएण गन्धारं मज्झ जिआए मज्झिमम्।।
सासाए पंचमं बूया दंतोठेणय धैवयम्।
मुद्दाणेणयणे सायं सरठाणा वियाहिया।।[10]

इसी प्रकार की परंपरा नारदीय शिक्षा तथा मतंग की वृहद्देशी में पाई जाती है। यद्यपि विभिन्न स्वरों के उत्पत्ति-स्थान के संबंध में अंतर पाया जाता है। नारद के अनुसार षड्ज कंठ से उत्पन्न होता है, ऋषभ शिर से, गान्धार आनुनासिक्य है, उर के मध्यम स्वर की उत्पत्ति होती है। पंचम उर शिर और कंठ से उत्पन्न होता है, ललाट से धैवत और कंठ इत्यादि की संधियों से निषाद उत्पन्न होता है।[11]

स्वरों की तारता का निर्धारण पशु-पक्षी की ध्वनि से की गई है, जैसे

षड्ज ध्वनि मयूर की है, ऋषभ कुक्कुट (मुर्गा), गान्धार हंस की, मध्यम गौओं की, पंचम कोकिला की, धैवत क्रौंच की तथा निषाद सारस पक्षी की ध्वनि है।[12]

सज्जं रवई मयूरो ककुमो रिसभं स्वरम्।
हंसो णदइ गंधारं मज्झिमं तु गवे लगा।।
अट्ट कुसभसंभवे काले कोइला पंचमं सरम्।
छठं च सारसा क्रौचा णेसायं सत्तर्मगन।।

स्वरों की तारता का पशु पक्षी की ध्वनि से निर्धारण करने की यह प्रक्रिया संगीत की उस अवस्था का परिचायक है, जिस समय कोई स्थिर आधार स्वर नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि यह एक बहुत स्थूल ढंग था, किन्तु यह सर्वथा हेय नहीं था।

सुत्तकार ने किस स्वर के साधनों से क्या प्राप्त होता है, इस पर भी प्रकाश डाला है। जैसे षड्ज के साधनों से घन, गौ, मित्र और पुत्र की प्राप्ति होती है। साधक का नाश नहीं होता और स्त्रियों का प्रिय, बनता है। ऋषभ को साधने से ऐश्वर्य, सेनापति का पद, धन, वस्त्र, अलंकार आदि की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार गान्धार को साधने से हृदय में कला ज्ञान होता है इत्यादि।[13] इसके बाद तीन ग्राम, एक-एक ग्राम की सात-सात मूर्च्छनाएं, उनके नाम पर प्रकाश डाला गया है।

इसमें तीन ग्राम और उसकी मूर्च्छनाओं का नाम इस प्रकार दिया गया है - सज्जगाम (षड्जग्राम) की निम्नलिखित मूर्च्छनाएं बतलाई गयी हैं - (1) मंगी, (2) कोरव्वीया, (3) हरि, (4) रयतणी, (5) सारकंता, (6) सारणी, (7) सुद्धसज्जा।

मज्झिमगम, (मध्यमग्राम) की मूर्च्छनाएं इस प्रकार की गयी हैं - (1) उत्तरमंदा, (2) रयणी, (3) उत्तरा, (4) उत्तरासमा, (5) आसोकंता, (6) सोवीरा, (7) अभिरूद्धा। गान्धारग्राम की ये सात मूर्च्छनाएं हैं - (1) णंदी, (2) खुद्दिमा, (3) पूरिमा, (4) सुद्धगंधार, (5) उत्तरगंधार, (6) आयाम, (7) उत्तरायता।[14] मूर्च्छनाओं के नाम सुत्तकार के अपने मत का अन्य किसी मत से दिये हैं, यह स्पष्ट नहीं होता क्योंकि भरत या नारद के मूर्च्छनाओं के

नामों से मेल नहीं करता है। इस ग्रन्थ में वाद्य यंत्रों के तत्त (वीणा), वितत (पटह), धन (कांस्यतालादि) और बांसुरी आदि को झुसिर वाद्य कहा गया है।[15]

जैन ग्रन्थों में वाद्यों की एक लंबी सूची मिलती है जो अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। संस्कृत ग्रन्थों में वाद्य के लिए आतोद्य, तूर, तूर्य, वादित्र और वाद्य शब्द मिलते हैं। जैन ग्रन्थ अधिकतर प्राकृत में है। उनमें 'आतोद्य' के लिए आउज्ज अथवा आओज्ज शब्द मिलता है। 'तूर' के लिए प्राकृत में भी 'तूर' शब्द ही मिलता है। 'तूर्य' के लिए 'तुज्ज' और 'तुरिय' शब्द मिलते हैं। 'वाद्य' के लिए 'वज्ज' शब्द मिलता है और 'वादित्र' के लिए 'वाइत्त।[16]'

जैन वाङ्मय में कई ग्रन्थों में वाद्यों का नाम आते हैं, किन्तु वाद्यों की सबसे लंबी सूची 'रायप्पसेणइज्ज' में मिलती हैं। यह ग्रन्थ पहली ईसवी शती तक तैयार हो गया था।[17] इस ग्रन्थ में वाद्यों के चार प्रकार इस प्रकार बताये गये हैं – ततं, विततं, घणं और झुसिर।[18] अन्य ग्रन्थों में झुसिर के स्थान पर 'सुसुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत ग्रन्थों में वाद्यों के लिए तत्, अवनद्ध, धन और सुषिर[19] प्रकार दिए हुए हैं, उन्हीं के जैन ग्रन्थों में प्राकृत नाम आया है। 'तत' दोनों में समान रूप से आया है। 'अवनद्ध' के स्थान पर जैन ग्रन्थों में प्रायः 'वितत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं संस्कृत ग्रन्थों में भी 'वितत' शब्द अवनद्ध वाद्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'घण', 'घन' शब्द का रूपांतर है। 'झुसिर' अथवा 'सुसुर' 'सुषिर' शब्द का विकृत रूप है। 'वितत' के स्थान पर उन ग्रन्थों में कहीं-कहीं 'आतत' शब्द भी देखने को मिलता है।[20]

'रायप्पसेणाइज्ज' में वाद्यों के सूची 18 वर्गों में दी गयी है। इस वर्गों में कुछ 63 वाद्य हैं। प्रत्येक वर्ग के विषय में यह बतलाया गया है कि उस वर्ग के वाद्यों का किस प्रकार प्रयोग होता है। अन्य जैन ग्रन्थों में भी वाद्यों का उल्लेख मिलता है। तीसरी ई० शती में लिखित दक्षिण में 'तिवाकरम्' नाम का एक जैनकोश मिलता है। इसमें दक्षिण भारत के प्राचीन संगीत पर कुछ सामाग्री मिलती है। इसमें दो प्रकारों के रागों का उल्लेख है – पूर्ण और अपूर्ण। सात स्वरों के रागे को पूर्ण तथा पांच या छह स्वरों के राग को अपूर्ण कहा गया है। इस ग्रन्थ में 22 श्रुतियों का भी उल्लेख है। सात स्वरों के तमिल नाम भी दिये

गये हैं। दक्षिण भारत की संगीत की दशा को समझने के लिए यह ग्रन्थ अनिवार्य हैं।[21]

कुछ जैन संगीतज्ञों ने इस कला पर स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं, जैसे सुधाकलश ने संगीतोपनिषत्सारोद्धार, पार्श्वदेव ने 'संगीतसमयसार' मण्डन ने 'संगीतमण्डन' आदि। इन ग्रन्थों में संगीत के समस्त तत्वों का विशद वर्णन किया गया है। संगीत के तत्कालीन स्वरूप को जानने के लिए उपयुक्त ग्रन्थ बहुत उपयोगी हैं। इस ग्रन्थों में आये हुए पारिभाषिक शब्द वर्तमान में भी प्रचलित हैं। 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' एवं 'संगीतसमयसार' ग्रन्थ वर्तमान में प्रकाशित हो चुका है जबकि संगीत मंडन ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय संगीत को समृद्धशाली एवं विकसित करने में जैनियों का महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय स्थान है।

संदर्भ

1. पांडेय, डॉ० राजेन्द्र, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 74-75
2. सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 246
3. परांजपे, डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 229
4. थानांगसुत्त, 9, 678, नायाधम्म, 1, पृ० 21, समवायांग, पृ० 77, ओवाइया, 40, रायपसेणइयसुत्त 211 आदि।
5. तुलनार्थ द्र० बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्दपन्ह।'
6. परांजपे, डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 179
7. वही, पृ० 186
8. वही, पृ० 187
9. सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव सिंह, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 248
10. परांजपे, डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 185
11. नारदी शिक्षा के अनुसार –

    काण्ठादुत्तिष्ठते षड्जः शिरसस्त्वृषभः स्मृतः।
    गान्धारस्त्वनुनासिक्य उरसो मध्यमः स्वरः।। 1, 5, 6।।
    उरसः शिरसः कण्ठादुल्यितः पंचमः स्वरः।
    लालाटाद्धैवतं विद्यान्निषादं सर्वसन्धिजम्।। 1, 5, 7।।
12. परांजपे, डॉ० शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 186
13. शर्मा, भगवत शरण, भारतीय इतिहास में संगीत, पृ० 15
14. सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव, भारतीय इतिहास में संगीत का इतिहास, पृ० 248

15. राय, मन्मथ, प्राचीन भारतीय मनोरंजन, पृ० 110
16. सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 249
17. वही, पृ० 250
18. रायप्पयेणइज्ज, पृ० 54
19. नाटयशास्त्र, 28वें अध्याय, श्लोक 1
20. आयार, (द्वि० 2, 5.391)
21. सिंह, डॉ० ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ० 260

22

भारतीय समाजवाद के प्रतिष्ठाता जयप्रकाश नारायण

सुधाकार लाल श्रीवास्तव

भारतीय समाजवाद के प्रतिष्ठाता श्री जय प्रकाश नारायण अपने विद्यार्थी जीवन से ही राष्ट्रीय कार्यक्रमों में सक्रिय थे, उनमें देश प्रेम, स्वतंत्रता समानता और क्रांति की भावना कूट कूट कर भरी है। अध्ययन के लिए अमेरिका प्रवास में वह मार्क्सवादी हो गये, और जीवन के अन्तिम दिनों में मार्क्सवाद का रास्ता छोड़कर सर्वोदयी गाँधीवादी हो गये थे, मार्क्सवादी से समाजवाद और समाजवाद से सर्वोदयी गाँधीवादी तक की लम्बी विचारयात्रा में कई महत्त्वपूर्ण मोड़ आये और जय प्रकाश नारायण ने अपने विचार परिवर्तन का आधार भी स्पष्ट किया। कांग्रेस के अन्तर्गत विकसित हो रहे समाजवादी दल के संगठन में उनका निर्णायक योगदान था किन्तु वास्तविक रूप से भारत में विकसित हो रहे समाजवादी भावना के वे जनक रहे हैं, समाजवाद को भारतीय संदर्भ में देखने और उसे व्यावहारिक रूप में उतारने का जो स्तुत्य प्रयास भी नारायण ने किया उसकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता।

राजनैतिक जीवन में प्रवेश काल से ही जय प्रकाश नारायण के मन में सामन्तशाही और पूँजीशाही की समाप्ति का संघर्ष चल रहा था, वे एक नये समाज की कल्पना करते रहे जिसमें गरीब, शोषित मजदूर और पीड़ित वर्ग का उत्थान हो। उनका कहना था कि सामाजिक न्याय, निर्धन और निराशवर्ग को उठाकर ही किया जा सकता है। मार्क्सवाद के अध्ययन ने जय प्रकाश नारायण को स्वातन्त्र्य के बृहत क्षेत्र में प्रविष्ट कराया था इसी समय उन्होंने अनुभव

किया कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही पर्याप्त नहीं है। अतः सब प्रकार से शोषण भूख और निर्धनता से मुक्ति के लिए समाजवादी समाज की रचना की स्थापना का प्रयास किया क्योंकि एक श्रमिक, मकैनिक, खेतिहार, रेस्टोरेन्ट पैकर, विक्रेता आदि के रूप में जय प्रकाश नारायण ने मेहनतकश के यथार्थ जीवन में उतरकर सामाजिक विषमता का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

यद्यपि पने अमेरिकी प्रवासकाल में जय प्रकाश नारायण साम्यवादी दल के सदस्य थे और ला फालेट जैसे प्रगतीशील विचारकों से प्रभावित थे तथापि स्वदेश लौटने पर साम्यवादीं लहर की उफान उन्हें कहीं और भटका नहीं सकी। जय प्रकाश नारायण की दृष्टि राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्र को समाजवादी मांग पर ही केन्द्रित रही और समाजवादी विचारों तथा गांधीवादी नीतियों के प्रति निष्ठा तथा त्याग के कारण लोकप्रिय हो गये। अमेरिकी से साम्यवादी विचारधारा से अभिभूत होकर भारत आने पर भारतीय साम्यवादियों से बड़ी उम्मीद किये थे, इस दृष्टि से जय प्रकाश नारायण को गाँधी के नेतृत्व में क्रांन्ति का अभाव दिखा।[1] अतः जय प्रकाश ने गाँधी के कार्यक्रमों की प्रशंसा न कर उसे स्वतंत्रता के लक्ष्य की प्राप्ति में असफल प्रयोग के रूप में देखा।

जय प्रकाश के मानसतल पर वैज्ञानिक समाजवाद की भावना आन्दोलित हो रही थी, जिसमें तत्कालीन अन्तराष्ट्रीय परिदृष्य का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। फलतः जय प्रकाश की दृष्टि में वैज्ञानिक समाजवाद ही आगे बढ़ने का एक मात्र मार्ग दिखा।[2] जय प्रकाश को एक तरफ कांग्रेस के कार्यक्रमों में समाजवादी तत्व का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा था तो दूसरी ओर विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, व्यापक बेरोजगारी तथा कारखानों की अनवरत तालाबन्दी भी चिन्ता का कारण था।

नैराश्य एवं धनीभूत असंतोष में गर्भित जय प्रकाश नारायण का समाजवादी विचार कांग्रेस के अन्दर भी पूर्व से चल रहा था और वामपंथी विचारधारा का बीजरूप कांग्रेस के अन्तर्गत नेहरू और सुभाष के द्वारा अंकुरित किया जा चुका था। कांग्रेस के अन्तर्गत ये वामपंथी, किसानों और मजदूरों के सीधी कार्यवाही के पोषक थे।[3]

यद्यपि इस अवधि तक देश के कई भागों में समाजवादी संगठन आकार लेने लगा था।[4] 1933 में बनारस में कमलापति त्रिपाठी, त्रपद भट्टाचार्या और सम्पूर्णानन्द ने समाजवादी दल का संगठन बनाया था।[5] करेल और दिल्ली में भी इस तरह के दल का रूप दिखने लगा था।[6]

जय प्रकाश के मानसतल पर स्वभावतः एक छाप रेखांकित हो चुकी थी कि 'आजाद देश की राष्ट्रीता पूँजीवादी प्रसार भले ही बन जाय परन्तु गुलाम देश की राष्ट्रीयता एक क्रांतिकारी शक्ति होती है इस क्रांतिकारी शक्ति से दूर रहकर समाजवाद एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता हमारी कांग्रेसी शक्ति इसी क्रांतिकारी शक्ति का संगठित रूप है अतः इस क्रांतिकारी संस्था से सम्पर्क रखकर ही समाजवादी जनता के निकट पहुँच सकता है।[7] जय प्रकाश जेल में ही समाजवादी विचारकों के साथ नियमित क्लास भी लगाया करते थे अन्ततः विचार विमर्श के उपरान्त चार प्रमुख प्रश्न उभरकर सामने आये।[8]

1. गाँधी के नेतृत्वप के प्रति असंतोष।
2. सविनय अवज्ञा की असफलता।
3. वर्ग विश्लेषण की पद्धति लागू करने की इच्छा।
4. कृषक मजदूर से जुड़ जाने की आकांक्षा।

जय प्रकाश के राजनीतिक जीवन का अभिध्येन सामाजिक न्याय के आधार शिला पर समाज की संरचना रहा है वे सामाजिक न्याय के दोनों पक्षों स्वतंत्रता और समानता का अध्ययन किये और जेल से मुक्त होने पर जय प्रकाश ने अन्य सहयोगियों के साथ मिलकर सक्रिय रूप से इस संगठन के लिए प्रयास किया यद्यपि नेहरू ने इस दल का स्वागत किया परन्तु सदस्यता को इनकार किया था।[9] किन्तु अनेक विचार विमर्श के पश्चात् जय प्रकाश नारायण, नरेन्द्र देव आदि ने इस कांग्रेस के शाखा के रूप में संगठित करने का निश्चय किया तथा इस कांग्रेस समाजवदी दल के नाम से स्थापित किया। जय प्रकाश नारायण भारतीय साम्यवादियों से पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं थे तथापि समाजवादी कार्यक्रम चलाने हेतु साम्यवादियों से उन्हें गठबन्धन करना पड़ा। अपने समाजवदी संकल्प तथा कार्यक्रमों को स्थापित करने के लिए उन्होंने कांग्रेस समाजवादी

पार्टी की स्थापना 1934 में किया जो श्री नारायण का इस दिशा में विशिष्ट योगदान है।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी बामपंथी वुर्जवा वर्ग का पार्टी थी, उसके संरयापकों में जय प्रकाश नारायण, नरेन्द्र देव तथा अशेक मेहता प्रमुख थे। यद्यपि इस अवधि तक देश के कई भागों में समाजवदी संगठन आकार लेने लगा था, परन्तु इसका देशव्यापी संगठन बनाने का प्रयास जय प्रकाश नारायण ने ही किया था। जय प्रकाश नारायण का उद्देश्य उत्पादक समूह को समस्त अधिकार का हस्तन्तरण करना तथा देश के आर्थिक सामाजिक जीवन का विकास कराना था। वे चाहते थे कि प्रमुख उद्योगों जैसे लौह, बस्त्र, जूट, रेल, खान, बैक, आदि का सामाजीकरण हो, तथा उत्पादन विनियम एवं वितरण हेतु सहकारी समितियों का संगठन और उनको प्रोत्साहन मिले। विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार हो, राजाओं और जमींदारों का अन्त, किसानों की भूमि का पुनविभाजन, वयस्क मताधिकारी का व्यावसायिक आधार पर प्रयोग, राष्ट्रीय आय की आवश्यकता के अनुसार वितरण, राज्य द्वारा सहयोग मूलक और सहकारी खेती के लिए प्रोत्साहन आदि उनका उद्देश्य था। जय प्रकाश नारायण कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी के सर्वदा प्रमुख स्तंभ बने रहे।[10]

जय प्रकाश ने कांग्रेस सोशलिस्ट साप्ताहि पत्रिका भी प्रकाशन और संचालन किया इसके अलावा जे०पी० ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र के स्तर की लगभग 500 पुस्तकों की तालिका बनायी इन पुस्तकों में मुख्यत: मार्क्सवाद मजदूर संगठन क्रांतिदर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन करने का आग्रह किया इस सन्दर्भ में सुभाष चन्द्र बोष को पत्र लिखे जिसमें उन्होंने सोशलिस्ट बुक क्लब की चर्चा की और सुभाषचन्द्र बोस से इसके संस्थापक और सलाहकार समिति के सदस्य बनने की राय जानने का प्रयास किया।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी का प्रथम अधिवेशन पटना में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में सत्तरह मई 1934 को हुआ। इस अधिवेशन के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस समाजवादी पार्टी के लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए अखिलभारतीय

कांग्रेस के कार्यक्रम तथा संविधान का मसविदा तैयार करने हेतु एक समिति गठित की गयी और जय प्रकाश नारायण इसके महासचिव बने।[11] जय प्रकाश नारायण पूरे उत्साह के साथ एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का दौरा करते हुए कांग्रेस समाजवादी दल के संगठन के लिए स्तुत्य प्रयास किया। उन्होंने समाज को यह समझाने का प्रयास किया कि मात्र स्वराज से जनता का समस्याओं से अन्त नहीं होगा। जब तक कि आर्थिक संगठनों में मूल भूत परिवर्तन नहीं लाया जाता।

जय प्रकाश नारायण का कहना था कि राजनीतिक और आर्थिक संगठन सामाजिक न्याय और आर्थिक स्वतंत्रता के सिद्धान्तों पर करना चाहिए इस संगठन के फलस्वरूप जहाँ समाज के प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति होगी वही इसका उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की तृप्ति ही न होगी बल्कि यह अपेक्षा रखी जायेगी कि इससे कारण राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ्य जीवन बिता सके और अपना नैतिक तथा बौद्धिक विकास कर सके। बड़े पैमाने पर सामूहिक रूप से चलने वाल सभी उद्योग धन्धों को इस तरह चलाना होगा कि उनका अधिकार और आधिपत्य व्यक्तियों के हाथ से निकलकर समाज के हाथों में आ जाये। श्री नारायण ने गांवों के जीवन को पुनः संगठित तथा स्वतंत्र शासिक इकाई बनाने एवं अधिक से अधिक स्वावलम्बी बनाने का भी प्रयत्न किया, उनका कहना था कि हर काश्तकार के पास उतनी ही जमीन होनी चाहिए जिससे वह अपने परिवार का उचित रीति से भरण पोषण कर सके।

जय प्रकाश नारायण भारतीय समाजवादी आन्दोलन के लिए नीव की ईट थे, वे भारत में सामाजिक संरचना की दृष्टि से क्रांतिकारी कार्यक्रमों से विमुख नहीं होना चाहते थे उनका अभिप्राय सत्ता का अधिग्रहण नहीं बल्कि जन आन्दोलन द्वारा समाजवादी भारत का निर्माण करना तथा मानवीय मूल्यों का प्रतिस्थापन करना था। इन्हीं लक्ष्यों से अभिभूत श्री नारायण ने साखोदेवरा गांव में 'सर्वोदय आश्रम' की स्थापना भी किया था जिसमें स्वतंत्रता समानता और बन्धुता का बढ़ावा मिला। इसके बाद भूमिदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान

और फिर जीवनदान के माध्यम से आर्थिक सामाजिक रूप से राष्ट्र का सुदृढ़ करने का प्रयास किया। असंतोष एवं विद्रोह की बुहेलिका में भटवती युवा पीढ़ी तथा राजनीतिक आर्थिक एवं नैतिक अवमूल्यन की स्थिति में राष्ट्र के लिए मूलचूल क्रांतिकारी परिवर्तन हेतु समग्र क्रांति का आह्वान भी किया। जिसमें समाज में अन्याय शोषण आदि का अन्त तथा नैतिक सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक क्रांति का लक्ष्य रखा, उनका कहना था कि समाज के आर्थिक, ढाचे को सुदृढ़ तथा आर्थिक विकास का लक्ष्य व्यक्ति ही होना चाहिए।

जय प्रकाश नारायण का समाजवाद किसी विदेशी दर्शन से आयातित नहीं बल्कि भारतीय संदर्भ की उपज थी, उन्होंने अपने सुनिश्चित लक्ष्य के लिए अपने मानसलोक को पूर्णतः मुक्त रखा और जहाँ से भी अनुकूल विचार तत्व अथवा नया प्रकाश दिखा तो जय प्रकाश नारायण ने उसे स्वीकार किया तदनुसार अपनी वैचारिक यात्रा में भी परिवर्तन किया, अतः हम कह सकते हैं कि वे सत्य का ऐसा आग्रही थे जो रूढ़ि का अनुगामी नहीं होता। यह सत्य है कि देश की जनता में विशेष कर लगातार पतनोन्मुख राजनीतिक संदर्भ में उनके लिए विशेष सम्मान था, आपातकाल के बाद वह एक मसीहा की तरह उभर कर समाने आये थे।

इतना निर्विवाद है कि वीसवीं शताब्दी के नेताओं में महात्मागांधी के बाद जय प्रकाश नारायण को ही एक साथ प्रशंसा एवं आलोचना मिलती रही है, महात्मा गाँधी की तरह जय प्रकाश नारायण ने भी कोई पद नहीं सम्भाला, इसीलिए नैतिकता और त्याग के महातुला पर गाँधी जैसा वे अतुलनीय रहे।

सन्दर्भ

1. सी०एन० चितरंजन, एसेसिंग जे०पी०-रेवाल्यूशनरी ऑफ एसकेपिस्ट 'मेनस्ट्रीम' अक्तूबर 20, 1979 पृ० 7
2. विस्तृत अध्ययन के लिए देखें, हवाई सोशियोलिज्म, जय प्रकाश नारायण बनारस आल इण्डिया कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी 1936
3. दी इण्डियन अनुअल रजिस्टर, भाग 11 पृ० 36
4. सम्पूर्णानन्द, मेमोरिज आफ रिफ्लेक्शन एसिया पब्लिसिंग हाउस 1962, पृ० 72
5. वही, पूर्वोक्त पृ० 72

6. आचार्य नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एण्ड दी नेशनल रेवोल्यूशन बाम्बे पद्मा पब्लिकेशन, 1946 पृ० 25
7. रामवृक्ष बेनीपुरी, जय प्रकाश नारायण पृ० 91
8. प्रकाश शास्त्री, भारत में समाजवादी आन्दोलन पृ० 32
9. गिरिजा शंकर, सोशलिस्ट एक्सपेरीमेन्ट इन इण्डिया एण्ड जय प्रकाश नारायण (1929-48) दी क्वार्टरली रिव्यू आफ हिंस्टेरिकल स्टडीज भाग-17, नं० 2 1977-78 पृ० 63
10. सम्पूर्णानन्द, मेमोरिज एण्ड रिफ्लेक्शन पृ० 72
11. इण्डियन अनुअल रजिस्टर, भाग-1 1934 पृ० 340

23

पर्यावरणीय उपादान एवं गौतम बुद्ध

(वर्तमान से सम्बद्धता के विशेष संदर्भ में)

ओम जी उपाध्याय

वस्तुतः पर्यावरण एक आधुनिक अवधारणा है जिसका तात्पर्य उस अधिवासीय वातावरण से है, जहाँ पर जैविक घटक व अजैविक घटक सतत् अंतराकर्षित होते हैं। मनुष्य ने, विशेषतः द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त पारिस्थितिक नियमों के विपरीत पर्यावरणीय उपादानों से पदार्थ व ऊर्जा का अत्यधिक दोहन किया, जिसके फलस्वरूप मनुष्य की आयु, कार्यिक क्षमता एवं खाद्य उपलब्धता में तो वृद्धि हुई, किन्तु अन्य जीवों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा पारिस्थितिक असंतुलन की समस्या उत्पन्न हो गई। तापमान-वृद्धि, ओजोन छिद्र, अम्लीय वर्षा व ग्रीन हाउस प्रभाव आदि के कारण सम्पूर्ण जीवमंडलीय पर्यावरण तंत्र तेजी से असंतुलित हो रहा है। अनेक जीवों का विनाश हो रहा है तथा अनेक विनाश के कगार पर खड़े हैं।

तात्कालिक लाभ के लिए वनों की अंधाधुंध कटाई ने पर्यावरण-चक्र को अस्त-व्यस्त कर दिया है, जिसका भयावह परिणाम सूखा, अकाल, अतिवृष्टि, बाढ़, ओलावृष्टि, वैश्विक तापन, दूषित वायु व मृदा-क्षरण के रूप में सामने आया है। वनों के विनाश के कारण तीव्र गति से जैविक विनाश भी हो रहे है। पहाड़ों पर निरंतर कटाई का परिणाम भू-स्खलन, चट्टान खिसकने एवं बादल फटने जैसी घटनाओं के रूप में सामने आ रहा है।

अनियंत्रित औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप क्लोरोफ्लोरो कार्बन, हाइड्रोफ्लोरो कार्बन व मिथाईल ब्रोमाईड जैसे तत्त्वों के कारण सूर्य की पराबैंगनी

किरणों को अवशोषित करने वाली ओजोन परत में छिद्र की समस्या उत्पन्न हो गयी है। इस कारण, दक्षिणी गोलार्द्ध में चर्म कैंसर, चिली में भेड़ों का अंधापन, अंटार्कटिका में प्लैंक्टन घास के अस्तित्त्व की समाप्ति तथा आस्ट्रेलिया में प्रवाल जीवों के असामयिक विनाश जैसे अनेकानेक पर्यावरणीय संकट उत्पन्न हो गये हैं। इसके अतिरिक्त वायुमण्डल में कार्बन डाई ऑक्साईड की मात्रा में तीव्र वृद्धि के कारण वैश्विक तापन की समस्या उत्पन्न हो गई है। वैश्विक तापन के कारण हिम क्षेत्र का पिघलना व समुद्री जल-स्तर में निरंतर वृद्धि जारी है, जिससे प्रशांत महासागर के तुवालू व कारटरेट द्वीप डूब गये हैं तथा अन्य अनेक के जलमग्न होने की आशंका है। तापन के कारण अनेक सूक्ष्म जीवों व जीव-जन्तुओं के विनाश से पर्यावरणीय जैव-विविधता खतरे में है। साथ ही वायुमंडल में हानिकारक रासायनिक तत्त्वों के मिलने से अम्लीय वर्षा होती है, जिसका वनस्पतियों व जीवों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

इन भयावह स्थितियों से पर्यावरण की संरक्षा के लिए वैश्विक सहमति बनाने व उपाय निर्धारित करने हेतु स्टॉकहोम, मांट्रियल, रियो-डि-जेनेरियो, क्योटो व जोहांसवर्ग में सम्मेलन आयोजित किये गये। पर्यावरण की सुरक्षा हेतु निर्वहनीय या शाश्वत विकास (Sustainable development) की अवधारणा भी दी गई।

इस वर्तमान विकट पर्यावरणीय संकट की स्थिति के समानान्तर बौद्ध वाङ्मय का अनुशीलन करने पर हमें मनुष्य का प्रकृति के साथ सहज व स्वाभाविक तादात्म्य दिखता है। बुद्धकालीन जन का पर्यावरणीय उपादानों के साथ प्रेम, श्रद्धा, भय, साहचर्य व अन्योन्याश्रय का स्वाभाविक सम्बन्ध था। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन इन उपादानों के साथ ही अंतःगुंफित दिखता है। स्वयं गौतम बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन वृक्ष, वन या उद्यान, नदी-तट व पर्वतों के साथ ही गुँथा सा दिखता है।

अनेक वनों के उल्लेख पालि-त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं में मिलते हैं। इनमें अनेक प्राकृतिक वन भी थे तथा अनेक मृगोद्यानों व उपवनों के रूप में भी। गौतम बुद्ध किसी स्थान की यात्रा करते समय प्रायः उसके समीप किसी नदी-तट पर या आम्र, आमलकी या सिंसपा वन अथवा अरण्य

में ही निवास करते थे। इस प्रकार अनेक वनों, उपवनों, आम्रवनों आदि के विवरण पालि त्रिपिटक में मिलते हैं। यथा-मज्झिम देश में श्रावस्ती का अन्धवन, साकेत का कण्टकीवन व अंजनवन, कपिलवस्तु व वैशाली के महावन, शाक्य जनपद के लुम्बिनी वन व आमलकी वन, कुशीनारा का शालवन, चेदि का पारिलेप्यक वन, काशी का अम्बाटक वन, कौशाम्बी, आलवी व सेतव्या के सिंसपा वन, राजगृह व किम्बिला के वेणुवन, मोरियों का पिप्पलिवन तथा वज्जियों के नागवन इत्यादि। जातक में कोसिकी नदी के किनारे तीन योजन विस्तृत एक आम्रवन का भी उल्लेख है।[1] दीघ निकाय की अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी)[2] तथा जातकों[3] में मध्यदेश की पूर्वी सीमा के रूप में कजंगल नामक एक धन-धान्य-परिपूर्ण (दब्बसम्भारसुलभा) कस्बे का उल्लेख है, जो सुन्दर कुश के लिए प्रसिद्ध थे।[4] कजंगल में वेणुवन व मुखेलुवन नामक सुरम्य वन थे, जिनमें भगवान् बुद्ध ने निवास किया था। ऐतिहासिक तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध ने अपनी चारिकाएँ प्रायः मध्यदेश की सीमाओं के भीतर अर्थात् 'कोसी-कुरुक्षेत्र व हिमालय-विन्ध्याचल'[5] के प्रदेश में की।

महाभिनिष्क्रमण के उपरांत गौतम बुद्ध ने प्रथमतः अनोमा नदी-तट पर पहुँच कर प्रव्रज्या ग्रहण की। अनोमा का तादात्म्य आमी नदी के साथ स्थापित किया गया है।[6] अनोमा के पूर्वी क्षेत्र की यात्रा करते हुए वे अनूपिया के आम्रवन (अनूपियाम्बवन) पहुँचे, जहाँ इन्होंने सात दिनों तक ध्यान किया। मगध की राजधानी गिरिव्रज के पाण्डव पर्वत (पण्डव पब्बत) पर, जिसका समीकरण वर्तमान रत्नकूट या रत्नगिरि से किया गया है, गौतम बुद्ध से बिम्बिसार ने भेंट की थी।[7] उरूवेला में छह वर्ष की कठोर तपश्चर्या के उपरान्त, एक दिन गौतम ने समीप ही प्रवाहित निरंजना नदी में स्नान किया व संयोगात् उसी रात्रि ज्ञान प्राप्ति कर बुद्ध बने। ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त सात सप्ताह बोधिवृक्ष व कुछ अन्य वृक्षों-अजपाल नामक बरगद वृक्ष, मुलिचन्द नामक वृक्ष तथा राजायतन नामक वृक्ष के नीच समाधि सुख में बिताए। चारिका के क्रम में बुद्ध वाराणसी के निकट ऋषिपतन मृगदाव में पहुँचे।[8] ऋषिपतन से उरूवेला जाते हुए बुद्ध ने कप्पासिय वनखण्ड में तीस व्यक्तियों को प्रव्रजित किया, अनंतर उरूवेला से तीन साधुओं को साथ लेकर गया के गयासीस पर्वत पर गये जहाँ उन्होंने आदित्तपरियायसुत्त का उपेदश दिया। जहाँ

से राजगृह पहुँचकर बुद्ध लट्ठिवनुय्यान (यष्टिवन उद्यान) के चैत्य में निवास किए। राजगृह में वे वेणुवन में भी ठहरे। राजगृह से कपिलवस्तु पहुँचकर न्यग्रोधाराम में रुके तथा पुनः राजगृह लौटने पर सीतवन में (जो एक श्मशान वन था), बुद्ध ने अपना दूसरा वर्षावास व्यतीत किया। अनंतर राजगृह से चलकर वैशाली के महावन कूटागारशाला में विहार करते हुए वे श्रावस्ती के जेतवन पहुँचे। चारिका के इस क्रम में बुद्ध ने एक वर्षावास मंकुल पर्वत पर व्यतीत किया। बुद्ध श्रावस्ती से मंकुल की यात्रा में सच्चबन्ध नामक पर्वत पर भी ठहरे थे तथा वापस आते हुए नम्मदा (नर्मदा) नदी के तट पर विहार किया था। एक अन्य वर्षावास (8वाँ) बुद्ध ने भग्गों के देश में सुंसुमारगिरि के निकट भेसकलावन मृगदाव में बिताई, जहाँ वे वैशाली से गये थे।[9] 9वीं वर्षा कौशाम्बी के घोषिताराम विहार में व्यतीत कर पाचीनवंसदाय होते हुए पारिलेय्यक वन पहुँचे, जहाँ के रक्षित वनखण्ड में 10वाँ वर्षावास किया।[10] 11वाँ वर्षावास बुद्ध ने मगध देश में बोधिवृक्ष के समीप, नाला नामक गाँव में किया। 13वाँ, 18वाँ व 19वाँ वर्षावास बुद्ध ने चेति राष्ट्र के चालिय पर्वत पर किया, जिसके समीप ही जन्तुगम व किमिकाला नदी थी। श्रावस्ती में 25 वर्षावास करने के बाद बुद्ध राजगृह चले गये, जहाँ के गृध्रकूट पर्वत से उन्होंने वैशाली के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने पाटलिगाम के समीप गंगा नदी को पार किया। यात्रा-क्रम में वे पावा पहुँचकर चुन्द सुनार के आम्रवन में ठहरे तथा उसके यहाँ 'सुक्करमद्दव' का भोजन किया। बीमारी की अवस्था में ही उन्होंने आनंद के साथ कुसीनारा की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में ककुत्था नामक नदी पर स्नान व पान (नहात्त्वा च पिवित्वा च) कर उसे पार किया तथा एक आम्रवन में विश्राम किया। इस आम्रवन से चल कर बुद्ध ने हिरण्यवती नदी को पार किया तथा कुसीनारा के समीप मल्लों के उपवत्तन नामक शालवन में पहुँचे। यहीं शाल वृक्षों के नीचे वैशाख पूर्णिमा की रात्रि के अंतिम प्रहर में भिक्षुओं को संस्कारों की अनित्यता व अप्रमाद पूर्वक जीवनोद्देश्य को पूरा करने का उपदेश देते हुए, तथागत ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया।

गौतम बुद्ध की यात्रा-क्रम में हमें बौद्ध वाङ्मय में पंच महानदियों-गंगा, यमुना, अचिरावती, सरभू व मही का अनेकशः उल्लेख मिलता है।[11] जातकों में अनेक स्थलों पर अधोगंगा[12] उद्धगंगा[13] उपरिगंगा[14] व परागंगा[15] जैसे प्रयोग

गंगा से उनके निकट सहचर्य व उसके सम्बन्ध में स्पष्ट व प्रत्यक्ष ज्ञान की सूचना देते हैं। सुत्त निपात के धनियसुत्त से भगवान् बुद्ध के मही नदी के तट पर एक खुली कुटिया में निवास करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

कुणाल जातक[16] तथा महावेस्सन्तर जातक[17] में हिमालय पर्वत, उसकी वनस्पतियों व जीवों का विशद् वर्णन उपलब्ध है। कुणाल जातक का उपदेश भगवान् बुद्ध ने हिमवन्त प्रदेश में ही दिया था। संयुक्त निकाय के रज्जसुत्त में बुद्ध के हिमालय प्रदेश में जाने व वहाँ एक अरण्यकुटिका में निवास करने का उल्लेख है।

उपर्युक्त विवरण से यह सहज निगमित किया जा सकता है कि बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन पर्यावरणीय उपादानों यथा--वृक्ष या वन, नदी व पर्वत आदि के घनिष्ठ साहचर्य में बीता। निस्संदेह यह तत्कालीन जन-जीवन पद्धति की ओर भी संकेत करता है। वर्तमान पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में बुद्ध का पर्यावरणीय उपादानों के साथ यह अंत:गुंफन वर्तमान मनुष्य को भी सही दिशा निर्देश देता है। आखिर मनुष्य कब तक अपने तात्कालिक लाभ हेतु पर्यावरणीय उपादानों के साथ अन्याय करता रहेगा? क्या हम धरती, नदियों, जंगलों, पर्वतों को इसी तरह दूषित-विकृत करते ही चले जाएँगे? इस दुष्चक्र से किस तरह बच सकेगी प्रकृति व मनुष्य जाति? इन प्रश्नों के समाधान हेतु हमें बुद्ध की जीवन-चर्या से सीख लेकर यह उद्घोष करना होगा कि- **'मुड़ो प्रकृति की ओर, बढ़ो मनुष्यता की ओर।'**

सन्दर्भ

1. जातक, जिल्द 5वीं, पृष्ठ 2, 5, 6
2. जिल्द दूसरी, पृ० 429
3. जातक, जिल्द तीसरी, पृ० 226, 227; जिल्द चौथी, पृ० 310
4. जातक, जिल्द चौथी, पृ० 310
5. बुद्धचर्या, पृ० 5 (भूमिका)
6. एन्शियंट ज्योग्रफी ऑफ इंडिया, कनिंघम, पृ० 485-90
7. पब्बज्जा सुत्त (सुत्त निपात); जातककथा, पठमो भागो, पृ० 50
8. ललितविस्तर, पृ० 406-07 में उरूवेला से ऋषिपतन तक की यात्रा का क्रमिक विवरण है, जबकि पालि त्रिपिटक में बीच की यात्रा का विवरण नहीं है।

9. विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद), पृ० 436
10. तत्रैव, पृ० 331-333
11. संयुक्त निकाय (हिन्दी अनुवाद) दूसरा भाग, पृ० 823; अंगुत्तर निकाय, जिल्द चौथी, पृ० 101; विसुद्धिमग्ग, 1/24 पृ० 6
12. जातक, जिल्द दूसरी, पृ० 283
13. जातक, जिल्द छठीं, पृ० 427
14. जातक, जिल्द छठीं, पृ० 230
15. जातक, जिल्द छठीं, पृ० 427
16. हिन्दी अनुवाद, पंचम, खण्ड, पृ० 501-02
17. हिन्दी अनुवाद, षष्ठ खण्ड, पृ० 436-38

24

बौद्ध धर्म का आगमन एवं सामाजार्थिक परिवर्तन

मनउअर अली

6वीं श०ई०पू० सम्पूर्ण विश्व के लिए एक अद्भुत काल था, जब विश्व के हर भाग में बौद्धिक हलचल की शरुआत दिखाई देती है। भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने भी इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है कि- 6वीं श०ई०पू० कई देशों में अध्यात्मिक अशान्ति तथा बौद्धिक हलचल के लिए प्रसिद्ध है।[1] ठीक इसी क्रम में भारत में बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ। इस धर्म के उदय ने पूर्व प्रचलित समाज के लगभग हर पक्षों पर व्यापक प्रभाव डाला, परन्तु इनमें से सामाजिक एवं आर्थिक ये दो ऐसे पक्ष हैं, जिसमें बौद्ध धर्म के उदय से आमूल-चूल परिर्वतन हुआ जिसका विवेचन करना अनिवार्य हो जाता है।

सर्वप्रथम सामाजिक पक्ष को लें तो यह पता चलता है कि बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व का समाज वैदिक परम्पराओं पर आधारित था, जिसमें ब्राह्मण को सर्वोच्च एवं शूद्र को निम्नतर माना गया था। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण की स्थिति सर्वोच्च थी[2] वह दिव्य वर्ण का उल्लिखित है।[3] उसकी हत्या जघन्य अपराध थी। ब्राह्मण को अध्यापन कार्य और याज्ञिक कार्य से सम्पन्न माना गया है। उसकी प्रतिष्ठा में यहाँ तक कहा गया है कि श्रुति वेद ही उसके पिता एवं पितामह हैं।[4]

इसी प्रकार क्षत्रिय वर्ग राजकुल से सम्बद्ध था।[5] वैश्य वर्ग का विकास इस युग में हो चुका था लेकिन इनका स्थान ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से निम्न था।

इन्हें 'अनस्य बलिकृत' कहा गया है।[6] शूद्र का स्थान समाज में चौथा था। इसका प्रधान कार्य परिचारिकावृत्ति थी। उसके लिए कहा गया है कि उसे विद्या का उपदेश नहीं देना चाहिए।[7] शूद्र का स्थान समाज में अत्यन्त निम्न एवं हेय हो गया था। उसकी जीविका उच्च वर्णों की परिचर्या और शुश्रुषा पर ही निर्भर करती थी।[8]

इस प्रकार बौद्ध धर्म के उद्‌भव के समय तक समाज में चातुर्वर्ण व्यवस्था का हीनतम रूप प्रस्तुत हो चुका था और सम्भवतः यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था की कड़ी भर्त्सना की गई है। जन्म के स्थान पर कर्म को प्रमुखता दी गई है। ब्राह्मण की प्रतिष्ठा और सम्मान को बौद्ध युग में बड़ा आघात् लगा। बुद्ध ने यह माना कि मात्र उच्च कुल में जन्म लेने ही कोई उच्च नहीं होता बल्कि अपने सत्कर्म, सदाचरण और सच्चरित्रता से ही वह उच्च हो सकता है। अश्वलायन नामक ब्राह्मण को उन्होंने अपना इस प्रकार का मत स्वीकार करने को बाध्य किया तथा कहा कि केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग में सुख भोग के सुयोग्य पात्र नहीं होते वरन् पुण्य कर्मो द्वारा क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र भी इसके अधिकारी हो सकते हैं।[9] इसी प्रकार बौद्ध युग में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ माना गया। अन्य वर्णो के साथ उनका उल्लेख सर्वप्रथम है।[10] बुद्ध ने ब्राह्मण अम्बष्ठ से कहा- 'क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है, ब्राह्मण हीन।'[11]

वैश्य वर्ण के लिए बौद्ध साहित्य में 'वेस्स', 'सेट्टि', 'कुटुम्ब्कि' आदि शब्द मिलते हैं। गहपति शब्द का उल्लेख ब्राह्मण-क्षत्रिय के लिए भी किया जाता था।[12] किन्तु बौद्ध काल में केवल वैश्य के लिए इसका प्रयोग किया गया है।[13] वस्तुतः वैश्य वर्ण उस युग का सर्वाधिक समृद्धशाली और सम्पन्न वर्ग था। 'सेट्टि' अथवा 'सेठ' के साथ ही साथ वह 'बैंकपति' और 'सार्थवाह' भी था। प्रायः नगर में निवास करने वाले व्यापारी 'कुटुम्बिक' होते थे, जो धान्य का क्रय-विक्रय किया करते थे।[14] इसके अतिरिक्त वे रूपयों का व्यवहार भी करते[15] एवं कृषि भी किया करते थे।[16]

'सेट्टि' अथवा 'श्रेष्ठि' इस वर्ग का धनी व्यक्ति था, जो अपने व्यापार एवं वाणिज्य के कारण प्रमुख था। वह समय-समय पर राजा एवं श्रेणियों की सहायता भी करता था।[17] इन श्रेष्ठियों में **अनाथपिण्डक** एवं **घोषक** प्रमुख थे,

जिनके पास अपार सम्पत्ति थी। ऐसे श्रेष्ठियों के भी संदर्भ मिलते हैं, जो राजसभाओं के सदस्य होते थे तथा वहाँ की कार्याविधियों में अपना सहयोग प्रदान करते थे।[18]

शूद्रों की अवस्था यद्यपि प्रारम्भिक काल से ही निम्न थी परन्तु फिर भी इस काल में उनको यथोचित सम्मान मिला। इस काल में मात्र सेवाभाव से निकालकर उत्पादन के कार्यों में लगाया गया। विभिन्न शिल्पगत कार्यों को करने वाले कुछ लोग शूद्र के अन्तर्गत ही गृहीत किये गये थे। ऐसी अनेक शूद्र जातियां थीं जो अपने पेशे के कारण विख्यात थीं बुनकर, बढ़ई (तच्चक), लोहार (कुम्मार), दन्तकार, कुम्हार (कुम्भकार) आदि विभिन्न शूद्रीय वर्ग थे।[19] इसके अतिरिक्त शूद्रों की कुछ ऐसी श्रेणियाँ भी बनी जो घूम-घूमकर जीविकोपार्जन करते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वैदिक रूढ़िवादी परम्परा में बौद्ध धर्म ने आमूल-चूल परिवर्तन किया। इस काल में पूर्व की अपेक्षा निम्नतर जातियों को विकास का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। यही नहीं बुद्ध ने संघ का द्वार भी सभी के लिए खोल दिया[20] जिससे शूद्रों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया, जो सर्वसमानता की ओर द्योतित करती है।

अतः यह कहना अधिक समीचीन है कि गौतम बुद्ध ने ही सर्वप्रथम पूर्व प्रचलित समाज में व्याप्त रूढ़ियों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया जो समाज में सामाजिक विकास को लगभग ठप्प कर चुका था। इस पर उन्होंने अपने विचारों से तीखा प्रहार कर इसे समाप्त करने का प्रयास किया।

बौद्ध धर्म के आगमन के साथ ही साथ भारतीय आर्थिक परिदृश्य में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों मे ही अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन की झलक दिखाई देती है। सर्वप्रथम बुद्ध के अंहिसा के सिद्धान्त को ही लिया जा सकता है जो पूरी तरह से अर्थ व्यवस्था से सम्बन्धित दिखाई देता है। समाज में व्याप्त वैदिकीय परम्परा के तहत राजसूय यज्ञ एवं अश्वमेध जैसे विशाल यज्ञ अधिक सम्पादित होते थे, जिसमें पशुधन का एक बड़ा हिस्सा समाप्त कर दिया जाता था।[21] इसके अतिरिक्त राजमहलों और राजप्रासादों में बनने वाले दैनिक भोजन में भी पर्याप्त संख्या में पशुओं का वध किया जाता

था, जिसका उल्लेख अशोक के अभिलेखों में मिलता है। ध्यातव्य है कि इन पशुओं में बहुतायत संख्या कृषि से सम्बन्धित पशुओं की थी। इन पशुओं में गाय, हिरण, मोर इत्यादि प्रमुख थे, जो सीधे किसी न किसी प्रकार से समाज की अर्थ व्यवस्था से जुड़े थे। जहाँ गाय सीधे कृषि से सम्बन्धित थी, वहीं मोर कृषि की हानि पहुंचाने वाले कीड़े-मकोड़ों को खाता है। इसी प्रकार हिरन भी आर्थिक दृष्टि से दुलर्भ एवं महत्वपूर्ण है। इन पशुओं की कमी के कारण कृषि प्रणाली बुरी तरह प्रभावित हो रही थी। बुद्ध ने अंहिसा के सिद्धान्त को प्रश्रय देकर जैविकीय हिंसा को कम करने का प्रयास किया, जिसमें वे सफल भी हुए। यही कारण है कि बौद्ध स्तूपों की वेष्टिनियों, तोरणद्वारों एवं मौर्य कलाकृतियों में चित्रित कृषिगत पशुओं की अधिकता है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इसी काल में समुद्री यात्रा और विदेशी यात्रा पर से प्रतिबन्ध हटा। समुद्री व्यापार को वैदिक परम्परा के धार्मिक ग्रन्थों में निंदित माना गया है।[22] सम्भवतः यह बौद्ध धर्म का ही प्रभाव था कि रोम एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों से भारत का सम्बन्ध अच्छा बन सका। बौद्ध काल में ही प्रथम बार श्रेणियों की संख्या में बृद्धि होती दिखाई देती है। इसी परिप्रेक्ष्य में विदेश यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए ब्याज पर ऋण देने का प्राविधान प्राप्त होता है। बौद्ध ग्रन्थों में व्यापार के लिए ऋण लेने की प्रथा की चर्चा है किन्तु इसकी निंदा नहीं की गई है। इस काल में समुद्री यात्रा को और अधिक आसान बना दिया गया, जिसका उदाहरण **बावेरू जातक** से मिलता है, जिसमें तटरक्षक पक्षियों का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध धर्म के आगमन के साथ ही साथ समाज में सूदखोरी प्रथा भी प्रारम्भ हुई, जिसका उदाहरण बौद्ध ग्रन्थों में कुसीदिन के रूप में मिलता है। बौद्धों ने व्यापारियों को प्रश्रय देना प्रारम्भ किया, जिससे इस काल में शिल्प एवं उद्योगों में भी काफी वृद्धि हुई। ये व्यापारी अपने यहाँ के बने सामानों को दूर देश में ले जाकर बेंचते एवं वहाँ की सामग्रियां ले आते थे। ये व्यापारी एवं सूदखोर उचित ब्याज पर आम जनता को कर्ज देते थे, जिससे कृषि एवं उद्योगों को बढ़ावा मिला। यद्यपि कि बाद के कालों में उसने विकृत रूप धारण कर लिया।

बुद्ध काल में ही लोहे के उपकरणों के भारी मात्रा में प्रयोग से गांगाघाटी में अन्न उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया।[24] इस काल में मूठदार कुल्हाड़ियों, फाल, हंसिये आदि का कृषि कार्यों के लिये बड़े पैमाने पर प्रयोग प्रारम्भ हुआ। बौद्ध धर्म के पोषक अशोक के काल में कृषि को हानि पहुंचाने वाले कीड़े–मकोड़ों एवं पशु–पक्षियों को नष्ट करने के लिए राज्य की ओर से गोपालक एवं शिकारी नियुक्त किये गये थे।

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के आगमन के साथ प्राचीन भरतीय आर्थिक परिदृश्य में भी तेजी से बदलाव आया एवं पुराने मिथक टूटे। परन्तु एक तरफ जहाँ इस धर्म ने भारतीय अदल--बदल प्रणाली के आधार पर निर्मित आर्थिक व्यवस्था को स्वावलम्बी बनातें हुए उसे कृषि उत्पादन एवं व्यापार वाणिज्य पर निर्भर किया, जिससे आर्थिक परिदृश्य में सुधार हुआ, आम लोगों के जीवन में स्थिरता आई वहीं दूसरी ओर व्यापार व्यवसाय के क्षेत्र में होने वाली अद्‌भुत प्रगति ने समाज में धन संग्रह को बढ़ावा दिया तथा व्यापारियों के पास अतुल सम्पत्ति अर्जित हो गई। वे अपनी सम्पत्ति के बल पर ही सामाजिक श्रेष्ठता का दावा करने लगे जिससे ऊंच–नीच का भेद–भाव उत्पन्न हुआ। वे इस काल की राजनीतिक दिशा तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

इस प्रकार कृषि के प्रभूत उत्पादन तथा व्यापार वाणिज्य की अभूतपूर्व प्रगति ने मिलकर परम्परागत कबाइली आधार पर गठित सामाजिक आर्थिक संगठन को समाप्त कर दिया। उत्तर भारत में जनजातियों का काल समाप्त हो गया। लेकिन इन व्यवस्थाओं ने सामाजिक संतुलन को भी बिगाड़ दिया तथा कुलीन एवं निर्धन व्यक्तिओं के जीवन में स्पष्ट अन्तर हो गया। समाज में मध्य वर्ग का उदय हुआ जो नगरों में रहकर सभ्य जीवन बिताने लगे।

अतः यह कहना अत्यधिक तर्कसंगत है कि भारतीय सामाजिक–आर्थिक परिदृश्य को कबाइली स्वरूप से बदलकर विकसित रूप में ले जाने का कार्य तो बौद्ध धर्म ने किया लेकिन इस विकास की प्रक्रिया ने बहुत कुछ ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिन्होंने समाज में अव्यवस्था फैला दी, जो आज तक विद्यमान है।

सन्दर्भ

1. डॉ० राधाकृष्णन, फारवर्ड टू ट्वेन्टी फाईव हन्ड्रेड इयर्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० 1
2. अथर्ववेद, 3/5/7, 5/17/19
3. तै० ब्राह्मण, 1/2/6
4. काठक संहिता, 30/1, मै०संहिता, 48/1, 107/9
5. अथर्ववेद, 7/103
6. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली, पृ० 80
7. ब्रह्मसूत्र, 103, 34-38 (शांकरभाष्य)
8. गौतम धर्म सूत्र, 1/57
9. मज्झिम निकाय, 2, पृ० 150
10. चुल्ल वग्ग, 9/1/4, मज्झिम निकाय, 2, पृ० 128, अंगुत्तर निकाय, 2, पृ० 194
11. दीघ्य निकाय, 1 पृ० 98
12. फिक, सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया, पृ० 353
13. बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ० 22
14. जातक, 2, पृ० 267
15. जातक 2, पृ० 388
16. जातक 2, पृ० 196
17. महावग्ग, 8/1/16
18. जातक 1, पृ० 345; 3, पृ० 299, 5, पृ० 471
19. दीघ्य निकाय 1, पृ० 51; धम्मपद, 80; जातक 6, पृ० 189; मज्झिम निकाय 2, पृ० 18; 3, पृ० 118
20. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली पृ० 159
21. वही, पृ० 141
22. वही, पृ० 157
23. वही, पृ० 158
24. वही, पृ० 139

25

जैन धर्म का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

सीमा श्रीवास्तव

भारतीय संस्कृति के अनेक अध्येताओं ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि जैन धर्म और संस्कृति प्राक्वैदिक हैं। जैन संस्कृति में इन्होनें देश काल की परिस्थितियों के अनेक तत्वों का संस्कार तथा बहिष्कार करते हुए अपने तात्विक तथा आध्यात्मिक रूप में अपने समकालीन तथा परवर्ती संस्कृतियों को भी प्रभावित किया। वस्तुतः विशुद्ध मानवतावाद पर अवलम्बित भारतीय संस्कृति का कदाचित् यह प्राचीनतम धर्म है जिसने अहिंसा और अपरिग्रह का अद्वितीय एवं अनुपम सन्देश समस्त मानव जगत को प्रदान किया। समतावाद, अनेकान्तवाद या सर्वोदय, कर्मवाद, आत्मस्वान्त्र्य आदि मानवीय सिद्धान्तों को स्थापित कर जैनियों ने जातिवाद और वर्गभेद की अभेद्य दीवारों को खण्डित करके सम्पूर्ण मानव समाज में एक नवीन चेतना का संचार किया है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति के कला आदि समस्त क्षेत्रों में अपना अतुलनीय अवर्णनीय योगदान जैन धर्म ने दिया, भारतीय संस्कृति को जैन, धर्म के अवदानों का निम्नवत विन्दुओं में उल्लेख किया जा सकता है।

जैन धर्म द्वारा **मानवोचित गुणों का विकास** कर सामाजिकता को प्रस्थापित करने का कार्य किया गया। वस्तुतः धर्म आन्तरिक अनुभूति को सबल बनाये रखते हैं। बुद्धि, भावना और क्रिया को पवित्रता की ओर ले जाते हैं। वस्तुतः यह मात्र रूढ़ियों और रीति-रिवाजों का परिपालन मात्र नहीं है वह जीवन से जुड़ा सर्जनात्मक सर्वदेशी तत्त्व है जो प्राणिमात्र को वास्तविक शान्ति का सन्देश देता है, अविद्या और मिथ्याज्ञान को दूर कर सत्य और न्याय को प्रगट करता है, तर्कगत आस्था और श्रद्धा को सजीव रखता है, बौद्धिकता को

जागृत कर सद्भावना के पुष्प खिलाता है और बिखेरता है उस स्वानुभूति को, जो अन्तर में ऋजुता, सरलता और प्रशान्त वृत्ति को जन्म देती है। वस्तुतः हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न जैन हैं न बौद्ध, न ईसाई हैं, न यहूदी, हम तो पहले मानव हैं और धार्मिक बाद में। व्यक्ति यदि सही इन्सान नहीं बन सका तो वह धार्मिक कभी नहीं हो सकता यही जैन संस्कृति की अप्रतिम विशेषता है।

ज्ञात है कि इन्सानियत को मारने वाली, इन्सान में निहित कुप्रवृत्तियाँ और भौतिकवादी वासनायें हैं जो युद्ध और संघर्ष को जन्म देती हैं। व्यक्ति और राष्ट्र के मध्य कटुता की अभेद्य दीवालें खड़ी कर देती हैं। धर्म तो वस्तुतः दुःख के मूल कारण रूप आसक्ति को दूर कर असाम्प्रदायिकता को प्रस्थापित करता है, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को नयी दृष्टि देता है और समतामूलक समाज की रचना करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने तो धर्म के उस रूप को प्रस्तुत किया जिसमें मानवता को प्रस्थापित कर धर्म को ईश्वर-विश्वास से पृथक् कर दिया गया था।

जैन धर्म अर्हत् धर्म है, उसकी संस्कृति वीतरागता से उद्भूत हुई जहाँ कर्मों को नष्ट कर, उनकी निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य रहता है। इसलिए जैनाचार्यों ने अपनी संस्कृति के मूल में धर्म को संयोजित किया है और उसे जीवन के हर पक्ष से जोड़ने का प्रयत्न किया है।

जैन सांस्कृतिक परम्परा में **आत्म स्वातन्त्र्य** की घोषणा में व्यक्ति की स्वतंत्रता उद्घोषित है। वह स्वयं अपने कर्म का निर्माता और भोक्ता है। आत्मा ही परमात्मा है यह क्रान्तिकारी उद्घोषणा जैन धर्म की निराली है, ईश्वर से मनुष्य को इतनी स्वतंत्रता देना जैन धर्म की अपनी विशेषता है।

इसके अनुसार संसार की सृष्टि निमित्त उपादान कारणों से होती है। ईश्वर सृष्टि कारक नहीं है। व्यक्ति स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता है। उसकी निवृत्ति और प्रवृत्ति एक साथ चलती है। सबसे बड़ा शत्रु यदि कोई है तो इन्द्रियाँ हैं, कषाय हैं जिन्हें जीतने के लिए व्यक्ति को सदैव संघर्ष करना पड़ता है, तभी धर्माचरण हो पाता है, विवेक जाग्रत हो जाने पर सांसारिक सुख यथार्थ में सुखाभास लगने लगते हैं उनमें झूठा आनन्द दिखाई देने लगता है।

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं य, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ।।
एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्द्रियाणि य।
ते जिणित्तु, जहानायं विहरामि अहं मुणी।।[1]

जैनधर्म के चिन्तन का केन्द्रीयभूत तत्त्व आत्मा है। इस चिन्तन से वैराग्य का जागरण होता है, सचेतता आती है, क्रान्ति होती है, रूपान्तरण होता है और समता का जन्म हो जाता है, समता आने से साधक के चैतन्य की दशा विरागता से भर जाती है। वह संसार में रहते हुए भी उसी प्रकार वहाँ रहता है जिस प्रकार पोखर में खिला हुआ कमल जो जल में रहता हुआ भी जल उसका स्पर्श भी नहीं कर पाता।

भावे विरत्ते मणिओ विसोगे, एएणदुक्खोहरपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोखराणि पलासं।।

जैन संस्कृति की मूल अवधारणा है कि आत्मा में अनन्त शक्ति है ज्ञान प्रवाहित है। मूलतः वह आत्मा विशुद्ध है, पर कर्मो के कारण उसकी विशुद्धता आवृत्त हो जाती है वीतरागता प्राप्त करने पर वही संसारी आत्मा परमात्मा बन जाती है यह इस संस्कृति का लोकतंत्रात्मक स्वरूप है।

धर्म की यह स्वभावगत विशेषता है कि वह **समतामूलक** हो। जैन संस्कृति की यह विशेषता है कि वह अथ से इति तक समता की बात करती है। वस्तु का असाधारण धर्म ही उसका स्वभाव है, उसका भीतरी गुण ही उसका स्वरूप है स्वाभाविक दृष्टि से आत्मा के स्वरूप पर भी विचार किया गया है, जो समतामूलक है।

धर्मः श्रुतचारित्रात्मको जीवस्यात्मपरिणामः कर्मक्षयकारणम्।[2]

समता व्यक्ति का वास्तविक धर्म है, स्वभाव है। धार्मिक व्यक्ति अपने आपको अकेला करता जाता है, स्वभाव की ओर मुड़ता जाता है इसी प्रकार एक दिन निष्काम बन जाता है जो त्याग का जीवन होता है।[3] क्रोधादि विकार भाव अपना घर न बना पाये यह तभी संभव है जब व्यक्ति का संकल्प दृढ़ हो। समता मानवता का रस है। बर्बरता, पशुता, संकीर्णता उसका प्रतिपक्षी स्वभाव है। राग-द्वेषादि भाव उसके विकार-तन्तु हैं, ऋजुता, निष्कपटता, विनम्रता और

प्रशान्तवृत्ति उसकी परिणति है। सहिष्णुता, सच्चरित्रता उसका धर्म है। वस्तुतः समता का सतह मानवता की सत्ता में निहित है। यह दोनों सत्तायें आत्मा की विशुद्ध अवस्था के गुण हैं। इन गुणों से समवेत व्यक्तित्व को ही साधु कहा जा सकता है[4]-

समयाए समणो होइ, बभचेरण बंभणो,
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसे।।

ज्ञातव्य है कि समता समुद्र के समान गम्भीर, पृथ्वी के समान क्षमाशील और आकाश के समान स्वच्छ तथा व्यापक है इसलिए समता का सही रूप धर्म है। यही समता और धार्मिक चेतनता सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना का अविनाभावी अंग है जिसमें धृति और सहिष्णुता, अहिंसा और संवेग नियंत्रण जैसे तत्व आपाद समाहित हैं।

जैन संस्कृति सामाजिक समता का पक्षधर है इसमें **कर्म को महत्व** दिया गया है और स्वयं के पुरुषार्थ को प्रस्थापित किया गया है। भगवान महावीर के कथन **कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि** से सिद्ध होता है कि किये गये कर्मो का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नहीं होता। परिणामतः सभी श्रेष्ठ फल-प्राप्ति के अभिलाषीजन कर्म की श्रेष्ठता पर भी पूरा ध्यान देते हैं। अग्नि को स्पर्श करने पर हाथ का जलना सर्वथा निश्चित एवं अटल होता है। उसी प्रकार कर्ता को कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार 'कर्म' फल का सिद्धान्त भारत वर्ष की अपनी विशेषता है। ज्ञात है कि उपनिषदों से पूर्व के वैदिक साहित्य में कर्म विषयक चिन्तन का अभाव है परन्तु आरण्यक एवं उपनिषद्काल में अदृष्ट रूप कर्म का वर्णन मिलता है। जैनियों के अनुसार कर्म अदृश्य है और पौद्गलिक है। इनका संबंध हमारे कर्म से तथा राग-द्वेष से है। मिथ्यात्व, अध्यात्म में समन्वय स्थापित कर हमारे आचरण की कार्य-कारणात्मक मीमांसा में उसने कर्मवादी को स्थापित कर ईश्वरवाद को नकार दिया है।

चरित्र की शुद्धता एवं सम्यक परिपालन किये बिना ज्ञान की आराधना हो ही नहीं सकती। इसीलिए चरित्र को धर्म कहा गया है और धर्म ही यथार्थ जीवन है। मानसिक चंचलता को संयम की लगाम से वशीभूत करना **सहयोग,**

सद्भाव, समन्वय उसके महास्तम्भ है। श्रमण का यही सही रूप, स्वरूप है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि आत्मा का सच्चा धर्म है, '**चारित्रं खलुः धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठों**', अहिंसा उसी का एक अंग है। वह तो एक शून्य और निर्द्वन्द्व अवस्था है जिसमें व्यक्ति निष्पक्ष, वीतराग सुखः दुःख में निर्लिप्त, प्रशंसा-निन्दा में निरासक्त, तथा जीवन-मरण में निर्भय रहता है। यह श्रमण अवस्था है।

चारित्रिक विशुद्धि की आधारशिला वस्तुतः परिवार है और परिवार का धर्म है गृहस्थ धर्म जिसे जैन संस्कृति में श्रावक या उपासक धर्म कहा जाता है। चूँकि पारिवारिक, राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना का उत्तरदायित्व श्रावक के सबल कन्धों पर होता है इसलिए श्रावक का जीवन सदाचारमय होना चाहिए। आचार्य हरिभद्र सूरि, जिनमण्डनगणि, पण्डित आशाधर आदि चिन्तकों ने श्रावक के गुणों की सूची दी है जिसके अन्तर्गत करुणा, सत्कार, सत्संग, कृतज्ञता सुश्रुषा, परोपकार आदि गुण सम्मिलित हैं। इनमें भी न्यायपूर्वक धन कमाना, शाकाहारी वृत्ति रखना और करुणाशाली होना श्रावक की पहचान कही जा सकती है।[5]

न्यायोपात्त धनो यजत्गुणगुरुन् सद्गीस्त्रिवर्गभजन्
नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणो-स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्य-समितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
श्रृण्वन् धर्मविधि दयालु धर्मीः सागारधर्म चरेत्।।

जैन संस्कृति **अहिंसा और परिग्रह मूलक** हैं, इसीलिए जैनाचार्यों ने व्यक्ति और समाज को परस्पर निष्ठ बताया है। वस्तुतः धर्म के इस गुणात्मक स्वरूप की अनेक परिभाषायें प्राप्त होती हैं यथा- **धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो**।[6]

मूलतः धर्म और अहिंसा में शब्दभेद है, गुण भेद नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि विधिपरक हिंसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। हिंसा का मूल कारण है प्रमाद और कषाय।[7] इसके वशीभूत होकर ही जीव के मन, वचन, कार्य में क्रोधादिक भाव प्रगट होते हैं जिनसे स्वयं के शब्द प्रयोग रूप भाव प्राणों का हनन होता है इसलिए भिक्षुओं को कैसे चलना-फिरना, उठना-बैठना,

खाना-पीना चाहिए इसका विधान मूलाचार दशवैकालिक आदि ग्रंथों में उपलब्ध है। अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है-

अहिंसा निउणं दिट्ठा सब्बभूयेसु संजमो।[8]

जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना, रगड़ना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है उसी प्रकार श्रुत, शील, तप, दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है।[9]

संजमु सीलु सउज्जु तवु सूरि हि गुरु सोइ।
दाहक-छेदक-संघायकसु उत्तम कंचणु होई।।
(भावपाहुण 143, दशवैकालिक 1/1)

अतः जीवन का सर्वागीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। पानी छानकर पानी, रात्रि भोजन निषेध, अष्टमूलगुणो का परिपालन, निर्व्यसनी जीवन, समन्वयात्मक दृष्टि इत्यादि ऐसे नियमों का विधान इसीलिए किया गया है कि साधक अहिंसक और संयमी बनकर अहिंसक समाज की रचना कर सके।

जैन संस्कृति मूलतः **अपरिग्रहवादी** संस्कृति है। जिन, निर्गन्थ, वीतराग जैसे शब्द अपरिग्रह के ही द्योतक हैं। राग-द्वेषादि भावों से ही परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती है। मिथ्यात्व, कषाय आदि भाव अन्तरंग परिग्रह हैं और धन-धन्यादि ब्राह्यपरिग्रह का मूल साधन हिंसा है। परिग्रही वृत्ति से व्यक्ति तभी विमुख हो सकता है जब यह अपरिग्रह या परिग्रह परिमाणव्रत का पालन करे। सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्म आध्यात्मिक साधना को जाग्रत करते रहते हैं और विचारों की पवित्रता को बनाये रखते हैं। इससे मानव संकल्प शक्ति का विकास भी होता है।

जैन संस्कृति भाव प्रधान संस्कृति है इसलिए वहाँ ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान स्थान रहा है। वैदिक संस्कृति में प्रस्थापित जातिवाद की कठोर श्रृंखला को काटकर महावीर ने जन्म के स्थान पर कर्म का आधार दिया, इसने अनुसार जिस व्यक्ति का चरित्र या कर्तृव्य ऊँचा हो, विशुद्ध हो वही उच्च, कुल में उत्पन्न माना जायेगा इसीलिए महावीर ने समानता के आधार पर चारो जातियों की नई व्यवस्था की और उन्हें एक मनुष्य जाति के रूप में प्रस्तुत किया-

मनुष्यजातिरेकैव

कम्मुणा बम्भणो होई, कुम्मुणा होई खत्तियो।
वइस्सो कम्मुणो होई, सुद्दो होई कम्मुणो।।[10]

इसी सामाजिक समता के आधार पर महावीर ने सभी जातियों और सम्प्रदायों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया और उन्हें विशुद्ध आचरण देकर वीतरागता के पथ पर बैठा दिया। इसी प्रकार नारी को भी दासता से मुक्त कर उसे सामाजिक समता का ही दर्शन नहीं कराया अपितु निर्वाण प्राप्ति का भी उसको अधिकारी घोषित किया। दास मुक्ति, नारी मुक्ति, जातिभेद मुक्ति के क्षेत्र में जैनियों का अविस्मरणीय योगदान है।

जैन संस्कृति में **स्वाध्याय** को सर्वोत्तम तप माना गया है। वाचना, पृच्छता, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मकथा के माध्यम से उसे किया जाता है। वाचना, पृच्छता, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मकथा के माध्यम से उसे किया जाता हो उसे धर्म में समाहित किया गया है। जैनागम ग्रंथों में उक्त को एक स्थान पर एकत्रित किया गया है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उल्लिखित परिभाषाओं का सुन्दर सूत्रीकरण आचार्य कार्तिकेय ने किया है। जिसमें स्वाध्यान का रूप प्रतिबिम्बित हुआ हैं

धम्मो वृत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो,
रमणत्तयें च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा/478)

उत्तरकालीन आचार्यो द्वारा स्वाध्याय के विविध रूपों को भिन्न-भिन्न परिभाषाओं के माध्यम से चित्रित किया गया है किन्तु उन सभी की आधारशिला है- 'अपने लिये वही चाहो जो तुम दूसरों के लिए भी चाहते हो और जो तुम अपने लिये नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी मत चाहो। यही जिन शासन है।' स्वाध्याय के माध्यम से ही यह प्राप्तव्य है।

जं इच्छसि अप्पणत्तो, जं च नं इच्छति अप्पणंतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं।।

विराट ज्योति को प्राप्त करने में स्वाध्याय सबसे सहयोग तत्व उसके लिए सिद्ध होता है और उसी तत्व से यह परम सत्य को उपलब्ध हो जाता है-

स्वाध्यायः श्रेयसे मतः

मानवीय एकता, सह-अस्तित्व, समानता और **सर्वोदयता (अनेकान्तवाद)** धर्म के तात्विक अंग हैं। एकान्तवादी चिन्तकों द्वारा इन अंगों को तोड़ मरोड़ कर स्वार्थवश वर्गभेद और वर्णभेद जैसी विचित्र धारणाओं की विषैली आग को पैदा किया जाता है। जिसमें समाज की कुवृत्ति वैचारिक धरातल से असम्बद्ध होकर कूद पड़ती है। अनेकान्तवाद और सर्वोदय दर्शन समस्त विषमताओं से आपादमग्न समाज को एक नई दिशा देता है। उसकी कटी पतंग को किसी प्रकार सम्भाल कर उसमें अनुशासन तथा सुव्यवस्था की सुस्थिर मजबूत और सामुदायिक चेतना से सजी डोर लगा देता है। समन्वय की मनोवृत्ति समता की प्रतिध्वनि, सत्यान्वेषण की चेतना गतिशील हो जाती है, अपने एकपक्षीय व्यक्तिगत विचारों की आहुति देने के लिए, निष्पक्षता, निर्भयता की चेतना के स्तर पर मानवता से पूर्ण समाज को धूल-धूसरित होने से बचने के लिये। हरिभद्रसूरि की समन्वय-साधना इस सन्दर्भ में स्मरणीय है-

भववीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

चिन्तन और, भाषा के क्षेत्र में **न या सियावाय वियागरेज्जा** का उपदेश समाज और व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त कर देता है, सभी को पूर्ण न्याय देकर सरल, स्पष्ट और निर्विवाद अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

कलात्मक अवदान के क्षेत्र में जैनियों को विस्मृत नहीं किया जा सकता। कला आत्मानुभूति का पर्यायार्थक शब्द है। इसका सम्बन्ध मूल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति से है। जैन संस्कृति में कला का मूल उद्देश्य अध्यात्म की अभिव्यक्ति है और समस्त अभिव्यक्तियां उसी के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं। जैन साधकों ने मूर्तिकाल, वास्तुकला, अभिलेख, पाण्डुलिपि, चित्रशैली आदि सभी क्षेत्रों को परिष्कृत किया है। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोहानीपुर से प्राप्त **मस्तक विहीन नग्न कायोत्सर्गी मूर्तियों को** जैनों का महत्वपूर्ण मूर्तिकला अवदान कहा जा सकता है। जिस पर नन्दकालीन कलिंग जिन मूर्ति

(खारवेल हाथी गुम्फा अभि० में उल्लिखित) मथुरा के कंकाली टीले में छिपी जैन कला सम्पदा, श्रवण बेलगोला की बाहुवली प्रतिमा इत्यादि की प्राप्ति ने मुहर लगा दी है।

बराबर, नागार्जुनी पहाड़, उदयगिरि-खण्डगिरि, रानीगुफा, गिरनार गुफायें, सोनभण्डार तथा दक्षिणापथ की मदुरै, रामनाथपुरम्, सितन्नवासल आदि में प्राप्त जैन गुफायें उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट स्तूप, मन्दिर के निर्माण ने वास्तुकला की समृद्धि में वृद्धि कर दी। नागर, वेसर, द्रविड़ शैलियों के साथ ही प्रादेशिक शैलियों का भी प्रयोग जैन साधकों में किया है। जैनाचार्यों ने जैन धर्म के प्रचार में भावभिव्यक्ति के माध्यम से चित्रकला का समुचित उपयोग किया है। चित्रकला के सुन्दर उदाहरण नायाधम्मकहाओ, वरांगचरित, आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रंथों में मिलता है। भित्तिचित्र काष्ठचित्र, पटचित्र रंगावलि अथवा धूलि चित्र को चित्रकला के प्रमुख भेद बताये गये हैं।

प्राचीनतम भित्तिचित्र शित्तनावासल के जैन गुफा मन्दिर में मिलते हैं। वहाँ जलाशय का एक सुन्दर चित्र बनाया गया है। कर्गल (कागज) चित्र लगभग 14वीं शती के बाद अधिक मिलते हैं। काष्ठचित्र पाण्डुलिपियों पर लगे काष्ठ फलकों पर बनाये जाते थे। इन पर विद्या देवियों, तीर्थंकरों, पशुपक्षियों तथा मानवाकृतियों का अंकन किया जाता था। इसी प्रकार पटचित्र और धूलि चित्र के भी उल्लेख साहित्य में मिलते हैं। चित्रकला के इन विविध रूपों में जैन साधकों ने अपनी धार्मिक भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति की है। उसके माध्यम से अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन मनोदशाओं का अभिव्यंजन तथा रूप-भावना और आकृति-सौन्दर्य का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है।[11]

व्यक्ति और समाज को जोड़ने के लिए **मातृभाषा अथवा जनभाषा का प्रयोग**[12] एक आवश्यक तत्त्व है। यह सभी को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य करने के साथ ही अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। तीर्थंकर महावीर ने उस समय बोली जाने वाली प्राकृत को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया और अपने दर्शन को जनता के समक्ष रखा। यह एक क्रान्तिकारी कदम था यही कारण है कि जैन साहित्य प्राकृत में अधिकांशत: प्राप्त होता है। इस माध्यम ने आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक क्षेत्र से भ्रष्टाचार दूर कर सर्वोदयवादी

और अहिंसावादी विचार धारा को प्रचारित करने का अथक प्रयत्न किया, धनोपार्जन के सिद्धान्तों को न्यायवेत्ता की ओर मोड़ा, मूक प्राणियों की वेदना को अहिंसा की चेतनादायी संजीवनी से दूर किया। सामाजिक विषमता की सर्वभक्षी अग्नि को समता के शीतल जल और मन्द बयार से शान्त किया। जीवन के प्रत्येक अंग में अहिंसा और जीवनघाती व्यंजनों से मुक्ति के महत्व को प्रदर्शित कर मानवता के संरक्षण में जैन संस्कृति ने सर्वाधिक योगदान दिया है।

जैन संस्कृति में **एकात्मकता और राष्ट्रीयता** को उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना चरित्र को। धर्म और संस्कृति परस्पर गुथे हुए अविच्छिन्न अंग हैं। हमारी भारतीय संस्कृति में उतार-चढ़ाव और उत्थान-पतन आये परन्तु सांस्कृतिक एकता कभी विच्छिन्न नहीं हो सकी। इतिहास के उदय काल से आज तक एकात्मकता वैशिष्ट्य को जैन संस्कृति सहेजे हुये है। वस्तुतः राष्ट्र एक सुन्दर मनमोहन शरीर है। उसके अनेक अंगोपांग हैं जिनकी प्रकृति और विषय भिन्न-भिन्न हैं। अपनी सीमा से जो उनका लगाव है उनमें परस्पर संघर्ष भी होते हैं। इन सबके बावजूद वह मूल आत्मा से पृथक होते दिखाई नहीं देते हैं। कहा जा सकता है कि हमारे राष्ट्र का अस्तित्व एकात्मकता की श्रृंखला से स्नेहिलतापूर्वक भली-भाँति जुड़ा हुआ है जिसमें जैन संस्कृति का अनूठा योगदान है। विविधता में पली एकता, सौजन्य, सौहार्द को जन्म देती हुई 'परस्परोपग्रहों जीवानाम्' का हृदयहारी पाठ पढ़ाती है और सज्जनता को प्रतिफलित कराती है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और यदुवंशी भगवान् कृष्ण ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के बीच की सुदृढ़ कड़ियाँ बन गये और भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक मूल स्वर और अधिक मिठास लेकर गुंजित होने लगे। इस मिठास को पैदा करने में जैनधर्म का बेजोड़ हाथ रहा है। जैन धर्म प्रारंभ से ही वस्तुतः एकात्मकता का पक्षधर रहा है। उसका अनेकात्मकता का सिद्धान्त अहिंसा की पृष्ठभूमि में एकात्मकता को ही पुष्ट करता रहा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य हैं। हिंसा के विरोध में अभिव्यक्त अपने ओजस्वी और प्रभावक विचारों से जैनाचार्यों ने एक ओर जहाँ दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयास किया वही मानव-मानव के बीच पनप रहे अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त

करने का भी मार्ग प्रशस्त किया। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं जिसमें जैन धर्मावलम्बियों ने किसी पर आक्रमण किया हो और एकात्मकता को धक्का लगाया हो। भारतीय संस्कृति में उसका यह अन्य योगदान है को किसी भी कीमत पर विस्मृत नहीं किया जा सकता। उनकी अहिंसक धार्मिक जीवन पद्धति और दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक चिन्तन का परिणामथा कि सदैव उसने जोड़ने का काम किया, तोड़ने का नहीं।

निष्कर्षतः भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रमुख रूप से श्रमण और ब्राह्मण परम्परायें पल्लवित होती रही हैं। दोनों परम्परायें पृथक-पृथक होते हुए भी परस्पर में परिपूरक हैं। प्राचीनतम वैदिक साहित्य में समागत वातरशना, श्रमण, व्रात्य, अर्हित, ऋषभ, केशी, पुण्यशील, यति, मुनि, आदि शब्द जैन संस्कृति के प्रभावशाली अस्तित्व की सूचना देते हैं और मोहन०, हड़प्पा, लोहानीपुर में प्राप्त योगी ऋषभदेव की कायोत्सर्गी मूर्तियाँ उसकी सांस्कृतिक विरासत की कथा कहती हैं। वस्तुतः श्रमणधारा का मूल प्रवर्तन जैन संस्कृति से हुआ है। बौद्ध संस्कृति तो 6ठीं शता० ई० पू० की देन है। सहस्रातिसहस्र प्राचीन इस जैन संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को दार्शनिक सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में अत्यन्त समुद्ध किया है।[14] वस्तुतः इसने जिस तीर्थवादी प्रवृत्ति को विकसित किया वहाँ पूजा नहीं ध्यान है, वासना नहीं वीतराग अवस्था है अतः वह जिन मार्ग है ऐसे जिनों का जिन्होंने कर्म वासना को जीतकर स्वानुमति के आधार पर उपदेश दिया है स्वयं विशुद्धि के चरम शिखर पर पहुँचकर सभी प्राणियों के कल्याण की बात कही है। स्पष्टतः जैन धर्म और दर्शन का भारतीय संस्कृति पर व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति से मात्र जैन धर्म ही सर्वाधिक कठोर और उग्र सीमाओं को स्वीकार करने वाला धर्म रहा है। यही कारण है कि बुद्ध के मध्यम मार्ग के समान यह व्यापक नहीं हो सका क्योंकि उसकी उग्र कठोरता इसके प्रचार-प्रसार में बाधक बनी परन्तु बौद्ध धर्म के अनेक तत्व जैन धर्म से ग्रहीत हैं और उसके सांस्कृतिक अवदानों को परवर्ती भारतीय दर्शनों ने भी स्वीकार कर लिया।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययन 20/37–38।
2. सूत्रकृतांग शी० वृ० 2/5/14।
3. धर्मसंग्रहणी–मलयागिरि, वृ० 25।
4. उत्तराध्ययन 25/32।
5. सागारधर्मामृत 1/11रु० धर्मबिन्दु, 3/5।
6. दश वैकालिक सूत्र 1/1, सर्वार्थसिद्धि 6/13।
7. प्रमत्त योगात्प्राणव्य परोपणं हिंसा, तत्वार्थ सूत्र 7/13।
8. दशवैकालिकसूत्र 6/9।
9. भावपाहुण 143, दशवैकालिक 1/1।
10. उत्तराध्ययन 25/9–27।
11. प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, नागपुर विश्वविधलय 1977 पृ० 12–15।
12. प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का अवदान, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी पृ० 33–34।
13. डॉ० नरेन्द्र भानावत, कर्म सिद्धान्त, सम्यवज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, राजस्थान पृ० 25।
14. मोहनलाल महतो, जैन धर्म दर्शन, पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी।

26

प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्गमय में प्रतिबिम्बित नारी जीवन

मुरली मनोहर तिवारी

नारी समाज और संस्कृति की सबसे बड़ी निर्मात्री और संरक्षिका है। उसकी ममता से युक्त स्नेह सिक्त आंचल की छाया मानव को प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी रूप में सद आदर्शों का पथ प्रशस्त कर प्रगति का मार्ग निर्दिष्ट करती रही है। डाउसन का कहना है कि "नारियों ने ही संस्कृति की नींव डाली और मोर भटकते हुए पुरुषों का हाथ पकड़कर उन्हें घर में बसाया।" ऐसे ही नारियों के व्याग, प्रेम, धैर्य एवं बलिदान की यशगाथाओं से साहित्य के अनेक पृष्ठ आज भी गौरवान्वित् है। वह पुली भगिनी, पत्नी तथा माता के रूप में अपने सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यो का पालन करती हुई दया क्षमा शिवा एवं धाली के रूप में सदैव से प्रतिष्ठित रही है।

प्राग् ऐतिहासिक युग में नारी की स्थिति सम्मानजनक थी। नारी माँ के रूप में पूज्या थीं। मातृदेवी की मूर्तियाँ इस बात को इंगित करती हैं। किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि नारी को जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी पुरुष के संरक्षण में रहना होता था। कदाचित उनके स्वच्छन्द विचरण को उचित नहीं समझा जाता था जैसा मनुस्मृति में कहा गया है।

पितारक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षति स्थाविरे पुत्राः स्त्रयः स्वातन्त्र्यं न अर्हति।।

प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्गमय में नारी का जो चित्रण हुआ है वह 500 ई०पू० से 500 ईसवी की कालावधि का है। इस 1000 वर्षों में लम्बी अवधि में

भारतीय समाज की स्थिति में न जाने कितने परिवर्तन हुए और युगे युगे नारी के बारे में अवधारणाएं बदलती रही इनकी परिस्थिति भी एक सी नहीं रही कभी उन्हें आदर-सम्मान और समानता मिली तथा कभी निरादर-अपमान और असमानता।

बौद्ध काल में नारियों की स्थिति जानने से पूर्व उसके पूर्ववर्ती समाज के विषय में जानना भी आवश्यक है क्योंकि बौद्ध मालीन समाज पूर्ववर्ती भारतीय समाज का एक विकसित रूप था। वैदिक काल में स्त्री पुरुषों का सामाजिक स्तर समान था। स्त्रियाँ भी पुरुषों में समान परिवार की स्वामिनी थी। उस काल में जनसंख्या कम थी इस कारण विवाह का प्रमुख लक्ष्य सन्तान उत्पन्न करना ही था क्योंकि ऋग्वेद के सूक्तकार ऋषियों ने अपने ईश्वर देवता से आयु और धन के साथ सदैव सन्तान की भी कामना की है। सही अर्थो में वैदिक कालीन नारियों का आदर्श यह था कि उनका गृहस्थ जीवन सुखी हो उनके पति उनसे स्नेह करें तथा वे स्वस्थ एवं वलवान हों। उन्हें पुरुषों के समान शिक्षा दी जाती थी। लोपा मुद्रा, अपाला, घोषा, जाबाला, गार्गी आदि इस काल की विदुषियाँ थी। विवाह परिपक्वावस्था में होता था, वर वरण की छूट थी पर्दा प्रथा नहीं था। लेकिन ऐसा विदित होता है कि उत्तर वैदिक काल में उत्तरार्ध में नारियों की स्थिति में कुछ ह्रास दिखाई देता है और उनका स्थान स्वामिनी का न होकर सेविका का हो गया।

बौद्ध साहित्य में नारियों का जो चित्रण हुआ है वह बहुत कुछ उत्तर वैदिक काल जैसा ही है लेकिन यह माना गया है कि बौद्ध युग धर्म के साथ-साथ राजनीति तथा सामाजिक क्षेत्रों में भी क्रान्ति का युग था तथा इन सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। नारी को पूरी श्रेष्ठता प्रदान करने का श्रेय महात्मा बुद्ध को ही है क्योंकि पुत्र तथा पुत्री के जन्म में उन्होंने कोई अन्तर नहीं माना।

जातक साहित्यों में कौमार्य मर्यादा की सुरक्षा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है जिसके दायित्व के लिए कन्धा के पालन पोषण में माता-पिता का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था।

वयस्क होने में पश्चात कन्या का पिता सुयोग्य वर के साथ उसका

विवाह कर देता था तत्पश्चात् वह पति गृह में 'वध' का स्थान ग्रहण कर गृहणिया पत्नी पद सेसम्मानित होती थी। पत्नि कें रूप में बहु अपने पति की परम सखा समझी जाती थी। और वह अपने पति भी सेवा उसी प्रकार करती थी जैसे शिवय आचार्य की करते हैं क्योंकि यह मान्यता थी कि पृथ्वी पर उसके पति के समान दूसरा कोई प्रिय नहीं! स्त्रियाँ अपने पति में सुख में अपना सुख समझती थीं। परिवार की मर्यादा का ध्यान रखती थी पशुओं का भरण पोषण करती थी तथा आगत अतिथियों का स्वागत स्वयं करती थी। इसकाल में बन्धक भायी, चौर भार्चा, आर्या भार्या, माता भार्या, संङ्गिगी भार्या, सखी भार्या और दासी भार्या जैसी पत्नीयों के उल्लेख मिलते हैं।

बौद्ध वाङ्गमय में जहाँ स्त्री पुरुष में चरित्रहीनता सम्वन्धी अनेक उदाहरण दिए गए हैं वही उसके भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं कि दाम्पत्य जीवन प्रायः सुखमय था तथा पत्नि को पति का अन्तरंग मित्र बताया गया है।

बौद्ध वाङ्गमय में प्राप्त उद्धरणों से यह भी विदित होता है कि परिवार में स्त्रियों पर सास ससुर का कठोर नियंत्रण होता था तथा आदर्श पुत्र बधू और सास ससुर का परस्पर व्यवहार प्रेमपूर्ण था। लेकिन कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिससे परिलक्षित होता है कि तत्कालीन समाज में सास ससुर भी अनुमति के बिना बधू कोई भी कार्य नहीं कर सकती थी! किन्तु कुछ ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है जिसमें पुत्र बधू द्वारा सास ससुर प्रताड़ित किए गए हैं। जातक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि एक बार चार पुत्रों ने अपने पत्नियों में कहने पर पिता को घर से निकाल दिया था।

बौद्ध परम्पराओं की दैनिक जीवनचर्या से स्पष्ट होता है कि बौद्ध समाज में स्त्रियाँ अपने पति द्वारा पूर्ण रूप से रक्षित होती थीं। किसी भी स्थिति में पत्नी की रक्षा करना पति का परम कर्त्तव्य होता था, किन्तु व्यभिचारिणी पत्नी के साथ पति कठोरता से व्यवहार करता था और उसके लिए कई प्रकार के सामाजिक दण्डों का भी विधान था।

बौद्धकालीन सामाजिक जीवन के चित्रण में भी पति व्रत की मर्यादा रखने वाली नारियों की कमी नहीं थी। ऐसी स्त्रियों ने अपने प्राणों को संकट में डालकर सतीत्व की रक्षा की। जैसे जातक में एक प्रसङ्ग में यह ज्ञात होता है

कि सुजाता नामक स्त्री ने राज दण्ड से मुक्त करा अपने पति के प्राण की रक्षा की! पति की मृत्यु के बाद नारियों का जीवन कष्टमय हो जाता था। वे अपने जीवन-यापन के लिए पति की सम्पत्ति को अपनाती थी या फिर पति कुल में मुख्य पुरुष के संरक्षण में पर पुरुष को मुख्य रूप से ग्रहण करती थी। इस प्रकार विधवावो का जीवन कवटकर था और उनके लिए भिक्षा मांगना एक माल आधार रह जाता था नारी के लिए वैधव्य जीवन अभिशाप तो होता ही है परन्तु तत्कालीन समाज में यह अवस्था उनके लिए और भी कष्टकर थी।

प्राचीन भारत में माता का स्थान सदा से सर्वोपरि रहा है तथा परिवार भी वह सबसे अधिक पूजनीय और गौरवशाली महिला होती थी। क्योंकि जातक कथा में माता-पिता को देवता कहते हुए उन्हें ब्रह्म कहा गया है और कहा गया है-

"ब्रह्मा ही माता पितरो"

लेकिन जातक कथाओं में कुछ ऐसे भी दृष्टांत उपलब्ध हैं जहाँ माताओं को चण्डी रूप में चित्रित किया गया है। सुजाता जातक में माता को क्रोधिनी चण्ड, कठोर, कोसने वाली और परिहास करने वाली माँ के रूप में हुआ है।

बौद्ध साहित्य में नारियों के शैक्षणिक एवं धार्मिक जीवन का जो चित्रण मिलता है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में लड़कियों को पति गृह में कैसे रहना चाहिए। बौद्धकालीन नारियों को बौद्ध विहारों एवं मठो में अर्हत उपाध्याय तथा आचार्य शिक्षा देते थे। लेकिन स्थायों के शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही होता था क्योंकि उनके पाठशाला में विद्या अर्जन का उल्लेख कम मिलता है। जीवन को सफल बनाने के लिए कन्या का अपेक्षित ज्ञान एवं शिक्षा अपनी माता से प्राप्त होती थी। भिक्षुणियाँ भी नारियों को उपदेश देकर शिक्षा देती थी। भिक्षुणी खेमा को पण्डिता मेधाविनी चतुर प्रतिभावान तथा अच्छी सूझ वाला कहा गया है।

थेरीगाथा की भिक्षुणी कवयित्रियों में विषय में ज्ञात होता है कि वे ज्ञान पिपासु होती थी तथा ज्ञान के अन्वेषण एवं प्राप्टि में लीन रहती थी। इसके साथ ही साथ स्त्रियों को संगीत नृत्य और ललित कलाओं में भी शिक्षा दी जाती थी।

इस काल में नारियों को धार्मिक शिक्षा विशेष रूप से दी जाती थी, और

उन्हें धार्मिक कार्य करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था। इस युग में स्त्रियाँ, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और अनेक देवताओं की पूजा वन्दना करती थी तथा नदी के घाटों में जाकर डुबकी लगाती थीं, आधे सिर का मुण्डन कराकर पृथ्वी पर शयन करती और रात्रि भोजन का त्याग करती थी और अनेक ब्रतों का पालन करती थीं। स्त्रियों को धार्मिक कार्य करने पुरुषों के समान ही फल मिलेगा यह धारणा तत्कालीन समाज में भी प्रचलित थी। विशाखा, निगार माता, नकुल माता, गृहपत्नि महाप्रजापत्ति गौतमी आदि नारियाँ महात्मा बुद्ध से साक्षात धार्मिक विषयों पर चर्चा करती थी।

बौद्ध साहित्यों में इस बात का उल्लेख है कि स्त्रियों में शासन की क्षमता नहीं होती क्योंकि अभी बुद्धि क्षीण होती है। यहाँ तक कहा गया है कि राज्य करनें पर पाप का भागी बनना पड़ता है। लेकिन इन कथानकों के अतिरिक्त भी बौद्ध साहित्य में नारी शासन में अनेक उद्धरण उपलब्ध हैं। महादेवी अग्रमहिषी तथा राजपत्नि का राजवृत्त के कार्य भार पर विशेष प्रभाव पड़ता था। राजमहिषी राजनीति में मंत्रणा भी देती थी। तिब्यरक्षिता के उपचार से जब अशोक स्वस्थ हो गया तो उसने प्रसन्न होकर एक सप्ताह के लिए अपना राज्य उसे सौंप दिया। कौशाम्बी नरेश उदयन के बन्दी होने पर उसकी माँ ने राज्य का संचालन किया था।

प्राचीन युग में यह परम्परा रही है कि पिता की सम्पत्ति पर उसके पुत्र का अधिकार होता है और पुत्र के रहते पुत्री का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। लेकिन बौद्ध ग्रन्थों में हम बात में प्रमाण मिलते है कि पुत्र न होने पर पुत्री ही पिता के सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारी की होती थी। स्त्रियों के पास बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण होते थे जो विवाह के अवसर पर पिता तथा पति से उपहार स्वरूप प्राप्त होता था तथा उन्हें स्त्री धन के उपयोग करने तथा किसी प्रकार के व्यवहार में लाने के लिए पति के अनुमति की आवश्यकता नहीं होती थी।

तत्कालीन समाज में गणिकाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान था। बौद्ध साहित्य में ऐसी अनेक गणिकाओं का उल्लेख आया है कि जिन्हें बौद्ध साहित्य में 'नगरशोभिन' तथा 'जनपद कल्याणी' के नाम से जाना जाता था।

गणराज्यों में गणिकाओं का वैभव चमत्कृत करने वाला था। इन्हें नगर बधू कहा जाता था। आम्रपाली दर्शनीय रूपवती, नृत्य संगीत एवं वाद्य में चतुर थी। उसके सौन्दर्य पर अनुरक्त होकर अनेक राजपुत्र उससे विवाह करने के लिए लालायित थे। नैगम आम्रपाली को देखकर चमत्कृत हो गया और उसने विश्विसार से प्रार्थना की हमारे राज्य में भी गणिका होनी चाहिए। तब राजगृह में अत्यन्त दर्शनीय परम रूपवती सालवती नाम की गणिका बनी। इन्हें राज दरबार में अत्यधिक सहायता तथा सम्मान मिलता था और इनका गणिका-भिषेक भी किया जाता था। गणिकाएं आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होती थी तथा उनका जीवन वैभवपूर्ण था। रथ पर आरूढ़ होकर वे राजमार्ग पर निकलती थी तो राह के दोनों ओर खड़े लोगों की दृष्टियां उन्हें सम्मान भाव से निहारती थी। गणिकाएं छल और वाक-चातुर्य में निपुण होती थीं। बौद्ध साहित्य में वर्णित कतिपय गणिकाएँ बौद्धिक और सांरतिम गुणों में तत्कालीन आमि जात्य कुलीन कन्यों से बढ़कर ही थी। गणिकएं धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों में सम्मान हिस्सा लेती थी। समाज के अच्छे कुलो से उनमें धनिष्ठ सम्बन्ध होते थे। वे कुलीन परिवारों में आती जाती थी और विशिष्ट परिवारों के सदस्यों का स्नेह भाजन भी हुआ करती थी।

समाज में कुछ नारियां ऐसी थी जिन्होंने अपनी धार्मिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप अथवा पति में प्रव्रजित हो जाने पर असीम दु:ख के कारण संसार को नश्वर मानकर शान्तिमय जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ समझा और उन्होंने भिक्षुणी जीवन को अपनाया। यद्यपि महात्मा बुद्ध नारियों के प्रब्रज्या देने के पक्षधर नहीं थे किन्तु अपने शिवय आनन्द के आग्रह पर सर्व प्रथम उन्होंने महाप्रजापति गौतमी के साथ नन्दा, यशोधरा आदि के साथ पाँच सौ शाम्य कुमार पत्नियों को बौद्ध धर्म में प्रव्रजित किया था। बाद में भिक्षुणियों की संख्या बढ़ने लगी और अधिकांश स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन का बन्धन तोड़कर संघ में प्रविष्ट होने लगी थी। मुक्ता तथा उत्तरा ने अपने गृहस्थ जीवन में घरेलू कार्यों से ऊबकर संघ में प्रवेश किया था। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य हम बात के साक्षी है कि संघ में भिक्षुणी के रूप में दीक्षा प्राप्त करने के बाद अनेक स्त्रियों ने बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार में तथा संघ को सुदृढ़ करने में अपना महत्व पूर्ण योगदान किया। गौतमी खेमा जैसी विदुषी और साधिकांए बौद्ध धर्म के इतिहास में दीपमालिकाओं की तरह प्रकाशमान है।

वैदिक युग के समान बौद्ध काल में भी दासियों एवं परिचारिकाओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। बौद्ध साहित्य में उन सभी स्त्रियों को दासी कहा गया है जो अपनी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति से विवश होकर दूसरे परिवारों की सेवा करती थी। इनका जीवन परतन्त्रता की बेड़ियो में जकड़ा रहता था तथा अपनी स्थिति से विवश रहती थी। इनका जीवन यातनापूर्ण तथा कठिन होता था। स्वामी इनका वध तक कर देते थे। अतः वे दण्ड से सदा भयभीत रहती थीं। इनका विक्रय भी किया जाता था तथा उपहार के रूप में एक दूसरे को प्रदान भी किया जाता था। दासियाँ उस समय वैयक्तिक भोग की भी वस्तु मानी जाती थी क्योंकि समाज में उनका स्थान मरणतुल्य था। वे परिवार में सभी प्रकार का कार्य करने को प्रस्तुत करती थी। पालि साहित्य में ध्वजादता स्वेच्छागतदासी कुल दासी धनेन क्रीता, दलिभ, कुम्मदसी प्रेषण-कारिका और भयप्प पुण्ण आठ प्रकार की दासियों का उल्लेख मिलता है। ये सभी दासियाँ स्वामी की सम्पत्ति समझी जाती थी।

इन दासियों के अतिरिक्त समाज में परिचारिकाओं का भी उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है जिनका प्रमुख कार्य बच्चों की देखभाल पालन पोषण तथा उद्यान विहार होता था। राज महलो में ये परिचारिकाएं धाली चेदी मृतक अथवा कामकार के रूप में अपना जीवन व्यतीत करती थी।

विविध बौद्ध ग्रन्थों से पता-चलता है तत्कालीन समाज की स्त्रि चौकोपरदे में ररखना समाज में उनकी स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना था। पर्दा प्रथा न होने से हम यह कह सकते है कि उस समय की नारियों स्वतन्त्र थीं। पुत्र बधू के रूप में कुछ अधिकार और कर्त्तव्य प्राप्त थे। यदि वे पर्दे में होती तो उन्हें कर्त्तव्य और अधिकार को पूरा करने में बाधा उत्पन्न होती। जातको के बहुत से ऐसे प्रसंग है जिसमें रानियाँ विना पर्दे के स्वच्छन्दता पूर्वक मंत्रियों एवं अधिकारियों के साथ बात करती थी।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाज में नारियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण उदार थे। स्वयं तथागत का विचार भी नारियों के प्रति सहयोगात्मक था। भगवान बुद्ध स्त्रियों की सुगति के सम्बन्ध में कहते हैं कि स्त्री को श्रद्धालु

लज्जा सम्पन्न, क्रोध रहित, एवं प्रज्ञा सम्पन्न होना चाहिए, वे सदाचारिणी पति-वता ईर्ष्या रहित, कृपणता रहित एवं परिश्रमी होने से सुगति को प्राप्त होती है।

स्त्रियों द्वारा सेवा साधना व ज्ञान के जो उदाहरण बौद्ध साहित्य में प्रकाश मान है वे स्वतः ही स्त्रियों को पाप की मूर्ति निरूपित करने वाली धारणाओं को बौना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अतः ऐसा लगता है कि तत्कालीन समाज में नारियों की स्थिति समानता सिद्धान्त पर आधारित थी तथा बुद्ध के विचारों एवं सिद्धान्तो में नारी चिन्तन को एक नया मोड़ दिया यदि वे ऐसा नहीं करते तो थेरी गाथा जैसा गतिकाव्य निर्मित हो पाना सम्भव नहीं था।

सन्दर्भ

ऋग्वेद, 7, 31, 508, 105।
मनुस्मृति।
अगुत्तर निकाय भाग 3।
द स्टेटस ऑफ विमेन इन ऐन्शिस्न्ट इंडिया प्रो० इन्द्रा।
विमेन अन्डर प्रिमिटव इंडिया हार्नर।
जातक भाग 1, 2, 3, 6।
संयुक्त निकाय।
दीघ निकाय।
थेरी गाथा।
दिव्या वदान।
अवदान शतक।
विनय पिटक।
भारत का सामाजिक इतिहास, डॉ० जयशंकर मिश्र।
विनय पिटक।
बौद्ध युगीन भारत, डॉ० सीतराम दूबे।
प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में समाज और संस्कृति डॉ० परमानन्द सिंह।
बुद्धिस्ट इंडिया, दीज डेविडस।
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय।
बौद्ध एवं जैन आगमो मे नारी, डॉ० कोमल चन्द्र जैन।

27

बौद्ध शिक्षा परम्परा का आधुनिक भारतीय शिक्षा पर प्रभाव

दिनेश कुमार गुप्त

भारतीय शिक्षा की गौरवशाली परम्परा में वैदिककालीन शिक्षा का महत्वपूर्ण एवं गौरवशाली योगदान रहा है। इस वैदिक कालखण्ड का प्रसार 2500 ई०पू० से 500 ई० पू० समान नहीं था। ऋग्वैदिक अथवा पूर्ववैदिक काल में भारतीय शिक्षा अपने उन्नयन के लिए विश्वविख्यात थी, जबकि उत्तरवैदिक कालीन शिक्षा अनेकानेक विसंगतियों का भण्डार थी। इस विसंगतिपूर्ण वैदिक व्यवस्था के प्रति जन असन्तोष होना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप वैदिक व्यवस्था के वर्णधर्म के विरूद्ध एक क्षत्रिय राजकुमार ने अपने क्षत्रिय वर्णधर्म का अतिक्रमण करते हुए नये धर्म को स्थापित किया। जबकि वैदिक व्यवस्था में यह कार्य ब्राह्मणों का एकाधिकार माना जाता था।

बौद्धकाल में भारत यात्रा के दौरान (399-414 ई०) फाहियान ने लिखा है कि भारत में प्राथमिक शिक्षा की अति सुन्दर व्यवस्था थी। सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग एवं आइसिंग के लेखों में बौद्धकालीन सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा का उल्लेख मिलता है, जिसे बौद्ध भिक्षुओं के साथ-साथ बौद्ध मतावलम्बियों एवं गृहस्थों को भी प्राप्त करने का अधिकार था। जबकि वैदिककाल में प्राथमिक शिक्षा की किसी सुनिश्चित व्यवस्था का उल्लेख तत्कालीन साहित्यों में नहीं मिलता है। इस काल में प्राथमिक शिक्षा की किसी सुनिश्चित व्यवस्था का उल्लेख तत्कालीन साहित्यों

में नहीं मिलता है। इस काल में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था अभिभावकों को स्वयं करनी पड़ती थी।

इन सबके विपरीत बौद्धकालीन प्राथमिक शिक्षा के प्रभाव से वर्तमान भारत में प्राथमिक शिक्षा को आधारभूत शिक्षा मानकर इसके उन्नयन और विकास हेतु लगातार प्रयत्न होते रहे हैं। विशेषतया ब्रिटिश कालीन भारत में जब अंग्रेज केवल उच्चवर्ग के थोड़े से लोगों को शिक्षा देने का छनाई सिद्धान्त स्थापित करने में लगी थी। भारतीय नेतृत्व एवं आम भारतीय जनमानस स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ साथ जनशिक्षा का अवसर पाने के लिए भी लड़ाई लड़ रहे थे। अन्ततः 1911 में गोपालकृष्ण गोखले ने बड़ौदा नरेश गायकवाड द्वारा अपने राज्य के बच्चों के लिए कराये गये निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था का दृष्टान्त रखते हुए ब्रिटिश भारतीय सरकार के समक्ष 'निशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा' का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव उस समय तो पारित न हो सका, किन्तु शिक्षा जगत् में यह प्रयास 'मील का पत्थर' साबित हुआ। 1937 में गांधी जी की बेसिक शिक्षा योजना इसी प्रयास की एक महत्वपूर्ण कड़ी कही जा सकती है। इन सबके फलस्वरूप देश की स्वतंत्रता के पश्चात संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में यह उल्लेख किया गया कि सरकार संविधान लागू होने के दस वर्ष के भीतर 6 से 14 आयु वर्ग के बालक बालिकाओं के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगी। वर्तमान में भी सर्वशिक्षा अभियान के माध्यम से इसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है।

बौद्धकालीन शिक्षा के पूर्व इस देश में शिक्षा की जो व्यवस्था थी, उसमें प्रायः एकल शिक्षक ही हुआ करते थे। वैदिककालीन गुरुकुलीय प्रणाली में गुरु के आश्रम ही विद्यालय के रूप में कार्यरत थे, जहाँ अधिकतम 10 से 15 विद्यार्थी ही शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरु इन्हें सभी विषयों का समग्र ज्ञान कराते थे, अतः अलग अलग विषयों को पढ़ाने के लिये अलग अलग शिक्षकों की आवश्यकता नहीं थी। ये शिक्षक प्रायः ब्राह्मण वर्ग के ही होते थे। किन्तु बौद्ध कालीन शिक्षा में अलग अलग विषयों को पढ़ाने के लिए विशिष्ट विषयों के विशेषज्ञ के रूप में अलग अलग शिक्षक उपलब्ध होने लगे थे, साथ ही इस

काल में शिक्षक का ब्राह्मण वर्ण का होना अनिवार्य नहीं था, अपितु जो भी बौद्ध सिद्धान्तों में विश्वास रखता था, बौद्ध भिक्षु बनता था, वह शिक्षक बन सकता था, उसका ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं था।

वैदिक शिक्षा में गुरुगृह ही गुरुकुलों के रूप में जाने जाते थे और इनका स्वतन्त्र अस्तित्व होता था। किन्तु इसके विपरीत बौद्धकाल में शिक्षा के लिए सार्वजनिक स्थलों के रूप में बौद्धमठों, विहारों का प्रयोग होने लगा था। बौद्धकालीन शिक्षा संस्थाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था, अपितु यह बौद्धमठों और बिहारों से आबद्ध रहते थे। बौद्धकालीन शिक्षा की भांति ही वर्तमान में भी शिक्षण संस्थाओं का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। प्राथमिक शिक्षा संस्थाएं बेसिक शिक्षा परिषद से, माध्यमिक शिक्षा संस्थाएं माध्यमिक शिक्षा परिषद् से और उच्च शिक्षा संस्थाएं विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध होते हैं। इसी तरह अन्यान्य व्यावसायिक और तकनीकी संस्थान भी है, जो अपने प्राधिकरण संस्थान से जुड़े होते हैं।

वैदिककालीन शिक्षा में विश्वविद्यालयी शिक्षा का उल्लेख नहीं मिलता है, इसके विपरीत बौद्धकालीन शिक्षा परम्परा में विश्वविद्यालयों की एक बृहद् श्रृंखला है, उच्च शिक्षा प्राप्ति हेतु विदेश प्रयास भी बौद्ध परम्परा की ही देन है। वर्तमान विश्वविद्यालयी शिक्षा का विकास यद्यपि आधुनिक संदर्भों में हुआ है, जिसमें ढांचागत विभिन्नताओं के होने के बावजूद भी हम विश्वविद्यालयी परम्परा में अपने को बौद्धकाल से जोड़ने में किंचित संकोच नहीं करते हैं।

अतः कहीं न कहीं हमारी विश्वविद्यालयी शिक्षा के मूल में बौद्ध परम्परा का प्रभाव अंकित है। आज विभिन्न देशों के विद्यार्थी उच्च शिक्षा हेतु एक देश से दूसरे देश में आते जाते हैं, यह भी बौद्ध परम्परा की ही देन है। आधुनिक सेमिनार में बौद्ध संगीति का प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। देशाटन एवं प्रकृति निरीक्षण जो बौद्ध शिक्षा में एक प्रमुख शिक्षण पद्यति थी, वह वर्तमान शिक्षा में एक महत्वपूर्ण विधि के रूप में स्वीकार की जाती है।

वैद्धिककालीन शिक्षा व्यवस्था में यह एक उल्लेख मिलता है कि शूद्रों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार नहीं था। अर्थात् जातिगत आधार पर सर्वत्र शिक्षा में भेदभाव किया जाता था। किन्तु इसके विपरीत बौद्धकाल में शिक्षा

की उपलब्धता सभी के लिए होती थी। इसीलिए प्रवेश हेतु योग्यताओं के बजाये निर्योग्यताओं का उल्लेख किया गया था और इन्हें पूरी तरह से सार्वजनिक भी कर दिया गया था यह व्यवस्था अपने आप में प्रजातान्त्रिक थी, क्योंकि वैदिक व्यवस्था में प्रवेश गुरु का इच्छा पर निर्भर होता था तथा प्रवेश हेतु शर्तों को स्पष्ट रूप में सार्वजनिक भी नहीं किया जाता था।

वर्तमान समय में शिक्षा का अवसर समान रूप से सभी को उपलब्ध कराने के लिए सरकार कटिबद्ध हैं। विभिन्न धर्मों जातियों एवं वर्गों के लिए विशेष प्रयत्न करने का भी सुझाव दिया है, जिसे बौद्ध कालीन शिक्षा परम्परा से जोड़कर देखा जा सकता है। उपरोक्त अध्ययन में शिक्षा के विभिन्न पक्षों के संदर्भ में वैदिक, बौद्ध एवं वर्तमान काल की शिक्षा परम्परा का सम्यक विश्लेषण करने के उपरान्त यह तथ्य प्रस्फुटित होता है कि वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था के अनेक पक्ष बौद्धकालीन शिक्षा परम्परा से जुड़े हुए हैं, इस दृष्टि से बौद्ध शिक्षा को भारतीय शिक्षा संरचना का श्रोत माना जा सकता है।

सन्दर्भ

1. ब्रह्मवर्चस सम्पादक, धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण, मथुरा अखण्ड ज्योति संस्थान 2001।
2. मिश्र पं० जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना बिहार ग्रंथ अकाडमी 1999।
3. अल्तेकर डॉ० ए० यस० एजुकेशन इन यनसियन्ट इण्डिया।
4. गुप्त राम बाबू, भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं, आगरा रतन प्रकाशन मंदिर 1995।
5. चौबे डॉ० एस० पी० भारतीय शिक्षा का इतिहास, इलाहाबाद राम नारायण लाल बेनी माधव 1965।

28

जैन शिक्षा व्यवस्था में गुरु शिष्य सम्बन्ध

पूर्णेश नारायण सिंह एवं जय प्रकाश मणि

अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय शिक्षा' में लिखा है कि जैन शिक्षण पद्धति का उद्देश्य था चरित्र का संगठन, व्यक्तित्व का निर्माण, सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण और कैवल्य की प्राप्ति, गुरु शिष्य के सम्बन्धों से होती थी। अध्यापक बहुत आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। जैन सूत्रों में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है - कलाचार्य, शिल्पाचार्य, और धर्माचार्य। कलाचार्य और शिल्पाचार्य के सम्बन्ध में कहा है कि उनका उपलेपन और संदर्भन करना चाहिये, उन्हें पुष्प समर्पित करने चाहिये, तथा स्नान कराने के पश्चात् उन्हें वस्त्राभूषणों से मंडित करना चाहिये। तत्पश्चात् भोजन आदि कराकर जीवन-भर के लिए प्रतिदिन देना चाहिये तथा पुत्र-पौत्र तक चलने वाली आजीविक का प्रबन्ध करना चाहिये। धर्माचार्य को देखकर उनका सम्मान करना चाहिये और उनके लिए भोजन आदि की व्यवस्था करनी चाहिये।[1] यदि वे किसी दुर्भिक्ष वाले प्रदेश में रहते हो तो उन्हें सुभिक्षु देश में ले जाकर रखना चाहिये, कांतार में से उनका उद्धार करना चाहिये तथा दीर्घकालीन रोग से उन्हें मुक्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।[2] इसके साथ ही अध्यापकों में भी विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए पूर्ण योग्यता होनी चाहिये। जो प्रश्न विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए पूर्ण योग्यता होनी चाहिये। जो प्रश्न विद्यार्थियों द्वारा पूछे जायें उनका, अपना बड़प्पन प्रदर्शित किये बिना उत्तर देना चाहिये, तथा कभी असम्बद्ध उत्तर नहीं देना चाहिये।[3]

अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण होते थे, और विद्यार्थी

अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। अच्छे शिष्य के सम्बन्ध में कहा है कि वह गुरुजी के पढ़ाये हुए विषय को हमेशा ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है, प्रश्नोत्तर सुनता है, उसका अर्थ ग्रहण करता है, उसपर चिन्तन करता है, उसके प्रमाणिकता का निश्चय करता है उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है।[4] कोई सुयोग्य शिष्य अपने अध्यापक के प्रति कभी अशिष्टता का व्यवहार नहीं करता, कभी मिथ्या भाषण नहीं करता है, तथा एक जातिमंद अश्व की भांति वह उसकी आज्ञा का पालन करता है। यदि उसे पता लगे कि उसका आचार्य कुपित हो गया है तो प्रिय वचनों से उसे प्रसन्न करता है, हाथ जोड़कर उसे शान्त करता है और अपने प्रभावपूर्ण आचरण की क्षमा मांगता हुआ भविष्य में वैसा न करने का वचन देता है। वह न कभी आचार्य के बराबर में, न उसके सामने, और न ही उसके पीछे की तरफ बैठता है। कभी आसन या शैय्या पर बैठकर वह प्रश्न नहीं पूछता, बल्कि यदि कुछ पूछना, बल्कि यदि कुछ पूछना हो तो अपने आसन से उठकर, पास में आकर, हाथ जोड़कर पूछता है। यदि कभी आचार्य कठोर वचनों द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखना चाहे तो वह क्रोध न करके शान्तिपूर्वक व्यवहार करता है, और सोचता है कि इससे उसका लाभ ही होने वाला है। जैसे किसी अविनीत घोड़े को चलाने के लिए बार-बार कोड़ा मारने की आवश्यकता होती है, वैसे ही विद्यार्थी को अपने गुरु से बार-बार कर्कश वचन सुनने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि जैसे कोई विनीत घोड़ा अपने मालिक का कोड़ा देखते ही दौड़ने लगता है वैसे ही आचार्य का इशारा पाकर सुयोग्य विद्यार्थी सत्कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। वास्तव में वही विनीत कहा जाता है जो अपने गुरु के आज्ञा का पालन करता है, उसके समीप रहता है और उसका इशारा पाते ही अपने काम में लग जाता है।[5] लेकिन अविनीत विद्यार्थी भी होते थे। अध्यापक उन्हें अनुशासन में लाने के लिए ठेकर (खड्डुया) और चपत (चवेडा) मारते, दण्ड आदि से प्रहार करते और आक्रोशपूर्ण वचन कहते।[6] अविनीत शिष्यों की तुलना गलिया बैलों (खलुंक) से की गयी है जो धैर्य न रखने के कारण, आगे बढ़ने से जवाब दे देते हैं। ऐसे शिष्यों को यदि किसी कार्य के लिए भेजा जाये तो वे इच्छानुसार पंख निकले हुए हंस शावकों की भांति, इधर-उधर घूमते रहते हैं। ऐसे कुशिष्यों को अत्यन्त कुत्सित गर्दभ

(गलिगद्दह) की उपमा दी गयी है। आचार्य ऐसे शिष्यों से तंग आकर, उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ देते और स्वयं वन में तप करने चले जाते हैं।[7]

दुर्विनीत शिष्य अपने आचार्यों पर हाथ भी उठा देते थे। इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदत्त के बाईस पुत्रों को जब आचार्य के पास पढ़ने भेजा गया तो उन्होंने कुछ नहीं पढ़ा। आचार्य यदि कभी कुछ कहते सुनते तो वे आचार्य को मारते-पीटते और दुर्वचन बोलते। यदि आचार्य उनकी ताड़ना करते तो वे जाकर अपनी मां से जाकर शिकायत करते। मां आचार्य के ऊपर गुस्सा करती और ताना मारती कि क्या आप समझते है कि पुत्र कहीं से ऐसे ही आ जाते हैं।[8]

शिष्यों को शैल, कुट, छलनी आदि के समान बताया गया है। कुछ शिष्य शैल (पर्वत) के समान अत्यन्त कठोर होते हैं, और कुछ कृष्णभूमि (काली मिट्टी वाली जमीन) के समान आचार्य के बताये हुए अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ होते हैं। कुछ (घट) चार प्रकार के बताये गये हैं - छिद्र-कुट (जिस घड़े की तली फूटी हुयी हो), खंड-कुट (जिसके कन्ने टूटे हुए हो), वोट-कुट (जिसका एक ओर का कपाल टूटा हुआ हो) और सकल - कूट (जो घड़ा सम्पूर्ण हो) कुछ शिष्य छिद्र कुट के समान, कुछ खंड कुट के समान, कुछ वोट-कुट के समान और कुछ सकल-कुट के समान कहे गये हैं।[9] कुछ शिष्य चाकिणी (छलनी) के समान होते थे। वे एक कान से सुनते हों और दूसरे से निकाल देते थे। इसके विपरीत कुछ शिष्य खंडर (खपुर = तापसों का एक पात्र) के समान होते थे। जो आचार्य की बातों को भलीभांति सुनते थे।

जैन युग में विद्यार्थी सादा जीवन व्यतित करते थे। कुछ विद्यार्थी अध्यापक के घर रहकर पड़ते, और कुछ नगर के धनवन्तों के घर अपने रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेते थे।[10] कभी-कभी विद्यार्थीयों का विवाह अपने गुरु की कन्या से ही सम्पन्न हो जाता था।[11] विद्यार्थी जब बाहर से विद्याध्ययन समाप्त करके घर लौटते तो उनका धूमधाम से स्वागत किया जाता था।[12]

अध्यापक द्वारा पढ़ाये जाने वाले विषय - जैन आगमों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अध्यापक अपने शिष्यों को विभिन्न प्रकार के विषयों का ज्ञान देता था। स्थानांगसूत्र में नौ पाप श्रुत की शिक्षा दी जाती थी - 1. उत्पातशास्त्र,

2. निमित्तशास्त्र, 3. मन्त्रशास्त्र, 4. आख्यायिका, 5. चिकित्सा, 6. लेख आदि बहत्तर कलायें, 7. आवरण (वास्तु विज्ञान), 8. लौकिक श्रुत, 9. बुद्ध शासन आदि विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था।[13]

जैन सूत्रों में शिल्प तथा ज्ञान-विज्ञान में प्रमुखतः बारह कलायें (विद्यायें) प्रमुख रूप से पाठ्यक्रम में सम्मिलित थी।[14] 1. लेख और गणित[15], 2. काव्य, 3. रूप *विद्या*, 4. *संगीत*, 5. उदक मृत्तिका, 6. छयूत,[16] 7. स्वास्थ, 8. लक्षणशास्त्र,[17] 9. सकुन विद्या,[18] 10. ज्योतिष विद्या, 11. रसायन विद्या,[19] 12. स्कन्धावारमान (वास्तुकला एवं युद्ध शिक्षा) आदि विषयों का अध्ययन-अध्यापन गुरु-शिष्यों के माध्यम से होता था।

अध्ययन-अध्यापन का माध्यम

जैन शिक्षा व्यवस्था में गुरु-शिष्य के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम अर्द्धमागधी भाषा थी।[20] भगवान महावीर अर्द्धमागधी भाषा में अपने निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया था।[21] वागभट्ट ने लिखा है कि हम उस वाणी को नमस्कार करते हैं जो सबकी अर्द्धमागधी है।[22] अर्द्धमागधी जैन आगमों की भाषा है इसलिए जैन शिक्षा की भाषा अर्द्धमागधी को स्वीकार किया गया। जर्मन विद्वान रिचर्ड पिसल ने अर्द्धमागधी के विभिन्न रूपों का विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलन होने का उल्लेख किया है।[23]

इस प्रकार जैन शिक्षा व्यवस्था में गुरु-शिष्य सम्बन्ध के विभिन्न आयामों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि जैन धर्म अपने धार्मिक विषयों के साथ ही साथ युग की परम्परागत विषयों को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था। पठन-पाठन का माध्यम, अच्छे-बुरे शिष्य, अध्यापक की योग्यता आदि के एक संक्षिप्त सर्वेक्षण से उनकी शिक्षा व्यवस्था के एक अंग का संक्षिप्त संकेत मात्र किया गया है।

संदर्भ

1. राजप्रश्नीय सूत्र, 190, पृ० 328।
2. स्थानांग 3.135 तथा मनुस्मृति 2.225 आदि।
3. आवश्यक निर्युक्ति 136 तथा एच० आर० कपाड़िया, द जैन सिस्टम आव एजूकेशन, जर्नल ऑफ युनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, जनवरी 1940, पृ० 206 आदि।

4. आवश्यक निर्युक्ति 221।
5. उत्तराध्ययन सूत्र 1.2, 9, 12, 13, 18, 22, 27, 41।
6. उत्तराध्ययन सूत्र 1.38।
7. उत्तराध्ययन सूत्र, 27.8, 13.16 आदि।
8. उत्तराध्ययन टीका, 3.65 आदि।
9. उत्तराध्ययन टीका, 12.18-19 आदि ।
10. उत्तराध्ययन टीका 4, पृ० 83 आदि भगवती आराधना (मूल) 479-480 ।
11. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 291।
12. उत्तराध्ययन टीका, 2, पृ० 22 - आदि।
13. सूत्र कृतांग, 2/2/30।
14. ज्ञाता धर्म कथा, 1/21, समवायांग, पृ० 77, डी० सी० दास गुप्त, जैन सिस्टम, ऑफ एजूकेशन, पृ० 74।
15. आवश्यकचूर्णी, पृ० 552।
16. कुट्टनीमतम्, श्लोक 124।
17. प्रतिलक्षण जातक - 126।
18. आवश्यकचूर्णी पृष्ठ 562।
19. पी० सी० रे, हिस्ट्री ऑफ हिन्दू कमेस्ट्री, भाग - एक, पृ० 62।
20. आचारांगचूर्णी, पृ० 255।
21. समवायांग पृ० 57, अपपातिक 34-146।
22. अलंकार तिलक, 1/1।
23. द्रष्टव्य - हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनुवादित प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० 33।

29
जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त

राम प्रताप राज

भारतीय धर्म दर्शन तथा तत्त्व चिन्तन में कर्म सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवन के विविध आयामों में कर्म सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि भारत के सभी दार्शनिक शाखाओं में कर्म सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। तथापि जैन परम्परा में जैन आचार्यो ने कर्म सिद्धान्त का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह सभी चिन्तकों से विशिष्ट है **कर्म सिद्धान्त का** हेतु- मोहन लाल मेहता ने जैन कर्म सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए यह प्रस्तावना प्रस्तुत की कि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल अवश्य होता है।[1] इसे कार्य कारण भाव अथवा कर्मफल भाव कहते है क्योंकि प्राणियों के कर्म जन्य अनेक विचित्रताएँ पायी जाती है। इन विचित्रताओं में सुख दु:ख का विशेष स्थान है। अत: जिस हेतु कर्म किया जाता है। वही सुख दु:ख का कारण होता है। सुख दु:ख रूपी कार्य का जो कारण है वही कर्म है।[2] अर्थात् सुख दु:ख का दृष्टि कारण होता है तो कर्म रूप का दृष्टि कारण का अस्तित्व मानने का कोई आवश्यकता नहीं है। अत: जैन धर्म में दृष्ट अदृष्ट कारणों में अदृष्ट कारण का तारतम्य बना रहता है। जिसका फल कर्म होता है।

जैन दर्शन कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड मानता है। जीवों की विविधता का मूल कारण ही कर्म है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है, जो पुद्ति परमाणु कर्म रूप से परिणत होते है, उन्हें कर्म-वर्गणा कहते हैं तथा जो शरीर रूप से परिणत होते है, उन्हें नो कर्म-वर्गण कहते है।[3] कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्य कारण भाव को दृष्टि में रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के

पिण्ड रूप कर्म को द्रव्यकर्म तथा राग द्वेष आदि रूप प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है। अण्डे के समान अनादि है।[4]

2. कर्म बन्ध का कारण- जैन परम्परा में कर्मोपार्जन सामान्यतया दो कारणों से बन्ध माना गया। योग और कषाय, शरीर वाणी और मन के प्रवृत्ति को योग कहते है। क्रोध आदि मानसिक आवेग कषाय के अन्तर्गत माने जाते है। रामद्वेष जनित शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्ति ही कर्म बन्ध का कारण है।[5]

3. कर्म प्रकृति- जैन कर्म शास्त्र में जैन के आठ मूल प्रकृतियाँ- ज्ञानावरण,दर्शनावरण वेदनीय, मोहनीय, आयु नाम, गोत्र और अन्तराय मानी गई है। इन्हीं कर्म प्रकृतियों कर्म में मानव प्रवृत्ति होता है।आठ प्रकार के मूल कर्मो अर्थात् मूल प्रकृतियों के कुल 158 भेद होते हैं। ज्ञानवरणीय कर्म के 5 (पाँच), दर्शनावरणीय कर्म के 9 (नौ), वेदनीय कर्म के 2(दो), मोहनीय कर्म के 28 (अठाइस), आयुकर्म के 4(चार), नाम कर्म के 103 (एक सौ तीन), गोत्रकर्म के दो(2) और अन्तराय कर्म के 5(पाँच) भेद होते हैं। इन्हीं प्रकृतियों की तीव्रता एवं मन्दता से जीवकर्म, में प्रवेश करता है।

4. कर्म की अवस्थाएँ- जैनकर्म सिद्धान्त में जैनकर्म की विभिन्न अवस्थाओं में प्रमुखतः कर्म वन्धन, कर्म सत्ता, कर्म उदय, कर्मउदीण,कर्म उदवर्तना, कर्म अपवर्तना, कर्म संक्रमण, कर्म उपसवन, कर्म निद्धरति, कर्म निआचन, तथा कर्म अवाध की स्थितियाँ होती है। इन स्थितियों से जीव प्रवाहमान होता हुआ लोक में विचरण करता है।

5. कर्म और पुनर्जन्म- कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद सम्बन्ध है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फलस्वरूप परलोक अथवा पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में प्राप्त नहीं होता उन कर्मो के फल भोग के लिए पुनर्जन्म मानना अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में कर्म व्यवस्था के दोषों से बचने के लिये कर्मवादियों को पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। इसीलिए वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनों प्रकार के भारतीय परम्परा में कर्म मूलक पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की गई है।[6] जैन कर्म सिद्धान्त में समस्त सांसारिक जीवों का समावेश चार गतियों- मनुष्य, त्रिर्यंच, नरक और देव में विभाजित किया गया है। मृत्यु के पश्चात् प्राणी

अपने कर्म के अनुसार इन चार गतियों में से किसी एक गति में जाकर जन्म ग्रहण करता है। जब जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने के लिये जाता है तब आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचा देता है। आनुपूर्वी नाम कर्म के लिये नासारज्ञु अर्थात् नाथ का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे वैल को इधर-उधर ले जाने के लिये नाथ की सहायता अपेक्षित होती है। उसी प्रकार जीव को एक गति से दूसरी गति में पहुँचने के लिये आनुपूर्वी नाम कर्म की मदद की जरूरत पड़ती है। समश्रेणी रज्जुगति के लिये आनुपूर्वी की आवश्यकता रहती अपितु निश्रेणीवक्रगति के लिये रहती है। गत्यन्तर के समय जीव के साथ केवल दो प्रकार का शरीर रहता है; तेजस और कार्मण। अन्य प्रकार के शरीर (ओदारिक अथवा वैक्रिय) का निर्माण वहाँ पहुँचने के बाद प्रारम्भ होता है।[7]

6. **बन्ध और मोक्ष**- जैन धर्म दर्शन में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कर्म उपार्जन के दो कारण माने गये है- योग और कषाय। जैन परिभाषा में शरीर वाणी और मन के सामान्य (कर्म-व्यापार) को योग कहते है। अर्थात् प्राणी की सामान्य प्रवृत्ति का नाम 'योग' है। और कषाय केवल मन की गतिविधियाँ अर्थात् क्रोध आदि मानसिक आवेग ही कषाय है। यह सम्पूर्ण जगत् कर्म करने की क्षमता रखने वाले परमाणुओं से भरा है। जब प्राणी तन, मन और वचन से किसी प्रकार की क्रिया करता है, तब उसके आस पास रहते हुए कर्म करने योग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है। अर्थात् आत्मा अपने चारों ओर विद्यमान कर्म परमाणुओं को कर्म रूप से ग्रहण करती है। इस प्रक्रिया का नाम आश्रम है।

बन्ध - कषाय (मानसिक प्रवृत्तियाँ) के कारण कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ बँध जाना ही बन्ध है अथक बन्धन कहा जाता है। यद्यपि प्रत्येक प्रकार का योग (कर्म प्रवृत्ति) कर्म वधका कारण है किन्तु जो योग क्रोध कषय आदि से युक्त होता है उससे होने वाला कर्म विन्ध दृढ़ होता है। कषाय रहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मवन्ध निर्बल होता है। यह नाम मात्र का बन्ध है। बन्ध परमाणुओं की राशि को प्रदेश बन्ध कहते है। इन परमाणुओं की विभिन्न स्वसावरूप परिणति को अर्थात् विभिन्न कार्य रूप क्षमता को प्रकृतिवन्ध

कहते है। कर्मफल की भुक्ति की अवधि अर्थात् कर्म भोगने के कारकों को स्थितिवन्ध तथा कर्मफल की तीव्रता-मन्दता को अनुभाग बन्ध कहते है।[8] कर्म बन्धन के बाद जब तक वे फल देना प्रारम्भ नहीं करते तब तक के काल को अवाँधा काक कहते है। कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय है।

जैन कर्म शास्त्र में प्रकृति बन्ध के आठ प्रकार ज्ञानावरनीय, दर्शणावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय आदि माने गये है। ये आठ प्रकृतियाँ (प्रकृति बन्ध) प्राणी को भिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती है। इनमें से चार प्रकृतियाँ ज्ञानवरणीय, दर्शणावरणीय, मोहनीय और अन्तराय वरणीय घाती प्रकृतियाँ कही गई है क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है। शेष चार प्रकृतियाँ अघाती है। क्योंकि ये किसी आत्मगुण का घात नहीं करती। ये शरीर से सम्बन्धित होता है। जिससे कर्म का बन्धन होता है।[9]

मोक्ष- कर्मों का पुनर्जन्म अथवा नवीन कर्मों का उपार्जन का निरोध करना ही कर्म मोक्ष की स्थिति बनती है। इसी को जैन दर्शन मै। सवर तथा निर्जरा कहते है जो आश्रव तथा बन्ध के विपरीत है। इन दोनों की पूर्णता से आत्मा की जो स्थिति को प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते है। यह कर्म मुक्ति है।[10] नवीन कर्म के उपार्जन का निरोध तथा पूर्ण उपार्जित कर्म का क्षय ही कर्म मुक्ति की ओर ले जाता है। निरोध, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिस चरित्र तथा तपस्या से होता है। इसी को संवर कहते हैं।

1. **गुप्ति-** सम्यक योग निग्रह अर्थात् मन, वचन और तन की प्रवृत्तियों का नियन्त्रण गुप्ति है।
2. **समिति-** सम्यक चलना, बोलना, खाना, लेना-देना, आदि समिति है।
3. **धर्म-** उत्तम प्रकार की क्षमता, मृदुता, ऋजुता, शुद्धता आदि धर्म है।
4. **अनुप्रेक्षा-** अनित्यत्व, अशरणतत्व, एकत्व आदि भावनाएँ अतुप्रेश्च कही जाती है।
5. **परीषद-** क्षुधा, विपाशा, सर्दी-गर्मी आदि कष्टों को सहन करना परीषद कहा जाता है।
6. **चरित्र-** सामाजिक आदि भेज से पाँच प्रकार का है।

7. **तपस्या-** वाध्य और अभ्यान्तर प्रकार से अनशन आदि वाहय तप है तथा प्रायश्चित आदि अभ्यान्तर तप कहलाते हैं।

इन्हीं निरोधों से कर्म की मुक्ति होती है जिसे मोक्ष कहते हैं।

जैन धर्म के कर्मवाद का पूर्णज्ञान जैनागम साहित्य में विशेषतः आचारांग, स्थानांग, समबायांग व्याख्या प्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना एवं उत्तराध्ययन सूत्र से जैन कर्म सिद्धान्त का ज्ञान होता है जिसके अनुसार कर्म से पुनर्जन्म आदि की सहज एवं अनिवार्य क्रियाओं का होना 'जीव' का लक्षण है। कर्म की निरन्तरता से जीव जगत में अवद्ध हो जाता है। यही कर्म बन्धन पुनर्जन्म का कारण बनता है। पुनर्जन्म ही कर्म का बन्धन है किन्तु एक ही जन्म में मोक्ष प्राप्ति अथवा कर्म मुक्ति के लिये जैन दर्शन ने आठ प्रकार की निरोध शक्तियों के अभ्यास करने से कर्मवध से कर्म मोक्ष होता है। इसका विश्लेषण किया है जो अन्य धर्मों से पृथक एवं मौलिक है।

सन्दर्भ

1. मोहन लाल मेहता, जैन धर्म दर्शन, पृ० 425-26।
2. विशेषावाश्यक भाष्य, 1610-1612।
3. नेमिचन्द आर्य, कर्म प्रकृति, पृ० 6।
4. तन्त्रवार्तिक 2/1/5।
5. मोहन लाल मेहता, जैन धर्म दर्शन, पृ० 460।
6. आत्मान मीमांसा, पृ० 134-152।
7. मोहन लाल मेहता, जैन धर्मदर्शन पृ० 492।
8. पण्डित सुखलाल, कर्म विपाक, पृ० 111।
9. *वही।*
10. वही।

30
बौद्ध साहित्य में चिकित्सा

अजय कुमार पाण्डेय

अनादि काल से मानव स्वास्थ्य के प्रति सर्वथा सचेष्ट रहा। नियम, संयम एवं यौगिक क्रियाओं के माध्यम से ऋषि-मुनि स्वस्थ के प्रति सजग रहने की दीक्षा दिये। बौद्ध साहित्य में अनेकत्र बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियों के अस्वस्थ होने की सूचना विवृत है। स्वयं बुद्ध ने स्वास्थ्य रहने के लिए सतर्क किया, साथ ही साथ अनेक विधि-विधानों के माध्यम से स्वास्थ्य के संदर्भ में संकेत भी दिया। भिक्षु-भिक्षुणियों के सामान्य जीवन पद्धति-आहार-व्यवहार में परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हुए अनेकानेक नियम बौद्ध साहित्य में वर्णित हैं। बौद्ध साहित्य एक स्थान पर अस्वस्थ बौद्ध भिक्षुओं के लिए गो-मूत्र - भैषज्य का अनुयति देता है वहीं अन्यत्र अधिक स्वास्थ लाभ के लिये कच्चे मांस, रक्त एवं मद्य सेवन की अनुमति प्रदान करता है। भिक्षुओं के उपचार हेतु बौद्ध साहित्य में परिचारकों की भी व्यवस्था का उल्लेख है। मुख्यतः विनयपिटक एवं महावस्तु चिकित्सा से सम्बन्धित सूचनाओं को प्रदान करता है।

बौद्ध साहित्य में वर्णित है तथागत (गौतम बुद्ध) श्रावस्ती प्रवास क्रम में अनाथ पिण्डक के जेतवन विहार में निवासरत थे उसी समय भिक्षुगण शरद ऋतु में ठण्ड एवं बुखार से पीड़ित होने की सूचना देते हैं जहाँ स्वल्प भोजन का भी वमन हो जाता है। इस बुखार से पीड़ित भिक्षु कमजोर एवं शक्तिहीन होने लगते हैं। भगवान बुद्ध का हृदय करुणा से भर जाता है वह अपने शिष्य आनन्द से बुखार का कारण पूछते हैं, आनन्द उत्तर देते हैं - 'भन्ते भिक्षुगण शरद ऋतु के बुखार से ग्रस्त हैं। उनके द्वारा ग्रहण किया गया यवागू (खिचड़ी)

भी नहीं पच रहा है।' भगवान बुद्ध एकान्त चिन्तन करते हैं और भिक्षुओं को औषधि की अनुमति के संदर्भ में विचार करते हुए उन्हें निर्देश देते हैं-

(क) पञ्च औषधि विधान

गहन चिन्तन मनन उपरान्त तथागत ने शीतकालीन व्याधियों से पीड़ित बुद्ध भिक्षुओं के लिए घृत, मक्खन, तेल, मधु, एवं खाड़ को पूर्वाह्न में सेवन की अनुमति दिया।[1]

(ख) चर्बी युक्त औषधि विधान

तथागत ने भिक्षु-भिक्षुणियों के रुग्णोपचार क्रम में मछली की चर्बी, सूअर एवं गधे की चर्बी, सोंस की चर्बी सेवन की अनुमति प्रदान किया, साथ ही सेवन का समय भी नियत किया एवं कुसमय सेवन को दोषयुक्त बताया।[2]

(ग) कषाय एवं मूल औषधि विधान

बौद्ध साहित्य तथागत द्वारा जड़ी - बूटियों के व्यवहार का अध्ययन करता है जहाँ हल्दी, अदरख, नागर मोथा, सदृश औषधियों के सेवन का विधान बताया गया है। इन जड़ी-बूटियों को खरल एवं बट्टे से कूट कर चूर्ण बना के औषधि रूप में तैयार करने का वर्णन प्राप्त होता है।[3] भगवान बुद्ध ने अपने भिक्षु-भिक्षुणियों के अस्वस्थ होने पर नीम का कषाय, परवल का कषाय एवं कड़वे फल का रस औषधि रूप में प्रयोग करने का निर्देश दिया।[4]

(घ) औषधि निर्माण उपकरण

बौद्ध साहित्य में सील्ह, लोढ़ा, खरल एवं बट्टे, ओखली एवं मूसल तथा चलनी को औषधि निर्माण के उपकरण रूप में वर्णित किया। इनके माध्यम से चूर्ण युक्त औषधियां निर्मित की जाती थीं। भगवान बुद्ध ने काली मिर्च, हरी-मिर्च, आंवला, को कूट कर चूर्ण रूप में भिक्षु-भिक्षुणियों को दैनिक व्यवहार में उपयोग का विधान बताया।[5]

(च) अन्य औषधि विधान

भगवान बुद्ध ने भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य स्वास्थोपचार के अनेक उपदेश दिये। यथा - नेत्र रोग से ग्रसित भिक्षुओं को अन्जनि प्रयोग की अनुमति प्रदान किया।[6]

इसी क्रम में अंजनदानी प्रयोग का भी निर्देश दिया जो लोहे, तांबे, शंख एवं हाथी दांत निर्मित बताये जाते हैं। प्रारम्भ में अंजनदानियां खुली वर्णित हैं। परन्तु कालान्तर में ढक्कन की भी अनुमति प्रदान की गयी।

बौद्ध साहित्य में पथ्यापथ्य सम्बन्धी नियमों के परिवर्तन एवं परिवर्द्धन की विस्तृत सूचना प्राप्त होती है। तत्कालीन श्रेष्ठ चिकित्सकों ने अनेक उपचारों का विधान बताया। बुद्ध भिक्षुओं की निःशुल्क चिकित्सा प्रचलित थी। भिक्षु-भिक्षुणियों के रोग-रहित जीवन यापन में विशाखा एवं शृंगार माता जैसी उपासिकाओं का विशेष योगदान देखा जाताहै। प्रारम्भिक पालि साहित्य 'विनयपिटक' के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि बौद्ध संघ में निर्देशों, नियमों एवं अनुज्ञाओं का व्यवहार सर्वत्र प्रचलित था। भिक्षु-भिक्षुणियों के सामान्य जीवन में स्वेच्छा चारिता पर पूर्ण नियंत्रण था।[7]

बौद्ध साहित्यों के अध्ययन अनुशीन से स्पष्ट होता है कि बहुत्र चिकित्सा एवं पथ्यापथ्य सर्वत्र प्रचलित था। अतः निश्चितत: बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियां चिकित्सा विधान एवं व्यवहार के प्रति पूर्ण सजग एवं सतर्क थे। जहाँ बौद्ध साहित्य के वर्णनानुसार चिकित्सा प्रक्रिया बौद्धिक ग्रन्थों से निष्पन्न देखा जाता है वहीं बौद्ध युग में यह पूर्णतः समृद्ध दृष्टिगत होता है।[8] मौर्य नरेश अशोक के काल में पूर्ण राजकीय संरक्षण चिकित्सा प्रविधि को प्राप्त थी, जहाँ दैनिक उपयोग के औषधियों को राजकीय देख रेख में संरक्षित किया जाता था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्ध युग में भिक्षु-भिक्षुणियों के स्वास्थ्य के प्रति पूर्ण सचेष्टता देखी जाती है जिसमें सामान्य बौद्ध भिक्षु से लेकर प्रथम पंक्ति के शिष्य आनन्द तक चिकित्सा विज्ञान के प्रति सचेष्ट देखे जाते हैं। एवं भगवान बुद्ध सदैव अपने भिक्षु - भिक्षुणियों के स्वास्थ्य को सर्वथा वरीयता प्रदान किया।

संदर्भ

1. विनयपिटक, (महावग्ग) महाबोधि ग्रन्थ माला - 3, सारनाथ वाराणसी, 1935, पृ० 215-225।
2. विनयपिटक, महावग्ग (भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा सम्पादित) नालन्दा देवनागरी, पृ० 293-95 पालि पब्लिकेशन बोर्ड बिहार - 1956।
3. अत्रिदेवविद्यालंकार, आयुर्वेद का बृहद् इतिहास ग्रन्थ माला 33, पृ० 91-110, 1960।

4. कौटिल्य अर्थशास्त्र 1.20।
5. तत्रैव।
6. तत्रैव।
7. विनयपिटक, 9.1.4।
8. कौटिल्य, अर्थशास्त्र 2.4।

31

वैदिक संस्कृति एवं बौद्ध धर्म

प्रताप विजय कुमार

छठी शदी ई० पू० में भारत में कई धार्मिक सम्प्रदाओं का उदय हुआ जिसमें बौद्ध एवं जैन प्रमुख है। ये दोनों सम्प्रदाय बौद्धिक आन्दोलन का रूप गृहण कर चुके थे। भारत में इस आन्दोलन के अनेक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कारण थे, जो तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में निहित थे जिसमें वैदिक परम्परा की धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताएँ तथा जीवन पद्धति के अनेक तत्व रूढ़ि बनकर रह गये थे। उत्तर वैदिक काल में यज्ञ की प्रधानता हों गयी थी। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि यज्ञ अग्नि के माध्यम से जंगल को जलाकर वैदिक संस्कृति में लोग प्रसार करते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों से स्पष्ट होता है कि वेदों के मन्त्र देववाक्य के रूप में स्वीकार किये जाते थे। इसलिये उनमें परिवर्तन या परिर्द्धन असंम्भव था तथा मंत्रों के उच्चारण एवं यज्ञ में त्रुटि के भयंकर परिणाम का विश्वास प्रचलित था। इस प्रकार सांस्कृतिक वातावरण में पुरोहित वर्ग को अत्याधिक महत्व मिलना स्वभाविक था जिससे कर्म-काण्ड नीरस जटिल और आडम्बरयुक्त हो गये। वैदिक संस्कृति में यज्ञों को स्वर्गं लें जाने वाली नौका के समान माना गया है और उसी माध्यम से भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धि की कल्पना की गयी है। वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत समाज का वर्गीकरण चार वर्णो में हुआ था। यद्यपि वैदिक काल में कर्म के आधार पर वर्ण निर्धारित था, किन्तु बाद में जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होने लगा।

भारत के कुछ क्षेत्रों में विकसित कृषि के बावजूद मांसाहार के लिये पशु वध होता था और बौद्धकाल की नवीन कृषि प्रणाली में कृषि कार्य के लिये

अत्याधिक पशुओं की सुरक्षा की आवश्यकता पड़नें लगी। लोग पशुओं की सुरक्षा का अनुभव करने लगे। पशु बलि चाहे वैदिक यज्ञ में हों या जनजातियों में अब इसका विरोध होने लगा, जिसका संकेत उपनिषदों में भी पशु बलि की निन्दा के रूप में द्रष्टव्य हैं तथा अहिंसा सम्बंधी उल्लेख स्मृतिग्रन्थों में भी मिलता है। यद्यपि वैदिक धर्म के विभिन्न मान्यताओं के विरोध में बौद्ध धर्म का जनम हुआ था फिर भी वह वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म का अंश था। बौद्ध धर्म में सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा सभी प्राणियों पर दया आदि जो नीति धर्म बताए गरों है वे वैदिक ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। बौद्ध धर्म के धम्मपद में उल्लिखित व्यवहार मनुस्मृति में भी दिखाई देते हैं।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय को भारत सहित एशिया के कई देशों में अत्याधिक अपनाया जिसका मुख्य कारण यह था कि उसमें वासुदेव की भक्ति का अनुकरण किया जाने लगा था। परन्तु एक समय जव वैदिक धर्म ब्राह्मण धर्म के रूप में सम्प्रदाय बन गया इस स्थिति में उनकें विरोधी के रूप में जैन एवं बौद्ध धर्म का उदय हुआ। इन दोनों धर्मो के उदय से वैदिक धर्म का ही अनेक बुराईयों का उन्मूलन हुआ। अतः स्वभाविक ही था कि वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ता। उपनिषदों के वैराग्य और निराशा की भावना को जैन धर्म ने भी अपनाया किन्तु उसको व्यवहार में आत्मसात करने और जन सामान्य तक फलानें का कार्य केवल बौद्धधर्म ने किया। इसके फलस्वरूप गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म के माध्यन को अत्यन्त सरल ढंग से समाज में मानव जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रकार के कष्टों एवं दुःखों से छुटकारा पाने के लिये वैराग्य को ही एक मात्र उपाय बताया। उन्होंने यह भी बताया कि मनुष्य का वास्तविक सुख जीवित रहने में नहीं है, बल्कि वह तो तब प्राप्त होता है जब मरने के बाद पुनः जन्म लेनें की स्थिति न आवें और जगत में जो अन्धकार है गौतम बुद्ध के इस विचार में उसे दूर करने के बाद ही सुख प्राप्त होता है। गौतम बुद्ध के इस विचार को वैदिक धर्म में भी अपनाया गया। यही नहीं बौद्ध धर्म के प्रभाव के परिणाम स्वरूप वैदिक धर्म मानने वाले समाज में आचार-विचार, खान-पान और सबसे अधिक जटिलता, कठोरता एवं छुआ-छुत की कुप्रभावों पर प्रभाव पड़ा जिससे उसमें किंचित लचिला पन आया। अहिंसा जाति पर दया और दुःखी लोगों के लिये करुणा आदि व्यवहार का

प्रचार-प्रसार समाज में तीव्रता से फैला और भारतीय समाज में धर्म के नाम पर निर्मित हुए छोटे-छोटे वर्ग बौद्ध भिक्षुओं एवं श्रमणों के उपदेश के परिणाम स्वरूप समाप्त हुए।

भारत में सर्वप्रथम मठों की स्थापना बौद्ध धर्म द्वारा ही किया गया, क्योंकि बौद्ध धर्म के पूर्व संन्यासी जंगलो में जीवन व्यतीत करते थे। बौद्ध भिक्षुओं ने चैत्यों एवं विहारों में रहना प्रारम्भ किया था, जिसे कालान्तर में शंकराचार्य द्वारा सनातन धर्म में भी स्वीकार किया गया। बौद्ध धर्म ने शिक्षा व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। बौद्ध संघ एवं विहार उच्च शिक्षा के केन्द्र होते थे, तक्षशिला, नालंदा, उदन्तपुरी, विक्रमशिला शिक्षा केन्द्रो की प्रसिद्धि भारत के बाहर अन्य देशों तक भी थी। बौद्ध शिक्षा केन्द्रों एवं उनसे सम्बद्ध विद्वानों द्वारा रचित पुस्तके भारतीय साहित्य की निधियाँ है जिनमें ललित विस्तर, मिलिन्द पञ्हों, चरित आदि उल्लेखनीय है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव परिलक्षित है, जिसमें भारत के सामाजिक सांस्कृतिक साहित्यक, शैक्षाणिक एवं कला स्थापत्य के विभिन्न पक्षों पर स्पष्ट प्रभाव द्रष्टव्य है। बौद्ध धर्म से प्रभावित होंकर कई शासकों ने स्तम्भ, स्तूप, चैत्य, लयण एवं मूर्तिया निर्मित कराया एवं अजंता एलोरा एवं बाघ की गुफाओं के चित्रों का निर्माण भी बौद्ध कथावस्तु के अनुसार किया गया। अतएव बौद्ध धर्म यद्यपि वैदिक धर्म के विरोध में अपना धार्मिक एवं वैचारिक आन्दोलन प्रारम्भ किया था, परन्तु दीर्घ अवधि तक दोनों ही एक दूसरों को प्रभावित करते रहे।

सन्दर्भ

अल्टेकर, ए०एस०, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंसिएंट इण्डिया।
बाशम०, ए०एल०, द वण्डर दैट वाज इण्डिया।
घोष, एन० एन०, प्राचीन भारत का इतिहास।
काणे, पी० पी०, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र भाग -1 एवं 3।
पाण्डेय, जी० सी०, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास।
उपाध्याय, भरत सिंह, बुद्धकालीन भारत।

32

भारतीय चिन्तन और संस्कृति को बौद्ध धर्म का योगदान

वीणा गोपाल मिश्रा

भारतीय संस्कृति की जड़ें बड़ी गहरी हैं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अपना एक स्वतंत्र एवं गौरवशाली अतीत रहा है। यूनान, मिस्त्र और रोम की अनेक समृद्धिशाली शक्तियां काल के गर्त में समां गईं परन्तु भारतीय संस्कृति अनेक विपरीत परिस्थितियों, आक्रमणों व झंझावातों को साहस के साथ झेलती हुयी आज भी मजबूती के साथ खड़ी हुयी हैं। मशहूर कवि इकबाल की प्रसिद्ध पंक्तियों का उल्लेख करना यहाँ समीचीन प्रतीत होता है कि –

यूनान, मिस्त्र, रोमां सब मिट गये जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी नामों निशां हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन इश्के जहाँ हमारा।

नित्य परिवर्तनशीलता प्रकृति का नियम है। संस्कृति भी नित्य परिवर्तनशील होते हुये अपनी निरन्तरता को बनाए रखती है और निरन्तरता बनाये रखने के लिए संस्कृति का बाह्य व आन्तरिक दोनों रूपों से सशक्त होना बहुत जरूरी है। संस्कृति की बाह्य शक्ति किसी भी समाज के रहन-सहन, सुख-समृद्धि व भौतिक उन्नति के रूप में देखी जा सकती है, परन्तु संस्कृति का आन्तरिक रूप उसकी संजीवनी शक्ति होती है। किसी भी समाज का चिन्तन व दर्शन उस समय व देश की संस्कृति का आन्तरिक रूप होता है।

संस्कृति की यही आन्तरिक शक्ति उसे बदलते हुये परिवेश व आक्रमणकारी प्रवृत्तियों का दृढ़ता पूर्वक मुकाबला करके मजबूती के साथ खड़े रहने का बल प्रदान करती है। विश्व की अनेक संस्कृतियां इसी आन्तरिक संजीवनी शक्ति के अभाव के कारण लुप्त हो गयी परन्तु भारतीय संस्कृति इक्कीसवीं सदी की वैश्विक व भूमण्डलीय ताकतों से दृढ़ता से मोर्चा लेती हुयी आज भी मजबूती के साथ डटी हुई हैं। भारतीय संस्कृति की शाश्वतता व निरन्तरता का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या हो सकता है।[1]

प्राचीन काल से ही भारत भूमि अनेक संस्कृतियों, धर्मों एवं सम्प्रदायों की क्रीड़ा स्थली रही है तथा इनकी विभिन्न प्रवृत्तियों तथा जीवन विद्याओं में संघर्ष और समन्वय के द्वारा भारतीय इतिहास, सभ्यता व भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। इस विकास में आर्य एवं आर्येत्तर सांस्कृतिक परम्पराओं का समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधारशिला सिद्ध हुई। इस बौद्धिक व आध्यात्मिक आन्दोलन की चरम परिणति हमें बौद्ध एवं जैन धर्मों के अभ्युदय - काल में दिखायी देती है।

महात्मा बुद्ध ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में एक नई धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। बौद्ध धर्म के संस्थापक व प्रवर्तक महात्मा बुद्ध एक नवीन युग के प्रणेता थे जो अपने जीवन के पैंतालीस वर्षों तक संसार से मुक्ति पाने का उपदेश देते रहे और अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे। मानव जीवन के दुःखों से कातर, जीवन की क्षण-भंगुरता से विकल और भावुक मन से सांसारिक वैभव व विलासितापूर्ण जीवन के सुखों से मुख मोड़कर परम् शान्ति की अवस्था 'निर्वाण का सन्देश देने वाले सिद्धार्थ ही जप, तप एवं कठिन साधना के बल पर ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त महात्मा बुद्ध कहलाये जाने लगे। महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म अपनी विलक्षण विशिष्टताओं के कारण केवल भारतवर्ष ही धर्म नहीं वरन् पूरे विश्व के महानतम धर्म रूप में प्रसिद्ध हो गया। बुद्ध के जीवन काल में ही मगध, कौशल, कौशाम्बी, लिच्छिवी, मल्ल तथा शाक्य गणराज्यों की जनता ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। अपने प्रादुर्भाव के कुछ ही समय में बौद्ध धर्म समस्त भारत में फैल गया था तथा बुद्ध के देहावसान के बाद यह धर्म अपनी विशिष्टताओं के कारण भारत

की सीमाओं से आगे निकलकर मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, वर्मा, थाईलैण्ड, कम्बोडिया आदि देशों तक पहुंच गया।[2] मौर्य अशोक व कनिष्क के काल में बौद्ध धर्म, राजधर्म के रूप में स्थापित हो गया। सम्राट अशोक ने इस धर्म को स्थानीय धर्म की संकीर्ण सीमाओं से बाहर निकालकर मानवता के धर्म के रूप में पूरे विश्व में स्थापित कर दिया।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में युग प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने भारतीय सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक जीवन के सभी क्षेत्रों में एक नवीन वैचारिक क्रान्ति के युग का श्रीगणेश किया। अपने उपदेशों व शिक्षाओं के माध्यम से बौद्ध धर्म में जो भी दर्शन व चिन्तन भारतीय समाज को दिया उसने भारतीय संस्कृति के लिये प्राणवायु का कार्य किया।

भारतीय संस्कृति की अद्‌भुत संजीवनी शक्ति बौद्ध धर्म की ही देन है। आध्यात्मिकता, नैतिकता, त्याग, अहिंसा, परोपकार, सेवा, संयम, शील, अनुशासन, माता-पिता का सम्मान, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, सच्चरित्रता, मन एवं वाणी पर संयम, सुख व दुःख के समभाव, समन्वादिता, उदारता, वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श जो इक्कीसवीं सदी में भारतीय सभ्यता व संस्कृति को विश्व में अतुल्य बनाये हुये है सब बौद्ध धर्म की ही देन है। स्वतना का विवेकशील चिन्तन, यथार्थवादिता कर्म में आस्था, सांसारिक तृष्णाओं से विरक्ति, बौद्धिक क्रियाशीलता, भाषा व स्वभाव की सरलता, सत्यवचन, चिन्तन की एकाग्रता, जीविकोपार्जन के नैतिक साधन, विनम्रता, मधुरता, धार्मिक सहिष्णुता भारतीय संस्कृति का आधार है।[3] इस प्रकार भारतीय संस्कृति अपनी वैशिष्टताओं एवं विश्व में एक अलग व स्वतंत्र पहचान के लिये सदैव बौद्ध धर्म की ऋणी रहेगा। भारतीय सभ्यता व संस्कृति के विविध पक्षों पर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव दिखायी देता है।

ईसा पूर्व छठी सदी की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति लोगों में तीव्र असन्तोष व घृणा व्याप्त थी। वैदिक धर्म में प्रचलित ज्ञान, अनुष्ठान, पशुबलि, धार्मिक अन्धविश्वास, निरर्थक कर्मकाण्ड, बाह्य आडम्बर, ब्राह्मणों की प्रभुता, कट्टरता आदि प्रथायें भारतीय समाज के लिये असह्य हो चुकी थी। समाज व्यवस्था का आधार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था थी। समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र आदि चार वर्णों में विभाजित था। चारों वर्णों व जातियों के लिये अलग-अलग नियम व विधि-विधान बये हुये थे। फलतः समाज में ऊंच-नीच और छुआछूत की भावना बढ़ गयी थी। सामाजिक कुप्रथायें अपने चरम पर थीं। जाति प्रथा की जटिलता से आम जन मानस बुरी तरह खिन्न था। समाज में ब्राह्मणों की प्रभुता स्थापित हो चुकी थी। धार्मिक विधियां और संस्कार इतने जटिल व खर्चीले थे कि साधारण व्यक्ति इनका सम्पादन करने का साहस ही नहीं जुटा पाता था। यज्ञ, हवन, व पूजा पाठ में ब्राह्मण पुरोहितों की अनिवार्यता, खर्चीली व व्यवसाध्य व्यवस्था से लोगों की आस्था टूट चुकी थी। पशुबलि व नरबलि के विरूद्ध आम जनता के मन में घृणा व अनासक्ति पैदा हो गयी थी। ब्राह्मण धर्म में वेदों को सर्वोपरि बताते हुए जाने लगा था कि 'वेदों में जो कुछ कहा गया है वही धर्म है उसके विरूद्ध जो कुछ भी है व अधर्म है।[6]' वेदों की सर्वोपरिता ने लोगों में विवेक, बुद्धि ज्ञान व स्वतंत्र चिन्तन की प्रवृत्ति के विकास को अवरूद्ध करने का कार्य किया। साथ ही संस्कृत भाषा साधारण मनुष्य की समझ से परे थी और सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये थे। अतः साधारण जनता एक ऐसा धर्म चाहती थी जो उनकी बोलचाल की भाषा में लिखा गया हो, जिसे वह भली-भांति समझ सके। वैदिक धर्म में मानव जीवन पर देवी-देवताओं का अधिपत्य माना गया। मनुष्य अपने जीवन की सभी गतिविधियों का केन्द्र देवी-देवताओं की आराधरा को ही समझने लगा था। अतः मनुष्य के जीवन में आत्मविश्वास, पुरुषार्थ, अस्तित्व बोध व प्रगतिशीलता का पूरी तरह लोप हो चुका था। उपरोक्त सभी कारणों से तत्कालीन भारतीय समाज के सभी लोग सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था से पूरी तरह असन्तुष्ट होकर नयी सामाजिक व्यवस्था की खोज के लिये प्रयत्नशील थे। कर्मकाण्डों, यज्ञादि अनुष्ठानों, कठोर वर्ण एवं जाति व्यवस्था, बाह्य आडम्बरों, नरबलि व पशुबलि जैसी अमानवीय प्रथाओं से त्रस्त जनता को एक सीधे-साधे सरल व नैतिक जीवन मार्ग की आवश्यकता थी और इस आवश्यकता को जैन व बौद्ध धर्म ने पूरा किया।

बौद्ध धर्म अत्यन्त ही सीधा-साधा, सरल व सुबोध धर्म था। इस धर्म को साधारण से साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता था एवं उसके

लिये इस धर्म द्वारा प्रतिपादित नियम भी अत्यन्त सरल, सुग्राह्य व अनुकरणीय थे। महात्मा बुद्ध ने अपना धर्मोपदेश जनसाधारण के बोलचाल की भाषा पाली भाषा में ही दिया। उनके धार्मिक ग्रन्थ, बौद्ध साहित्य भी पाली भाषा में लिखे गये जिससे इस धर्म की बातों को पढ़ना व समझना साधारण जन के लिये बहुत आसान हो गया था।[5] बौद्ध धर्म ने अत्यन्त सरल भाषा में जनता को सदाचार, पवित्र जीवन, नैतिकता, जनसेवा, स्वार्थ त्याग, मन-वचन-कर्म की शुद्धि तथा उच्च नैतिक आदर्शों के मार्ग को अपनाने का संदेश दिया। इस धर्म ने सत्य भाषण, आत्म संयम, अहिंसा, गुरुजनों का सम्मान, उनकी आज्ञा पालन, प्राणिमात्र के प्रति दया, निन्दा का त्याग, जीविकोपार्जन के नैतिक साधन, सत्कर्म इन्द्रिय दमन आदि गुणों को अपनाने पर जोर दिया। विश्व के प्रथम संविधान निर्माता मनु ने भी धर्म की परिभाषा करते हुये कहा है कि -

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[6]

यही धर्म का सार है और भारतीय संस्कृति का आधार भी है। बौद्ध धर्म से ही विश्व में धार्मिक उदारता, विशालता एवं विश्व बन्धुत्व की भावनाओं का प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म में धार्मिक कट्टरता व कटुता के लिये कोई स्थान नहीं था। इस धर्म ने अपने द्वारा सभी के लिये खोल दिये थे। यह स्वतंत्रता समानता के लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित जनसुलभ नैतिक धर्म को अपनाने वं उसकी स्थापना पर जोर देता है। सभी जाति व सभी वर्णों के लोग बौद्ध धर्म में उसी प्रकार आकर मिल सकते थे जिस प्रकार नदियां समुद्र में आकर मिलती हैं। बुद्ध का कथन था कि मनुष्य अपने जीवन में सत्कर्मी व सदाचारी हो उसके विचार और आचरण शुद्ध हों, काम, क्रोध, माया, मोह, राग, द्वेष और दुर्गुणों से मुक्त हो और मन वचन व कर्म से शुद्ध हो तो उसके लिये देवी-देवताओं की उपासना यज्ञादि कर्मकाण्ड, पशुबलि व नरबलि की कोई सार्थकता नहीं है। अन्तःशुद्धि और सत्कर्म से मनुष्य को सहज ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। व्यक्ति को सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति तथा सबके सुख में ही अपना सुख समझना चाहिये क्योंकि जब व्यक्ति अपने आपको सबमें और सबको अपने आप में देखने लग जायेगा तो उसके जीवन में शोक और मोह स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे। ईशोपनिषद् में कहा गया है कि -

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।[7]

(ईश० 7)

बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों, विचारों व नैतिकता की स्पष्ट छाप भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर दिखायी देती है। महात्मा बुद्ध के अहिंसा के सिद्धान्त से ब्राह्मण जनसमुदाय भी प्रभावित हुआ तथा ब्राह्मणों ने भी प्राणिमात्र व जीवों पर दया का उपदेश देना शुरू कर दिया। वैदिक धर्म में भी पशुबलि व नरबलि का प्रचलन कम होने लगा था। बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म पर मानव दयावाद का प्रभाव डाला तथा बौद्ध धर्म के ही प्रभाव स्वरूप भागवत धर्म का विकास हुआ जिसमें 'अहिंसा परमो धर्मः' के मार्ग को अपनाने पर जोर दिया गया। भारत में जो बुद्ध हुआ वह भी करूणा से ही प्रेरित होकर हुआ। जो महावीर बना वह भी अहिंसा से ही बना, बुद्ध ने ही कहा था कि हंस का शिकार करने वाले शिकारी का हंस पर कोई अधिकार नहीं है वरन् हंस को बचाने वाला ही हंस पाने का अधिकारी है। हमारे देश में तो आदि कवि की जिह्वा पर भी करूणा से ओत-प्रोत शब्द ही प्रस्फुटित हुये थे -

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः कृताः काममोहितम्।।

भारतीय संस्कृति में अहिंसा, दया, करुणा व परोपकार के मानवीय मूल्य बौद्ध धर्म की ही देन है। भारतीय संस्कृति का वैचारिक आधार यहाँ का दर्शन एवं चिन्तन रहा है, जीवन के प्रति भारतीयों की विचारधारा ही भारतीय संस्कृति में अभिव्यक्त हुयी है। मनुष्य के नैतिक आदर्शों का आधार सत्य है और सत्य का विस्तार ही कर्म है। बौद्ध धर्म कर्म प्रधान है। बुद्ध ने युक्तिपूर्वक समझाया है कि मनुष्य का यह जीवन और परलोक का जीवन उसके स्वयं के कर्मों पर अवलम्बित है। 'प्राणी कर्मस्वक है, कर्मदायक है और कर्म प्रतिशरण है।' यह भूलोक कर्मभूमि है, अतः कर्म से ही मनुष्य की पहचान होती है -

न जातु कश्चित्क्षणमपि तिष्ठत्यकर्मकृत्।

अतः कर्म के बिना कोई व्यक्ति क्षण भी नहीं रह सकता है। कर्म की व्यापकता, प्रभावशीलता व अपरिहार्यता सर्वजनसिद्ध है। मनुष्य जैसा कर्म

करता है, उसे उसका फल भोगना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने द्वारा किये गये शुभ व अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

और यदि कोई मनुष्य दुष्कर्म नहीं करता तो उसकी मृत्यु व पुनर्जन्म नहीं होता है। वह जन्म मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर निर्वाण पद को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार तेल तथा बत्ती के जलने से दीपक अपने आप ही बुझ जाता है, वह शान्त हो जाता है, उसी प्रकार वासना और अहंकार के क्षय होने से मनुष्य कर्म–बन्धनों से मुक्त हो जाता है। उसे परमशक्ति प्राप्त होती है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरेः।।

(यजुर्वेद, 40/2)[8]

अतः भारतीय संस्कृति की अमृतधारा से ओत–प्रोत मनुष्य को कर्म करते हुये सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिये क्योंकि वांछित कर्मों को करते हुये व्यक्ति कर्म में लिप्त नहीं होता। बौद्ध धर्म में निर्वाण को जीवन का परम् लक्ष्य बताया गया है। निर्वाण का अर्थ है जीवन के मोह का अन्त, कष्टों का निवारण और अनन्त शान्ति की प्राप्ति।

मानव समाज के कल्याण के लिये महात्मा बुद्ध ने पूरे समाज के लोगों को दो वर्गों में बांटा था। एक समाज का वह वर्ग था जो अपने लिये मुक्ति व शान्ति की चाह रखता था और दूसरा वह वर्ग था जो गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके सदाचारी बनकर नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहता था। प्रथम वर्ग के लिये बुद्ध ने भिक्षु धर्म का समर्थन किया है। भिक्षु धर्म में अन्तः शुद्धि प्रधान है गृहस्थ धर्म में आचार प्रधान है। प्रथम में योग व ज्ञान द्वारा निर्वाण प्राप्त करने की योजना है दूसरे में समाज में सत्य सदाचार व पवित्रता के मार्ग पर चलकर शान्ति व सुखीजीवन यापन का उपाय है। धन का लोभ न करने, किसी दूसरे प्राणी से घृणा न करने, किसी को हानि न पहुंचाने, शुद्ध और पवित्र रहने, बुरी प्रवृत्तियों से निर्लिप्त रहते हुये समस्त प्राणियों की मंगल कामना व कल्याण करते हुये शुद्ध व सात्विक जीवन व्यतीत करना ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। मनुष्य को शारीरिक व वाचिक अहिंसा के साथ–साथ

मानसिक रूप से भी अहिंसक होने का प्रयास करना चाहिये और मानसिक अहिंसा तभी आयेगी जब हम चाहें कि -

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागभवेत्।।

भारतीय संस्कृति की आदर्श प्रार्थनाएं बौद्ध धर्म द्वारा प्रतिपादित अहिंसा पर ही आधारित हैं। कल्याणकारी ज्ञान, भले-बुरे, पाप-पुण्य को पहचानने की दृष्टि, दृढ़ विचार, चारित्रिक श्रेष्ठता, सदाचार, सत्यवचन बोलना, (जिसमें विनम्रता व मधुरता हों), सत्कर्म करना, दान, दया, सत्य, सेवा, अहिंसा, चित्त भी एकाग्रता, जीविकोपार्जन के नैतिक मार्ग का अनुकरण, इन्द्रियों का संगम, बुरी भावनाओं का परित्याग, शुभ व मंगलकारी भावनाओं का विकास करते हुये मनुष्य को अपने जीवन के सभी कार्य पूरी सावधानी व विवेक के साथ करने चाहिये। महात्मा बुद्ध एक यथार्थवादी व सुधारवादी भी थे। उनका विचार था कि संसार में सर्वत्र दुःख व्याप्त है और मानव जीवन में दुःखों के कई कारण हैं - भौतिक वस्तुओं का सुख भोगने की वासना, काम तृष्णा, भव तृष्णा (जीने की तृष्णा), विभव तृष्णा (पुनर्जन्म प्राप्त करने की तृष्णा) आदि। इन दुःखों के निवारण के लिये बौद्ध धर्म में संतुलित व सरल जीवन की ओर अग्रसर करने वाले अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया है। इसमें आठ सदाचारी व नैतिक सिद्धान्तों को अपनाने पर जोर दिया गया है। वह अष्टांगिक मार्ग में अति का विरोध करते हुये भोग-विलास व कठोर तप के बीच का मार्ग बताया गया है।

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की एक विशिष्ट देन लोकतांत्रिक प्रणाली पर आधारित सामुदायिक जीवन की व्यवस्था है। बौद्ध धर्म के उदय से पहले ब्राह्मण धर्म के सन्यासी, ऋषि-मुनि आदि एकांकी जीवन व्यतीत करते थे, वनों व आश्रमों में रहते हुये आध्यात्मिक चिन्तन, मनन व धर्मोपदेश दिया करते थे। उन्हें संगठन बनाकर व्यवस्थित जीवन जीने की कला का बोध नहीं था। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्मावलम्बियों को संगठित कर उनका एक संघ बनाया तथा उन्हें अनुशासनबद्ध सामाजिक जीवन बिताने का आदेश दिया। उनके संयमी जीवन, अनुशासन व सदाचार के लिये कठोर नियम बना दिये थे

जिससे संघ का नैतिक जीवन श्रेष्ठ और आदर्श बन गया तथा उन्होंने अपने पवित्र जीवन, सेवा, त्याग व धर्मपरायणता से भारतीय जनमानस को अत्यधिक गहरायी से प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति की अद्‌भुत समन्वय, भावना बौद्ध धर्म की ही देन है। भारतीय संस्कृति की समग्रता इसी संयोजन व समन्वय के ही परिणामस्वरूप है। संघ व्यवस्था में बौद्ध धर्म के प्रचार की एक नवीन प्रणाली प्रारम्भ हुई।[9] बौद्ध संघ हेतु निर्मित विहार और मठ ज्ञान विज्ञान के केन्द्र थी। नालन्दा विक्रमशीला और उदन्तपुरी के बौद्ध विहार प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गये। वर्ण व जातिगत भेदभाव से रहित से संघ भारतीय समाज के लिये जागरूकता ज्ञान-विज्ञान के प्रसार, व शिक्षा प्राप्त करने तथा आत्मोद्धार के प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हुये। नालन्दा और विक्रमशल विश्वविद्यालय विश्व स्तर में बौद्ध शिक्षण संस्थानों के रूप में विख्यात हुये जिसमें नालन्दा विश्वविद्यालय महायान बौद्ध धर्म का केन्द्र बना तथा भारत ही नहीं वरन् विश्व में अनेक क्षेत्रों से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे। ह्वेनसांग स्वयं नालन्दा विश्वविद्यालय का छात्र रहा था और बाद में यहीं पर अध्यापन कार्य भी किया था। अनेक विदेशी शासकों जिसमें हिन्द, यवन, कुषाण एवं शंक ने इस धर्म से प्रभावित होकर इसे स्वीकार किया। हिन्द यवन शासक मेनान्डर ने इस धर्म के सम्मान में अपना नाम बदलकर 'मिलिन्द राव' रख लिया था तथा अपनी मुद्राओं पर ब्राह्मी, खरोष्ठी लिपियों को स्थान भी दिया। इस प्रकार भारतीय समाज में शिक्षा को सार्वजनिक बनाने तथा शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं को समृद्ध रूप देने में बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

बाल्यावस्था से ही महात्मा बुद्ध सहृदय, दयालु, चिन्तनशील एवं वैरागी प्रवृत्ति के थे। भोग-विलास ऐश्वर्य व राजसी ठाट-बाट से विमुख, तथा सांसारिक दुःखों से कातर महात्मा बुद्ध ने वेदों की प्रमाणिकता, यज्ञादि कर्मकाण्डों का विरोध, कर्मवाद तथा अनीश्वरवाद में जो विश्वास दिखाया उसका व्यापक प्रभाव भारतीय संस्कृति व भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर भी पड़ा। इस धर्म ने न केवल भारत में ही वरन् विश्व में राजनीतिक एकता व राष्ट्रीय भावनाओं का सुदृढ़ करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। धर्मोपदेशों में साधारण बोलचाल की भाषा के प्रयोग से राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को

काफी बल मिला। बौद्ध धर्म की सादगी, सरलता व सुग्राह्यता ने इसे शीघ्र ही लौकिक धर्म बना दिया और इसे विशाल साम्राज्यों के निर्माण की परम्परा शुरू हो गयी। अशोक, कनिष्क, हर्ष व धर्मपाल आदि शासकों ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान कर इसके सिद्धान्तों के अनुकूल शासन किया। इस धर्म की अहिंसा प्रधान नीति ने राजाओं के मन भी हिंसा व रक्तपात के विरूद्ध घृणा की भावना का संचार कर दिया तथा साम्राज्यवादी नीति का परित्याग कर तत्कालीन शासकों ने विदेशों तक शान्ति व अहिंसा का सन्देश फैलाकर इसे मानवता का विश्वव्यापी धर्म बना दिया।[10] स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त भारतीय संविधान निर्माताओं ने जातिवाद, वर्णवाद, छुआछूत का विरोध कर, कर्म प्रधान लोक कल्याणकारी मूल्यों, स्वतंत्रता, समानता, न्याय, धार्मिक सहिष्णुता व नैतिकता पर आधारित शाश्वत मूल्यों को राष्ट्रधर्म व भारतीय संस्कृति के मूलाधार के रूप में मान्यता प्रदान की। भारतीय संस्कृति में समाहित सहिष्णुता, आत्मसात् करने की शक्ति, विश्व–बन्धुत्व की भावना हमारी विदेश नीति को प्रमुख रूप से प्रभावित करती आ रही है। भारत ने कभी भी किसी राष्ट्र के विरूद्ध आक्रामक नीति अपनाने में अपनी तरफ से कोई पहल नहीं की चाहे वह युद्ध पाकिस्तान के साथ हो अथवा चीन के साथ। बौद्ध धर्म का उद्भव भारत में हुआ जो श्रीलंका, थाईलैण्ड, कोरिया एवं जापान में विशेष रूप से फैला। थाईलैण्ड में तो महाभारत पर आधारित भित्तिचित्र वहाँ के ऐतिहासिक स्थलों की दीवारों पर अंकित है। शान्ति, सह–अस्तित्व एवं सहनशीलता बौद्ध धर्म के प्रमुख तत्व हैं तथा बौद्ध धर्म के प्रमुख तत्त्व हैं तथा बौद्ध धर्म की परम्पराओं एवं चिन्तन की स्पष्ट छाप भारतीय संस्कृति एवं भारतीय विदेश नीति पर दिखायी देती हैं। पंचशील के पांच सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी भारतीय विदेशी नीति की शान्तिप्रियता का प्रतीक है। बौद्ध धर्म में आचरण के पांच सिद्धान्तों का पालन प्रत्येक व्यक्ति का धर्म समझा जाता था उसी प्रकार भारतीय विदेश नीति में आधुनिक पंचशील के सिद्धान्तों द्वारा राष्ट्रों के लिये दूसरे राष्ट्रों के साथ आचरण के व्रत का निर्धारण किया गया है। इतना ही नहीं भारत वर्ष का राष्ट्रीय चिन्ह 'अशोक लॉट' तथा तिरंगे पर चक्र दोनों बौद्ध धर्म की ही देन है। बौद्ध धर्म से प्रेरणा लेते हुये भारत की विदेश नीति विश्वशान्ति पड़ौसी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद तथा नक्सलवाद का विरोध,

निःशस्त्रीकरण, गुटनिरपेक्षता तथा पंचशील एवं शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व जैसे शाश्वत सिद्धान्तों पर आधारित है।

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की सर्वोत्कृष्ट देन कला के क्षेत्र में रही है। बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार में वास्तुकला, भवन निर्माण कला, चित्रकला और मूर्तिकला का विशेष योगदान रहा है। बौद्ध विहारों, मन्दिरों, स्तूपों, स्तम्भों, स्मारकों आदि के निर्माण व कलापूर्ण अलंकरण से स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला की नींव शैलियों से विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। मथुरा कला शैली और गान्धार-कला शैली इसके उदाहरण हैं। बौद्ध स्थापत्य कला का सौन्दर्य, सौष्ठव विश्व में अपनी अलग पहचान के लिये विख्यात है। सांची, भरहुत और नागार्जुनकोंडा के स्तूपों, अजन्ता और एलोरा की बौद्ध गुफाओं और अशोक के शिलास्तम्भों की गणना भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूनों में की जाती है। निश्चित रूप से भारतीय समाज, सभ्यता व संस्कृति कला के उत्कृष्ट नमूनों में की जाती है। निश्चित रूप से भारतीय समाज, सभ्यता व संस्कृति पर जीवन के विविध क्षेत्रों में बौद्ध धर्म में अपनी अमिट छाप छोड़ी है।[11] अपनी संस्कृति के बल पर ही आधुनिक भारत विश्व में एक अलग पहचान रखता है। भारत विश्व मंगल का देश रहा है। यहाँ की सनातन लोक कल्याण परम्परा रही है। परन्तु आज भारतीय संस्कृति के सामने 'वैश्विक ग्राम' (ळसवइंस टपससंहम) की संकल्पना की आड़ में अनेक भयंकर चुनौतियां खड़ी होती हुयी दिखायी दे रही हैं। 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' व अहिंसा के मानवधर्म से प्राणवायु ग्रहण करती भारतीय संस्कृति पर 'वैश्विक ग्राम' की आड़ में सांस्कृतिक आक्रमण होता दिखायी दे रहा है। सूचना व संचार क्रान्ति ने घर-घर में पहुंच कर भारतीय संस्कृति की रीढ़ (परिवार) को तोड़ने का घिनौना कुचक्र शुरू कर दिया है। पाश्चात्य संस्कृति, भोग-विलास सांसारिक भोगों के प्रति अन्तहीन तृष्णा, भौतिक सुखों के पीछे अन्धी दौड़ प्रतिस्पर्धा ने भारतीय संस्कृति के शाश्वत व सनातन मूल्यों को गहरा आघात पहुंचाया है। राजनैतिक पराधीनता से सांस्कृतिक पराधीनता अधिक खतरनाक होती है। अतः भारतवासियों को सांस्कृतिक पराधीनता के अभिशाप से बचने के लिये पुनः शील, संयम, उदारता, त्याग, अहिंसा, स्वतंत्रता, समानता, न्याय, धार्मिक सहिष्णुता वसुधैव कुटुम्बकम् व विश्व मंगल पर आधारित भारतीय संस्कृति

के शाश्वत जीवन मूल्यों की तरफ लौटना होगा। निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति की संजीवनी शक्ति भारतवर्ष को विश्व में आध्यात्मिक गुरु के रूप में स्थायित्व प्रदान करने में सफल होगी, क्योंकि युग पुरुष महात्मा बुद्ध के आदर्श युग युगान्तर शाश्वत व चिरन्तन रहेंगे और भारतीय संस्कृति की रंगों में प्राणवायु की तरह प्रवाहवान बने रहेंगे।

सन्दर्भ

1. डॉ० शशि प्रभा कुमार, 'भारतीय संस्कृतिः विविध आयाम' विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली।
2. डॉ० आर० एन० पाण्डेय 'प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास' प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. मोतीलाल बनारसीदास, 'इंडियन बुद्धिज्म', 1970 पृष्ठ 272।
4. वी० एन० लूनिया 'प्राचीन भारतीय संस्कृति' लक्ष्मीनारायण प्रकाशन, आगरा।
5. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,' पृ० 20-21।
6. मनुस्मृति।
7. ईषोपनिषद् (6)।
8. यजुर्वेद, 40/2।
9. दूबे सीतारामः 'बौद्ध संघ का प्रारम्भिक विकास' 1988 संघ की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि।
10. राय चौधरी, 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐशियेन्ट इण्डिया' पृ० 189-90।
11. बी० एन० लूनिया, 'प्राचीन भारतीय संस्कृति' लक्ष्मीनारायण प्रकाशन, आगरा।

33
श्रमण-परम्परा में दिशा-पूजा
एक अनुशीलन

ध्यानेन्द्र नारायण दूबे

श्रमण परम्पा की पृष्ठभूमि यद्यपि पुरा-वैदिक है तथापि भारतीय इतिहास में बौद्ध एवं जैन धर्म श्रमण-परम्परा के केन्द्र में है। दिशा-पूजन परम्परा के संदर्भ इन दोनों ही धर्मों में प्राप्त होते हैं।

1. बौद्ध धर्म में दिशा पूजा

बौद्ध ग्रन्थ 'सुत्तनिपात' की टीका महानिद्देश में दिशा-पूजा को दिशाव्रत[1] एवं दिशा पूजकों को दिशाव्रतिक[2] कहा गया है। महानिद्देश में दिशाव्रतिकों का उल्लेख अन्यान्य व्रतिकों के साथ हुआ है।[3] इन व्रतिकों के सन्दर्भ में यह उल्लेख हुआ है कि वे व्रतिक क्रमशः अपने अपने व्रतों के द्वारा शुद्धि एवं मुक्ति की प्राप्ति करते हैं।

बौद्ध-ग्रन्थ दीघ-निकाय के सिगालोवाद-सुत्त[4] में दिशा-पूजा के बारे में अधिक स्पष्ट सूचना प्राप्त होती है। इस सुत्त में यह उल्लेख है कि राजगृह निवासी सिगाल नामक एक गृहस्थ-पुत्र प्रातः काल उठकर राजगृह से निकलकर गीले वस्त्रों एवं गीले केशों सहित हाथ जोड़कर क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर तथा नीचे सभी दिशाओं को नमस्कार करता था। उसी समय जब भगवान बुद्ध ने भिक्षाटन के लिए राजगृह में प्रवेश किया तब उन्होंने सिगाल को उपर्युक्त विधि से दिशाओं को नमस्कार करते देखा। भगवान बुद्ध ने यह पूछा कि तुम सवेरे उठकर दिशाओं को क्यों नमस्कार कर रहा है। गृहस्थ-पुत्र ने उत्तर दिया कि उसके पिता ने मृत्यु के समय उसे यह शिक्षा दी थी कि वह

दिशाओं को नमस्कार किया करे। अतएव वह अपने पिता की शिक्षा को पूज्य समझकर उपर्युक्त विधि से दिशाओं को नमस्कार करता है। भगवान बुद्ध ने उसे यह उपदेश दिया कि आर्य धर्म में दिशाओं को इस प्रकार नमस्कार नहीं किया जाता। भगवान बुद्ध ने उसे यह बताया कि माता-पिता को पूर्व दिशा, गुरु को दक्षिण दिशा, स्त्री-पुत्रों को पश्चिम दिशा, मित्रों को उत्तर दिशा, दास एवं भृत्यों को नीचे की दिशा तथा श्रमण एवं ब्राह्मणों को उर्ध्व दिशा के समान समझना चाहिये। इनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने वाला ही दिशाओं के नमस्कार का फल पाता है। यह उल्लेख हुआ है कि सिगाल गौतम बुद्ध की शिक्षा से अभिभूत होकर बौद्ध धर्म अंगीकार कर लेता है।

उपर्युक्त साक्ष्य से बौद्ध धर्म में दिशा पूजा के विधि-विधानों का बोध होता है। इस साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि दिशा व्रतिक प्रातः काल स्नान कर पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर दक्षिणावर्त में दिशाओं को नमस्कार करते थे। स्पष्ट है कि दिशा-पूजा के विधि-विधान वैदिक धर्म के याज्ञिक विधानों से पूर्णतया भिन्न एवं अति सरल थे।

गौतम बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सिगाल नामक दिशा-वृत्तिक[5] का अपना दिशा-धर्म छोड़कर बौद्ध-धर्म स्वीकार कर यह सूचित करता है कि बौद्ध धर्म जैसे बृहत् धर्मों के अभ्युदय एवं उनके प्रसार ने दिशा धर्म जैसे लोक धर्म के अस्तित्व को किस प्रकार संकटापन्न एवं प्रभावित किया है।

बौद्ध साहित्य में दिशा पूजा सम्बन्धी विपुल सूचनाएं उपलब्ध हैं। बौद्ध परम्परा में भी दिशाओं के रक्षक देवताओं की कल्पना हुई है। चारों दिशाओं के रक्षक इन देवताओं को बौद्ध साहित्य में चतुर्महाराजिक देव या चत्तारों महाराजानों[6] कहा गया है। ये चतुर्महाराजिक देव चार प्रकार के लौकिक देवताओं गन्धर्व, कूष्माड, नाग एवं यक्षों के अधिपति (महाराज) हैं, इसीलिए इन्हें सम्मिलित रूप से चतुर्महाराजिक देव कहा गया है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशा के क्रमशः गन्धर्व राज धृतराष्ट्र, कुष्माड राज विरूटक, नागराजविरूपाक्ष एवं यज्ञराज वैश्रवण (कुबेर) रक्षक देव हैं।[7] नागों को पश्चिम दिशा से सम्बद्ध करने की परम्परा का मूल वैदिक धर्म में निहित है। शतपथ ब्राह्मण[8] में नागलोक को पश्चिम दिशा में स्थित बताया गया है। चारों

दिशाओं से उपर्युक्त चार प्रकार के लौकिक-देवताओं को सम्बन्धित करने की क्रिया दिशा-धर्म में उपर्युक्त चार लौकिक धर्मों के विलय को इंगित करती है। बौद्ध धर्म में चातुर्महाराजिक देवों की कल्पना इस युग में दिशा धर्म एवं अन्य चार लौकिक धर्मों के विलय का प्रतिफल है।

बौद्ध साहित्य में इन चातुर्महाराजिक देवों की विशेषताओं का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। दीघ-निकाय में यह वर्णन प्राप्त होता है कि चतुर्महाराजिक देव बोधिसत्व की रक्षा उनके जन्म के समय से ही करते हैं।[9] आटानाटिय-सुत्त[10] के अनुसार चतुर्महाराजिक देव न केवल गौतम बुद्ध की अपितु उनके अनुयायियों की भी रक्षा करते हैं। दीघ-निकाय अट्ठकथा[11] में वर्णन हुआ है कि चतुर्महाराजिक देव दीर्घायु, सुन्दर तथा सुख सम्पन्न होते हैं। मज्झिम निकाय[12] में यह कहा गया है कि जो भिक्षु प्रज्ञावान होता है, वह चतुर्महाराजिक देव के लोक में जन्म लेने की कल्पना करता है। अंगुत्तर निकाय[13] के अनुसार दया आदि अच्छे गुणों से युक्त लोग चतुर्महाराजिक देव-लोक में जन्म लेते हैं।

चतुर्महाराजिक देवों की कल्पना को बौद्ध कला (स्तूप-स्थापत्य) में भी अभिव्यक्ति प्रदान किया गया है। बौद्ध कला में स्तूप के चतुर्दिक वेदिका निर्मित की जाती थी तथा इस वेदिका में चारों दिशाओं में चार द्वार बनाए गये थे, जिन्हें तोरण द्वार कहा गया है। प्रत्येक दिशा के तोरण द्वार पर उस दिशा के महाराजिक देव का अंकन किया जाता था। उदाहरणार्थ, सांची एवं भरहुत[14-15] स्तूप के तोरण द्वारों पर इन चतुर्महाराजिक देवों का अंकन हुआ है। वासुदेव शरण अग्रवाल[16] के अनुसार चतुर्महाराजिक देवों की पूजा लौकिक विधि से की जाती थी। डॉ० अग्रवाल का उपर्युक्त मत समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि चारों महाराजिक देव लौकिक देवता ही हैं। अतः लौकिक विधि से इनकी पूजा होना नितान्त स्वाभाविक है।

बौद्ध धर्म में दिशाओं से देवताओं को सम्बन्धित करने के साथ-साथ दिशाओं से पशुओं को सम्बन्धित करने की परम्परा भी प्रचलित थी। बौद्ध धर्म में अनवतप्त सरोवर की कल्पना है। इसके चार द्वार बताए गए हैं, जिनपर चार रक्षक पशुओं यथा पूर्व में हाथी, दक्षिण में अश्व, पश्चिम में वृषभ एवं उत्तर में सिंह के स्थिति होने की मान्यता थी।[17] दिशाओं से पशुओं को सम्बन्धित

करने की परम्परा हमें हड़प्पा काल से ही प्राप्त होने लगती है। यह परम्परा ऐतिहासिक काल में भी विद्यमान रही।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म में दिशाओं को वह स्थान नहीं प्रदान किया गया है जो यक्ष, नाग, कुष्माण्ड एवं गन्धर्व आदि लौकिक देवताओं को प्राप्त है। ध्यातव्य है कि चतुर्महाराजिक देवों की परिकल्पना में दिशाएं पृष्ठभूमि में चली गई हैं, जबकि उपर्युक्त अन्य लौकिक देवताओं को समान धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है। यक्ष, नाग, कुष्माण्ड एवं गन्धर्व आदि लोक धर्म मूर्ति-पूजक थे, क्योंकि इनको मूर्तिमान परिकल्पतः किया जाता था। बौद्ध धर्म भी मूर्तिपूजक था। सम्भवतः इसलिए इन मूर्तिमान लौकिक धर्मों को बौद्ध धर्म में दिशा-पूजा की तुलना में अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। दिशा-पूजा मूर्तिपूजक नहीं थी, क्योंकि दिशाएं अमूर्तरूप में परिकल्पित हैं। सम्भवतः इसलिए उसे बौद्ध धर्म में उपर्युक्त मूर्तिपूजक लौकिक धर्मों की तुलना में कम महत्व प्रदान किया गया है।

2. जैन धर्म में दिशा-पूजा

दिशा-पूजा ने अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म को भी प्रभावित किया है। जैन साहित्य में दिशा पूजा सम्बन्धी विपुल सामग्री प्राप्त होती है। जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र[18] में दिशा पूजकों के लिए दिशापोख्खीया शब्द आया है। इस ग्रन्थ[19] में यह उल्लेख हुआ है कि हस्तिनापुर में गंगा नदी के तट पर निवास करने वाले एक संन्यासी ने दिशापोख्यीय व्रत लिया। इस व्रत में उसने तीन दिन के अन्तर्गत केवल एक बार भोजन ग्रहण किया। तीन दिन में केवल बार भोजनग्रहण करने के व्रत को 'छट्ठ' व्रत कहा गया है। उपवास की समाप्ति पर उसने सर्वप्रथम पूर्व दिशा में जल छिड़का तथा सूर्य देवता की पूजा की। सूर्य देवता की पूजा के पश्चात् उसने फल, फूल, एवं कन्द इत्यादि भोज्य पदार्थों का संग्रह किया और अपने आश्रम में आकर विश्राम किया। इसके पश्चात् गंगा में स्नान कर उसने बालू की वेदी निर्मित की तथा अग्नि प्रज्जवलित कर उसमें मधु एवं घृत की आहुति दी। देवों की हवि प्रदान कर उसने स्वयं भोजन ग्रहण किया। इसी प्रकार से तीन अन्य छट्ठ व्रतों को रखकर उसने दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में क्रमशः यम, वरुण एवं वैश्रमण की पूजा की।

निरयावली सूत्र[20] में वाराणसी में निवास करने वाले सोमिल नामक एक दिशापोक्खी का उल्लेख हुआ है। इस सोमिल ने भी उपर्युक्त विधि से दिशाओं का पूजा की थी।

द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त साक्ष्यों में वर्णित दिशा पूजा सम्बन्धी विधि-विधान बौद्ध ग्रन्थ दीघ-निकाय के सिगालोवाद सुत्त के विधि-विधानों की अपेक्षाकृत अधिक जटिल हैं।

उपर्युक्त वर्णित साक्ष्यों से दिशा पूजा पर वैदिक एवं लौकिक धर्मों का प्रभाव परिलक्षित होता है। भगवती सूत्र एवं निरयावली सूत्र में वर्णित दिशा-पूजकों द्वारा दिशाओं की पूजा के अतिरिक्त पूर्व में सूर्य, दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण तथा विश्वेदेवों की पूजा दिशा-पूजा पर वैदिक धर्म के प्रभाव को अभिव्यंजित करती है। दिशा पूजकों द्वारा वेदी का निर्माण तथा उस वेदी पर अग्नि प्रज्जवलित कर घृत एवं मधु की आहुति देना दिशा पूजा पर याज्ञिक विधि-विधानों के प्रभाव का परिणाम है। वैश्रवण (कुबेर) की उत्तर दिशा में पूजा दिशा-पूजा पर यक्ष-पूजा के प्रभा का प्रतिफल है।

दिशाओं से देवताओं को सम्बन्धित करने की परम्परा जैन धर्म में प्रचलित थी। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इन्द्र, अग्नि, यम, नैश्रत, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा तथा नाग को क्रमशः पूर्व, दक्षिण-पूर्व, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम, उत्तर-पश्चिम, उत्तर, उत्तर-पूर्व, तथा ध्रुव दिशा का दिक्पाल माना गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में केवल आठ की ही परिकल्पना है।

आचारंग सूत्र[21] में यह यह आख्यान प्राप्त होता है कि भगवान महावीर के परिनिर्वाण के समय उनकी पालकी को पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर दिशाओं की ओर से क्रमशः सुर, असुर, गरुड़ तथा नागों ने ढोया था। संभव है कि ये चारों देवगण भी जैन में दिक्पाल के रूप में मान्य रहे हों।

दिशा पूजा के प्रमाण हमें कालान्तर में भी प्राप्त होते हैं। पूर्व मध्यकालीन ग्रन्थों[22] में आशा दशमी नामक एक व्रत का उल्लेख हुआ है। इस सन्दर्भ में यह विधान प्राप्त होता है कि इस व्रत में किसी महिने की शुक्ल दशमी को दसों

दिशाओं की पूजा अपने आंगन में करनी चाहिये एवं इस व्रत का पालन छः मास, एवं वर्ष या दो वर्ष तक करना चाहिये।

पूराणों[23] तथा अन्य पूर्व मध्यकालीन ग्रन्थों[24] से यह विदित होता है कि दिशा-पूजा आशा दशमी व्रत के साथ ही साथ विश्व व्रत के रूप में भी की जाती थी। इसव्रत के संदर्भ में यह विधान है कि इसे प्रत्येक मास की दशमी - तिथि पर एक भक्त एवं तिथि व्रत होकर वर्ष पर्यन्त करना चाहिये तथा व्रत के समापन पर दस गायों एवं दस दिशाओं की स्वर्णिम या रजत प्रतिमाओं का एक दोना तिल के साथ दान करना चाहिये। इस व्रत के बारे में यह मान्यता थी कि पालन कर्ता के सभी पाप कट जाते हैं तथा वह सम्राट हो जाता है।

उपर्युक्त व्रत में दस दिशाओं एवं दस गायों की स्वर्णिम या रजत प्रतिमाओं का दान महत्वपूर्ण है। यह दिशा पूजा एवं गो पूजा के परस्पर समन्वय को इंगित करता है। दिशाओं तथा गायों के परस्पर सम्बन्ध का उल्लेख संकेत करता है कि वैदिक काल में ही दोनों पूजा सम्प्रदायों का समन्वय हो चुका था।[25] दिशाओं की प्रतिमाओं का निर्माण भी यहाँ कम महत्वपूण्र नहीं है। ज्ञातव्य है कि पहले दिशाएं अमूर्त रूप में पूजित होती थीं। कालान्तर में दिशाओं की प्रतिमाओं का निर्माण अन्य मूर्तिपूजक सम्प्रदायों की पूजा - परम्पराओं से प्रभावित प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिशा-पूजा कि अनेक लौकिक एवं बृहद्धर्मों ब्राह्मण बौद्ध एवं जैन धर्मों के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया होती रही, जिसके फलस्वरूप एक तरफ जहाँ बृहद्धर्मों का दिशा पूजा पर प्रभाव पड़ा वहीं दिशा -पूजा ने उन धर्मों को भी प्रभावित किया।

संदर्भ

1. सुत्तनिपात, महानिद्देशपालिः 1.13.133।
2. सुत्तनिपात, 1.4.25।
3. तत्रैव, 1.4.25।
4. दीघनिकाय, सिगालोवाद- सुत्त 39।
5. दिव्यादानः पृ० 52, 135।
6. दीघनिकाय, 2/207/3/194 दिव्यावदानः पृ० 135।

7. दीघनिकाय, 2/202, 3/194।
8. शतपथ ब्राह्मण, 3.1.17।
9. दीघनिकाय, 2/257।
10. दीघनिका, अट्ठ कथा, 2/146/3/94।
11. मज्झिमनिकाय, संख्याल्प्पतिसुत्त, 3.2.10।
12. तत्रैव।
13. अंगुत्तरनिकाय, 4/60।
14. अग्रवाल, वासुदेवशरण, इण्डियनआर्ट, पृ० 153।
15. अग्रवाल, वासुदेवशरण, ऐसिएण्ट इण्डियन फोककल्ट्स, पृ० 172।
16. संयुक्तनिकाय, अट्ठ कथा, 2/438, उदान अट्ठकथा, 301।
17. भगवती सूत्र, 11.9।
18. तत्रैव, 11.9।
19. निरयावली सूत्र, 3, द्रष्टव्यजैन, जगदीशचन्द्र, लाइफ इन जैन, केनन्स, पृ० 204।
20. आचारांगसूत्र 2/15, सेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, भाग - 22, पृ० 198।
21. हेमाद्रि व्रतकाण्ड, 1/977-981, व्रत रत्नाकरः 356-57।
22. मत्स्य पुराण, 101/83।
23. कृत्यकल्पतरू, 451, हेमाद्रि व्रत खण्ड 1/983।
24. द्रष्टव्य, प्रस्तुत शोध प्रबन्ध।

34

बौद्ध दर्शन में कर्म : एक अध्ययन

विजय कुमार

कर्म शब्द संस्कृत भाषा के कृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है करना। व्यक्ति किसी कर्म को करता है तथा उसके बदले में कर्मफल को प्राप्त करता है एवं वही कर्म फल व्यक्ति को अन्तिम कार्यों के लिए प्रवृत्त करता है। इस प्रकार कर्म के फल तथा फल से कर्म का चक्र चलता रहता है। आदिकाल से जीवन की धारा इसी क्रम में प्रवाहित हो रही है। इसी को कर्म चक्र भी कहते हैं। कर्म फल का त्याग क्लेशों से मुक्त कर देता है। बौद्ध धर्म में भी कर्म व्यक्ति के कायिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार को कर्म की संज्ञा प्रदान की गयी है।[1] भगवान बुद्ध का विचार था कि चेतना ही भिक्षुओं का कर्म है। चेतना के द्वारा कर्म, काया, वाणी या मन से कर्म करता है। बौद्ध दर्शन की यह मान्यता है कि चेतना के होने पर कायिक, मानसिक, वाचिक, किसी भी प्रकार का व्यापार कर्म है। अत: चेतना को ही कर्म मानना युक्तिसंगत है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म दर्शन में व्यक्ति के कायिक मानसिक एवं वाचिक व्यापार में चेतना को प्रधानता प्रदान किया गया है। बौद्ध धर्म को चेतना का परमार्थ कर्म के अन्य पक्षों पर प्रकाश डालता है। इसमें चेतना शब्द पर अधिक बल देने का मुख्य कारण यह है कि किसी भी प्रकार के व्यापार में चेतना का होना परम आवश्यक है।

बौद्ध धर्म दर्शन में बन्धन का कारण केवल चैतसिक होता है। बौद्ध धर्म में अविद्या, वासना, तृष्णा, आसक्ति आदि चैतसिक तत्त्वों को बन्धन का कारण बताया गया है।[2] आग्रव को बन्धन का कारण बताया गया है। बौद्ध दर्शन में आग्रव तीन प्रकार के बताये गये हैं- भव, विद्या तथा काम। भगवान

बुद्ध कर्म का अर्थ चेतना से लगाते हैं। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा कि शरीर, वाणी, मन से चेतनापूर्वक कार्य करना चेतना तथा चैतायित्वा को कर्म कहा है। नागार्जुन महोदय ने भी माध्यमक शास्त्र में चेतना एवं चेतायित्वा को कर्म माना है।[3] भगवान बुद्ध कर्म का सार मानसिक संकल्प अथवा कार्य करने का मानसिक निर्णय मानते थे। जिसे चेतना कहा जाता था। भिक्षुओं वह चेतना को कर्म कहते हैं, चेतनापूर्वक किये गये कर्म को कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म कहा जाता है।

प्राचीन बौद्ध सन्दर्भों में कर्म को किसी अनुवर्त मानकता का धर्म नहीं माना गया है। संयुक्त निकाय के ये वाक्य इस बात के लिए स्मरणीय हैं- कर्म अनात्मकत्व है, न यह तुम्हारा है, न औरों का है, केवल पुराना कर्म है, जीव और शरीर को एक मानने से ब्रह्मचर्यवास नहीं होता, न भिन्न मानने से, यह अनापकृत और न परकृत[4] हेतु के सहारे उत्पन्न हुआ है, हेतु न रहने पर निरुद्ध हो जायेगा।

सर्वप्रथम बुद्ध ने नैतिक कार्यों पर बल दिया। मनुष्य के पाप-पुण्य उसके अच्छे कर्म या बुरे कर्मों पर आधारित होता है। लेकिन प्रत्येक कार्य तृष्णा के फलस्वरूप ही होता है। भगवान बुद्ध इच्छा द्वारा किये गये कर्म को ही फलदायक मानते हैं। बिना इच्छा के किया गया कर्म का दण्ड या पुरस्कार नहीं मिलेगा। बौद्ध दर्शनिक तृष्णा से किये गये कार्य को ही फलप्रदान करने वाला कर्म मानते हैं। मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है उसका दण्ड या पुरस्कार उसके अधिकार में नहीं है। बुद्ध का विचार था कि "चेतनम् भिक्खवे, कम्मम् बदामि, चेतयित्वा करोति काया वाक्या मनसा" अर्थात् चेतना कर्म है, चेतना से युक्त कार्य, वाक् और मानसिक कर्म ही कर्म है। बौद्ध दर्शन में मनुष्य के द्वारा किया तृष्णा से युक्त कार्य की मान्य है। इस कर्म का दण्ड या पुरस्कार हो सकता है। बौद्ध दर्शन में तृष्णा मानव जीवन के अत्थान व पतन के लिए उत्तरदायी माना गया है। जीवन में तृष्णा का होना भी आवश्यक माना गया है क्योंकि मनुष्य बिना तृष्णा के कोई कर्म नहीं करता है। मानसिक कार्य का फल अच्छा बुरा जो भी हो, उस जीव को भोगना पड़ता है जैसे रथ खींचने वाले सारथि का अनुसरण रथ का पहिया करता है। पाप-पुण्य सब चित्त के

अधीन होता है। अच्छा या बुरा कर्म मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित किया जाता है। बौद्ध दर्शन में नैतिक या अनैतिक चेतना की कर्म है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म कार्य की उत्पत्ति तृष्णा से होती है, जिसका सम्बन्ध इच्छा तथा वासना से है। इस प्रकार जब तृष्णा के द्वारा कार्यों का जन्म होता है, तब तृष्णा से उत्पन्न कर्म वासनाहीन होती है। इसको तृष्णा निरोध के माध्यमय से समाप्त किया जा सकता है। बुद्ध का विचार था कि 'मूर्ख बड़ा या छोटा, विलासिता, ईर्ष्या से युक्त कर्म करते हैं और इन कार्यों के करने का कोई दूसरा कारण नहीं है। बुद्धिमान भिक्षु विलासिता और घृणा से मुक्त ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण मार्ग के तरफ ले जाने वाले साधनों का अनुमगन करता है।'[5]

मिलिन्दपन्ह[6] में नागसेन का कथन है- कौन मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं लेता? पुन: कहते हैं कि वासना से युक्त कर्मों को करने वाला पुनर्जन्मों से मुक्त नहीं होता है। वासना को अन्त कर किया गया कार्य पुनर्जन्म अधिकारी नहीं होता। पुन: नागसेन कहते हैं- जब हम तृष्णा के अस्तित्व में मरते हैं तो जन्म लेते हैं, लेकिन जब तृष्णा से मुक्त होकर मरते हैं तो पुनर्जन्म नहीं होता। इन्होंने कर्म को तृष्णा के द्वारा नियमित माना है। इसी कारण बुद्ध ने अनुदेशित किया कि इच्छा ही जीवन में कार्यों को करने की शक्ति या उत्साह प्रदान करती है। कोई भी व्यक्ति तृष्णा का अन्त कर निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

अविद्या ही कर्म का मूल कारण है। कर्म की संस्कारोत्पत्ति एवं संस्कार इच्छाओं का हेतु है। इच्छा ही जीवन का साधन है। इन्हीं के वशीभूत मनुष्य क्रियाओं में संलग्न रहता है जो भवचक्र में फँसा रहता है। सम्पूर्ण कर्म अज्ञात व मूक है। बौद्ध धर्म दर्शन में कर्म अनादि, लौकिक प्रपंच जाल का हेतु माना गया है। जीव, लोक और जगत के फल कर्म जनित हैं ईश्वर कृत नहीं। एक भव के कर्म दूसरे भव के हेतु होते हैं। प्रत्येक भव में पृथक-पृथक संस्कार अविद्या से उद्‌भुत होते हैं। उपादान कर्म का हेतु है। उपादान अविद्या से उद्‌भुत होते हैं। उपादान से भव उत्पन्न होता है एवं भव जाति का कारण है। अत: कर्मों की महत्ता बौद्ध दर्शन में है। यह कर्म का सिद्धान्त आचार प्रधान सिद्धान्त के रूप में बौद्ध दर्शन को द्विगुणित करता है। बौद्ध दर्शन में प्रमाद को बन्धन का कारण माना गया है। चेतना शब्द का प्रयोग इस सक्रिया तत्व के रूप में प्रमुख कारण है। मिलिन्दपन्ह के उक्त उल्लेख से कर्मों के बन्धन के चैतसिक एवं

भौतिक दोनों की पक्षों का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। जहाँ कहा गया है कि नाम चेतना पक्ष और रूप भौतिक पक्ष अन्योन्याश्रय भव से सम्बद्ध है। बौद्ध दर्शन में द्वेष, लोभ, और मोह को कर्मोत्पत्ति का मुख्य कारक माना गया है।

बौद्ध दर्शन में कर्म फल को स्वीकार किया गया है। कर्मफल के कारण ही मनुष्य का जन्म होता है। कर्मो के भेद के कारण ही मनुष्य समान नहीं होते। कुछ सुखी तथा कुछ दुःखी होते हैं तो कुछ स्वस्थ होते है कुछ रुग्ण। कर्मों के विना मानव जीवन नहीं रह सकता। इसके साथ ही विना कर्मों के त्याग के मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्ति नहीं पा सकता है। संसार-सागर को पार कर निःस्वार्थ भावना से कुशलता के साथ रहना पड़ता है। उस पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए कर्म के नियम तथा हमारे जीवन में पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन परमआवश्यक है। कर्म जगत के पुण्य-पाप का अभिव्यक्तिकरण है। मानव में प्रतिबिम्बित यह ब्राह्माण्ड का नियम है। यह एक सार्वभौम सत्य है। प्रत्येक क्रिया भी एक प्रतिक्रिया होती है और अन्ततः प्रत्येक कर्मिक तथ्य अपने मूल को लौट जाता है। जल्दी या देर में प्रत्येक कर्म का फल निकल कर ही रहता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होकर रहती है।

कर्म का सिद्धान्त हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि जीवन की कोई भी घटना सहसा बिना कारण के नहीं घटती, यह एक भाग्यवादी भावना है क्योंकि कर्मवाद के अनुसार हमारे जीवन की प्रत्येक घटनायें हमारे पूर्वकाल की इच्छा एवं क्रियाओं के परिणाम हैं तथा वे व्यक्ति के अनुभवों एवं पूर्णता के लिए एक अनिवार्य तथ्य है। वर्तमान की प्रत्येक घटनायें भूतकालिक कर्म की पूर्णता का परिचायकि है। इसी प्रकार भविष्य की घटनायें वर्तमान के परिणाम हैं। पूर्वकालीन कार्य के बिना भोगे समाप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वर्तमान के आधार पर भविष्य का निर्धारण किया जा सकता है। जिसके द्वारा वह आत्मशक्ति का विश्वास करता हुआ कर्मबन्धन से मुक्ति कर्मयोग के लक्ष्य प्राप्त करता है। बौद्ध दर्शन में जन्म-मृत्यु का अन्त निर्वाण से ही प्राप्त हो सकता है। थेरवाद की शिक्षा है- सब पापों से दूर रहो, कुशल कर्मों को करो और चित्त को विशुद्ध करो।[8]

दुःख एवं विषमता पूर्व जन्मों के नेमी कारण हैं। अहिंसा, ईर्ष्या, अज्ञानता जीवन को कम करती है या बढ़ाती है। अच्छा स्वास्थ्य या खराब स्वास्थ्य

अच्छी दृष्टि या कुदृष्टि, दरिद्रता, गुण या अवगुण से उच्च या निम्न परिवार में जन्म लेता है। मानव का कार्य उसकी स्थिति पूर्वजों से है। परिवार के नेक दया दृष्टि एवं उसके सेवा आदि सब कर्मों की देन हैं। यह उनके कर्म ही हैं, जो उन्हें उच्च या निम्न परिवार में जन्म देते हैं। मानव असामानता का कारण कर्म को ही बताया गया है। यह विभिन्न कर्म हैं, जिससे सभी लोग एक जैसे नहीं हैं, कुछ छोटे, कुछ लम्बे, कुछ स्वस्थ्य, कुछ बीमार, कुछ सुन्दर, कुछ भद्दे, कुछ शक्तिशाली, कुछ गरीब, कुछ धनी, कुछ उच्च स्तर, कुछ निम्न स्तर, कुछ बुद्धिमान, कुछ मूर्ख होते हैं।[9] कर्म स्थिति पूर्वजों से प्राप्त और मानव के अन्तर्सम्बन्ध हैं। जैवीय विभिन्नता के कारण मानव के उपरी दिखावा, क्षमता अनुवांशिकी की वजह से विभिन्नता, सामाजिक अर्थात् उच्च या निम्न जाति में आर्थिक स्तर का आधार और कर्म से भाग्य और फल की सफलता का समाधान है। संसार में विभिन्नता का जन्म कर्म से है। जहाँ पर पूर्व जन्म में कीटाणु, पशु, पक्षी, आदमी, विभिन्न का अस्तित्व पाते है। बौद्ध दर्शन कर्म, जीवन और समाज के गहन समस्याओं को समझने व समाधान करने का मार्ग प्रदान किया है।

सन्दर्भ

1. आचार्य नरेन्द्र देव बौध धर्म दर्शन पृ० 287।
2. उपरोक्त पृ० 245।
3. पी० एल० वैद्य० माध्यमक शास्त्र भाग-17 पृ० 2-3।
4. बी ट्रेकनर, अगुत्तर निकाप, वाल्यूम दो पृ० 157-158।
5. उपरोक्त, वाल्यूम प्रथम पृ० 136।
6. द्वारिकादास शास्त्री, मिलिन्द पन्ह पृ० 32।
7. द्वारिकादास शास्त्री, विसुद्धिमग्ग भाग-2 पृ० 205।
8. प्रज्ञानन्द स्थाविर, धम्मपद पृ० 183।
9. बी० ट्रेकनर मज्झिम निकाय-वाल्यूम-तीन पृ० 202-206।

35

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन धर्म का प्रभाव

रेखा चतुर्वेदी एवं प्रमोद कुमार त्रिपाठी

भारतीय संस्कृति एक ऐसी सतत् प्रवाहमान धारा है, जिसमें अनेक संस्कृतियों, धार्मिक, मान्यताओं, कला परम्पराओं के तत्त्व समाहित हैं। साथ ही भारतीय संस्कृति के तत्त्व भी अनेक धार्मिक परम्पराओं एवं मान्यताओं को प्रभावित करते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में भारतीय संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव पर एक दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। शोधात्मक अन्वेषणात्मक गवेषणा में यह दृष्टिगत होता है कि जैन धर्म के नियतिवाद ने भारतीय संस्कृति पर एक गहरी छाप छोड़ी है। साथ ही जैन धर्म के मोक्ष के सिद्धान्त ने भी भारतीय धर्म एवं संस्कृति को काफी हद तक प्रभावित किया है। जैन धर्म के नियतिवादी की अवधारणा एक ऐसी अवधारणा है जिसके अनुसार इस चराचर जगत में जो भी घटनायें प्रघटनायें घटित हाती हैं, वह पूर्व निर्धारित होती हैं। भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार इसके पूर्व निर्धारण की दो स्थितियाँ हैं, जिसमें प्रथमतः दैवीय नियतिवाद है, जिसके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी कुछ घटित होता है वह देवशक्ति के द्वारा निर्धारित होता है, नियन्त्रित होता है, संचालित होता है। इस मान्यता के अनुसार मानव इस शक्ति के समक्ष एक निरीह प्राणी है जो दैवीय शक्ति द्वारा निर्धारित अपने भाग्य को नियति के रूप में स्वीकार करता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मानव कर्मरहित हो। जैन धर्म ने कर्म के महत्ता को स्वीकार करते हुए दैवीय स्थिति को स्वीकार करने पर बल दिया है। भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण परम्परा भी इसी प्रकार का

दृष्टिकोण रखती है। कतिपय विद्वान जैन धर्म के नियतिवाद को आर्थिक महलू से जोड़कर देखते हैं, उनकी स्वीकारोक्ति कि वर्तमान में मानव जीवन की सम्पूर्ण गतिविधियों का संचालन आर्थिक शक्तियों के सापेक्ष होता है। जिसे आर्थिक नियतिवाद कहा जा सकता है। यह बिन्दु यहाँ विचारणीय नहीं है।

भारतीय संस्कृति की नियतिवाद की दूसरी अवधारण कर्म पर अवलम्बित है जो मूलत: जैन एवं बौद्ध परम्परा की देन है। उल्लेखनीय है कि बौद्ध एवं जैन दोनों परम्पराओं में कर्म को मानव जीवन के दशा निर्धारण का एक मात्र कारक माना गया है। कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए जैन धर्म जीव के समस्त स्थितियों का निर्धारण उसके द्वारा मन, वाणी एवं शरीरिक स्तर पर किये गये कर्मों को आधार मान कर करता है। आचारांग सूत्र में उसे ही वीर एवं प्रशंसनीय कहा गया है जो कर्मबद्ध आत्मा को मुक्त कर लेता है।[1] कर्म बन्धन से मुक्त होना जीव के हाथ में है।[2] जैनियों का आजीवक मत नियतिवाद का पोषण करता है।[3] जैन धर्म नियतिवाद के एवं कर्म तथा मोक्ष के सिद्धान्त का पोषण करते हुए स्वीकार करता है कि "जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्म बन्धन को विनष्ट कर मुक्ति प्राप्त करता है।" उनकी मान्यता है कि पूर्व अर्जित कर्म ही व्यक्ति के नियति बन जाते हैं।[4] गीता दर्शन भी नियतिवाद एवं कर्म के सम्बन्ध में इसी तरह की दृष्टि रखता है।[5]

न केवल दार्शनिक एवं बौद्धिक परम्पराओं वरन, कला, साहित्य, शिक्षा, व्यापार, वाणिज्य इत्यादि सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी बौद्ध एवं जैन परम्पराओं से प्रभावित दिखती है। नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला आदि तत्कालीन शिक्षण संस्थाओं के रूप में ख्यातिलब्ध शिक्षा केन्द्र विशुद्ध रूप से बौद्ध आचार्यों के योगदान से विकसित हुए थे। तक्षशिला के बाह्मणीय शिक्षा केन्द्र वेद, पुराण, अष्ठादश विद्या शिल्प कला के अध्ययन, अध्यापन की जो ख्याति सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित हुई, उसके पीछे उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होता हुआ नालन्दा का उत्कर्ष भी कहीं न कहीं महत्त्वपूर्ण कारक था। बौद्धों के विहार तत्कालीन भारत के महत्त्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र हुआ करते थे। इन बौद्ध शिक्षा केन्द्रों के कारण ही यूनानी एवं भारतीय दार्शनिक परम्परायें एक दूसरे के सम्पर्क में आयीं। बौद्ध आचार्यों की देन थी कि उन्होंने चीन, तिब्बत, मध्य

एशिया, बुखारा, जावा, सुमात्रा, वर्मा, लंका आदि देशों के विद्यार्थियों को अध्ययन के लिए भारत आने की लालसा से युक्त किया।

बौद्ध कलाकृतियों से विदित होता है कि विविध कलाओं, शिल्पगत व्यवसायों, उद्योग-धन्धों, घुड़सवारी, तीरन्दाजी, दस्तकारी आदि विविध कृत्यों की गुणात्मक अभिवृद्धि में निश्चय ही बौद्ध कला शिल्पियों का भी योगदान था। बौद्ध ग्रन्थों में रथकार, घुड़सवार, हस्त सवारी, रसोइया, नाई, हलवाई, धोबी, जुलाहे, कुम्हार, मुनीम आदि कर्मगत धन्धे करने वाले संगठन के संचालकों का उनके व्यावसायिक नियमों का वर्णन मिलता है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व काल से चली आ रही भारतीय वर्ण आश्रम व्यवस्था जहाँ चार वर्णो एवं चार आश्रमों का अस्तित्त्व माना जाता था। उस व्यवस्था के सापेक्ष समाज में विविध जातियों को अस्तित्व में आना बौद्ध धर्म की देन माना जायेगा।[7] बौद्ध में धर्म आस्था के परिणामस्परूप तत्कालीन श्रेष्ठि वर्ग ने व्यापार एवं वाणिज्यिक गतिविधियों को काफी उत्कर्ष पर पहुंचाया, जिसका परिणाम हुआ कि वेद पाठी ब्राह्मण अपने निश्चित कर्म को छोड़कर व्यापार एवं वाणिज्य की ओर उन्मुख हुए। उनमें लिप्सा, मोह, संग्रह आदि के प्रवृत्तियों का विकास हुआ। व्यापार कर्म साधारणतया वंश कर्म पर अवलम्बित माना जाता है। फलतः जो वेदपाठी ब्राह्मण क्षत्रिय श्रेष्ठि कर्म से जुड़ा, वह कालान्तर में उसी के पहचान से युक्त हो गया।[8] भारत के श्रावस्ती, राजगृह, पाटलीपुत्र, कौशाम्बी, उज्जैनी, विदिशा आदि तत्कालीन महानगरों में ऐसे अनेक श्रेष्ठि परिवार अद्यावधि निवास करते हैं, जिनकी मूल पहचान ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय है।[9]

सार संक्षेप रूप से यह कहा जा सकता है कि बौद्ध एवं जैन धर्म की मान्यताओं, परम्पराओं, दार्शनिक सिद्धान्तों का भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों पर प्रभाव पड़ा है। भारतीय कला, परम्परा, व्यापार, वाणिज्य, शिक्षा, साहित्य, समाज एवं संस्कृति की सतत प्रवाहमान सरिता बौद्ध एवं जैन धर्म की सांस्कृतिक जलधारा को लेकर सम्पूरित रही है।

सन्दर्भ

1. आचारांग सूत्र 12/1/5।

2. तत्रैव 3/2/150।
3. उपासकदशांऽसूत्र, पृ० 195-197।
4. तत्रैव, पृ० 197-200।
5. बौद्ध, जैन एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 280-300।
6. बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ० 100-100।
7. बौद्ध, जैन एवं गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 301-302।
8. तत्रैव, 305।
9. तत्रैव, 302।

36
जैन दर्शन एवं संस्कृत साहित्य-शास्त्र

मधु सत्यदेव

भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा और करुणा के क्षेत्र में जिस दर्शन के साथ 'चरम' और 'अति' का प्रयोग प्राय: किया जाता रहा है वह जैन दर्शन एवं धर्म है। मनुष्य ही नहीं बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म जीवों चीटियों एवं कीटाणुओं के जीवन का ध्यान रखने एवं उन्हें मृत्यु से बचाने के लिये जिस कठोर जीवन यापन का निर्देश जैन जीवन पद्धति में मिलता है उससे इसको सहज ही 'अव्यावहारिक' होने का आरोप भी झेलना पड़ा है।[1] किन्तु *इसकी चिन्ता किये बिना जैन तीर्थंकरों और उनके अनुयायियों ने भारत और* भारत से बाहर भी निरन्तर अपनी करुणा और अहिंसा की भावना को फैलाया। इसके लिए अपनी लेखनी को भी साधन बनाया। लेखनी ने संस्कृत भाषा को भी समृद्ध किया। इसवी सन् की द्वितीय सदी से संस्कृत-वाङ्मय में जैन काव्य लेखन का प्रारम्भ हुआ। जैन संस्कृत काव्य अनेक जन्मों के द्वारा व्यक्तित्व के उदय तथा सम्पूर्णता को लक्ष्य कर नाना जन्मों की कथा सुनाते हैं। जैन काव्यों ने अपने धर्म की अभिवृद्धि के लिए ही काव्य का आश्रयण किया इसलिए अवसर मिलने पर उन्होंने ब्याज, संयम तथा अहिंसा के आदर्श की व्याख्या के विभिन्न उपदेश दिये हैं। जैन काव्यों में जैन धर्म के उपदेष्टा तीर्थंकर धार्मिक पुरुष और लोकोपकारी व्यक्तियों को नायक बनाया गया है।[2] जैन काव्यों में जैन तत्त्वों की शिक्षा का अवश्य समावेश होता है। वराङ्चरित जिनसेन - पार्श्वभ्युदय काव्य, जिदन्तचरित, वर्धमानचरित, चन्द्रप्रभाचरित, क्षत्रचूड़ामणि आदि जैन काव्यों में उपरोक्त विशेषतायें देखी जा सकती हैं। स्पष्टत: जैन काव्य जैन तत्त्वों का दर्पण है।

जैन काव्यों के समान और आचार्यों ने अपने धर्म और दर्शन के अनुरूप ही साहित्य-शास्त्र की रचना की। उनका साहित्य शास्त्र तो साहित्य की कसौटी में जैन तत्वों की अनिवार्यता स्वीकार करता है।

जैन साहित्य शास्त्र के आचार्यों में आचार्य हेमचन्द्र का नाम सुप्रसिद्ध है। इनका जन्म गुजरात में अहमदाबाद जिले के 'धुन्धुक' नामक गांव में 1088 ई० और देहावसान 1172 ई० में हुआ था। हेमशब्दानुशासन, काव्यानुशासन तथा छन्दों अनुशासन नामक ग्रन्थों के माध्यम से इन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।[3] इन्होंने काव्यानुशासन के भट्टतौत के पद्य उद्धृत किये हैं, जो ऋषि नहीं हैं, वह कवि नहीं हैं। दर्शन (ज्ञान) के कारण ऋषि कहा जाता है, विचित्र गांवों धर्मांश और तत्त्व का विवेचन दर्शन कहलाता है। तत्त्वदर्शी को ही शास्त्र में कवि कहा गया है। परन्तु लोक में दर्शन एवं वर्णन दोनों से कवि कहा जाता है। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि का दर्शन स्वच्छ था परन्तु जब तक वर्णना नहीं आई तब तक उनसे मुख से काव्य धारा नहीं वहीं तात्पर्य कि पदार्थों के तत्वज्ञान से व्युत्पत्ति और प्रख्या प्रतिभा से वर्णन (कविता) प्रादुर्भूत होती है अतः प्रतिभा व्युत्पत्ति काव्य के कारण हैं। (काव्यानुशासन पृष्ठ 379)

आचार्य हेमचन्द्र के बाद उनके प्रमुख शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र का स्थान आता है। इन दोनों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक एक नाट्य विषयक ग्रन्थ की रचना की है इसलिए दोनों नामों का उल्लेख साथ-साथ ही किया जाता है। किन्तु रामचन्द्र के अलग भी बहुत से ग्रन्थ पाये जाते हैं जो प्रायः नाटक हैं। उन्हें 'प्रबन्धकर्ता' कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने लगभग 190 ग्रन्थों की रचना की है। 11 नाटकों के उद्धरण नाट्यदर्पण में पाये जाते हैं। अन्य साहित्य ग्रन्थों के समान नाट्यदर्पण की रचना भी कारिका शैली में हुई है। उस पर वृत्ति भी ग्रन्थकारों ने स्वयं ही लिखी हैं। ग्रन्थ में चार विवेक हैं, जिनमें क्रमशः नाटक, प्रकरणादि, रूपक, रस भावाभिनय तथा रूपक सम्बन्धी अन्य बातों का विवेचन किया गया है। इन्होंने रस को केवल सुखात्मक न मानकर दुःखात्मक भी माना है जो जैन करुणा की विशेषता है।

आचार्य के समय में गुजरात का अनहिलपट्टन राज्य जैन विद्वानों का

केन्द्र बन गया था। काव्य-शास्त्र के अनेक आचार्यों ने वहाँ रह कर साहित्य का निर्माण किया था। उसी परम्परा में रामचन्द्र और गुणचन्द्र के बाद वाग्भट का नाम आता है। साहित्यिक क्षेत्र में वाग्भट का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वाग्भट अनहिलपट्टन के राजा जयसिंह के महामात्य थे। एक बड़े राज्य के महामात्य, महाकवि और महान विद्वान होने पर भी इनकी जीवनकथा बड़ी करुण है। इन्हें अपने इस महामात्यव्य का 'महामूल्य' चुकाना पड़ा। इनकी एक पुत्री थी, परम सुन्दरी, परम विदुषी और अपने पिता के सदृश अति प्रतिभाशालिनी। जब वह विवाह योग्य हुई तो उसे बलात् इनसे छीनकर राजप्रसाद की शोभा बढ़ाने के लिए भेज दिया गया। न वाग्भट इसके लिए तैयार थे और न कन्या। पर 'अप्रतिहता राजाज्ञा' के सामने दोनों को सिर झुकाना पड़ा। विदाई के समय कन्या अपने रोते हुए पिता को सांत्वना देते हुए कह रही हैं -

"तात वाग्भट! मा रोदीः कर्मणां गतिरीदृशी।"

दुष् धातोरिवाट्माकं गुणों दोषाय केवलम्।।

व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार दुष् धातु को गुण होकर 'दोष' पद बनता है। 'दुष्' धातु को गुण का परिणाम दो है। इसलिए हे तात्! आप रोइये नहीं, यह तो हमारे कर्मों का फल है कि दुष् धातु के समान हमारा गुण भी दोष जनक हो गया। यह करुण वर्णन जैन काव्यशास्त्री ही कर सकता है। वैसे मूलतः वाग्भट को महाकवि और अलंकारकर्ता कहा गया है। वाग्भटालङ्कार, काव्यानुशासन ने विनिर्माण महाकाव्य, ऋषभदेव चरित छन्दोनुशासन और आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाङ्गहृदय आदि ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट्ट माने जाते हैं। इन सबके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्तियों ने इनकी रचना की है इस विषय में मतभेद हैं। कुछ लोग वाग्भट प्रथम और वाग्भट द्वितीय हुए ऐसा मानते हैं। उनके मत में प्रथम वाग्भट केवल वाग्भटालङ्कार के निर्माता हैं और काव्यानुशासन, ऋषभदेव चरित तथा छन्दोनुशासन इन ग्रन्थों को ये लोग दूसरे वाग्भट की रचना बतलाते हैं। किन्तु यह विनिर्माण महाकाव्य तथा आयुर्वेद की अष्टाङ्गहृदय संहिता इन दोनों में से किस वाग्भट की कृति है इस विषय पर ये लोग कोई प्रकाश नहीं डाल सके हैं। वास्तव में तो इन सब ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट नाम के एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। वाग्भटालङ्कार की टीका (4-148) में वाग्भट को जिस प्रशंसाभाव से

महाकवि और अलंकारकर्ता कहा गया है उससे यही प्रतीत होता है कि अलंकारशास्त्र में वाग्भटालङ्कार तथा काव्यानुशासन ग्रन्थों के साथ 'नेमिनिर्वाण' महाकाव्य तथा ऋषभदेव चरित जैसे काव्यों के रचयिता भी यही वाग्भट हैं। उस दशा में छन्दोनुशासन तथा 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' का रचयिता भी इन्हीं को मानना उचित होता है। इनकी रचनाओं में अलंकार के सौन्दर्य के साथ-साथ जैन तत्त्वों का समावेश हुआ है जो इनके काव्य-कौशल का प्रतीक है।

जैन आचार्यों की परम्परा में अगला नाम अरिसिंह-अमरचन्द का आता है। जिस प्रकार रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों एक ही गुरु के शिष्य थे और दोनों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' की रचना की थी उसी प्रकार अरिसिंह और अमरचन्द दोनों एक ही गुरु जिनदत्त सूरि के शिष्य हैं और उन दोनां ने मिलकर 'काव्यकल्पलता' नामक ग्रन्थ की रचना की है। (काव्यकल्पलत्तावृत्ति, पृष्ठ - 1)। अमरसिंह के पिता का नाम लावण्य सिंह था। इन्होंने गुजरात के ढोलका राज्य के राजा धीर धवल के मंत्री और अपने मित्र वस्तुपाल जैन की स्तुति में 'सुहृत्संकीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द ने काव्यकल्पलतावृत्ति में अपने छदोरत्नावली, काव्यकल्पलता परिमल और अलंकार प्रबोध नामक तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने जिनेन्द्र चरित, जिसका दूसरा नाम पद्मानन्द भी है, की रचना की है।

काव्यकल्पलतावृत्ति में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मार्ग को छोड़कर नवीन मार्ग का अवलम्बन किया गया है। उसका विषय कवि शिक्षा है। उसमें गुण, दोष, अलंकार आदि का विवेचन न करके काव्य रचना के नियमों का प्रतिपादन किया गया है। कवि बनने के इच्छुक व्यक्ति किस प्रकार अपने लक्ष्य को सरलता से प्राप्त कर सकते हैं उन्हीं उपायों का वर्णन इसमें किया गया है। इस ग्रन्थ में चार प्रतान हैं जिनमें छन्दः सिद्धि, शब्दसिद्धि, श्लेष सिद्धि और अर्थ सिद्धि के उपायों का प्रतिपादन किया गया है।

अरिसिंह और अमरचन्द के बाद 14वीं शताब्दी में ही देवेश्वर नामक एक और जैन विद्वान हुए हैं। उन्होंने कविविकल्पलता नामक ग्रन्थ की रचना की है। किन्तु यह ग्रन्थ पूर्वोक्त काव्यकल्पलता से लिया गया है। इसलिए इस ग्रन्थ का अपना कोई मूल्य नहीं है।

इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र से लेकर चौदहवीं

शताब्दी में देवेश्वर पर्यन्त लगभग 250 वर्ष तक गुजरात का अनहिलवाड़ा राज्य जैन विद्वानों और साहित्यकारों का केन्द्र बना रहा। संस्कृत साहित्य शास्त्र इनके माध्यम से जैन दर्शन के महत्वपूर्ण तत्त्वों से समृद्ध हुआ।[4]

संस्कृत साहित्यशास्त्र को जैन आचार्यों का योगदान

जिस प्रकार जैन धर्म और दर्शन की अहिंसा और करुणा को बौद्धधर्म ने भी ग्रहण किया और कालान्तर में वैष्णवों ने इसे अंगीकार किया उसी प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र भी जैन धर्म की इन विशेषताओं से समृद्ध हुआ। जैन धर्म की मूल प्रकृति में सहिष्णुता रही है। उसमें कोई मत या विचार बलात् आरोपित करने का चिन्तन ही नहीं हुआ है। इसलिए साहित्य के सम्बन्ध में रस, अलंकार आदि की महत्ता को स्वीकार करते हुए अत्यन्त सहज और विनम्र तरीके से जैन आचार्यों ने साहित्यशास्त्र में जैन तत्त्वों का समावेश किया है, जिससे आरोपित करने की किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती। इसलिए कभी-कभी विद्वानों को यह सन्देह होता है कि क्या वास्तव में जैन आचार्यों द्वारा समावेश किया गया है? सतही दृष्टिकोण से यह दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु जब हम जैन धर्म और दर्शन के मूल तत्त्वों और जैन धर्म और दर्शन के मूल तत्त्वों और जैन आचार्यों की रचनाओं पर उसका प्रभाव सूक्ष्म दृष्टि से करते हैं, तो यह स्पष्ट दिखाई दे जाता है। साहित्य में करुण रस को जो महत्ता प्राप्त हुई उसमें जैन आचार्यों के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

संदर्भ

1. जैन धर्म एवं दर्शन, डॉ० पुरुषोत्तम शास्त्री, पृष्ठ (115-122)
2. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, प्रो० राधा वल्लभ त्रिपाठी, चतुर्थ खंड
3. काव्य मंडनः मण्डल हेमचन्द्रा चार्म ग्रन्थावली 17, सन् 1920
4. गुजरात और जैन धर्म, अवनीश मिश्र।

37

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के प्रमुख तीर्थ स्थलों का महत्व

एस० एन० उपाध्याय

प्राचीन भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्ट्य की अवधारणा में मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रमुख तीर्थ एवं तीर्थस्थलों का विशेष महत्व है। उत्तर में विशाल पर्वतमाला, तीन समुद्रों से घिरी तटीय रेखा के साथ सजीव भारत मनोरम् परिदृश्यों वाला एक राष्ट्र है। भू-आकृति सम्बन्धी विभिन्नताओं के साथ इसकी सांस्कृतिक विविधता भी अपने में बेजोड़ है। भारत की व्यापकता इसकी समृद्धि, सांस्कृतिक विरासत, समय-समय पर मनाये जाने वाले उत्सव एवं पर्व, बर्फ से ढकी पर्वतमालायें, हरे-भरे एवं पठारी क्षेत्र, दीर्घ तट रेखा आदि मिलकर एक अविस्मरणीय जीवन्त संस्कृति का अवगाहन कराते हैं।[1]

प्राचीन भारतीय संस्कृति में विशाल पर्वत श्रृखलायें एवं लम्बी पवित्र नदियाँ, सघन वन सदैव पुण्यप्रद एवं दिव्य स्थल बताये गये हैं। ऐसे ही दिव्य स्थलों को तीर्थ मानकर तीर्थ यात्रियों ने समय-समय पर वहाँ यात्रायें की जो परंपरागत तीर्थस्थल के रूप में जाने गये। इन तीर्थ स्थलों पर यात्राओं से भारतीय संस्कृति एवं देश की मौलिक एकता एवं अखण्डता अक्षुण्ण रखने में सहायता मिली है। पवित्र तीर्थस्थलों पर यात्रा सम्बन्धी परम्परा को बनाये रखने में भारतीय संस्कृति के अनेक मूल तत्त्वों ने बड़ा योगदान किया है। काशी हो मथुरा, द्वारिका या रामेश्वरम् सभी भारतीयों ने उसे समान रूप से पवित्र माना। समाज में व्याप्त जातीय संकीर्णताओं एवं जटिल जीवन के बावजूद इन तीर्थों ने सभी जातियों, सम्प्रदायों को पवित्र नदियों, तीर्थस्थलों को

एक सानिध्य में लाने का अनूठा कार्य किया है। भारतीय संस्कृति में माना गया है कि तीर्थस्थलों पर देवताओं का वास होता है। इस भावना से उत्पन्न विचार एवं विश्वास के कारण प्राचीन धर्म शास्त्रकारों ने तीर्थ स्थलों पर जाने के लिए प्रेरित किया। सामान्यतया तीर्थ का अर्थ होता है - वह स्थल जो पवित्र जलयुक्त हो, जिसमें नदी, प्रपात, जलाशय आदि जो अपने अत्यन्त विलक्षण स्वरूप के कारण पूजार्चन से जीवन के परमलक्ष्य की प्राप्ति एवं इस लोक से मुक्ति प्राप्त करने की भावना जाग्रत करें। महाभारत एवं पुराणों में तीर्थ यात्रा की तुलना देव यज्ञों से करते हुए कहा गया है कि तीर्थ से जो पुण्य प्राप्त होते हैं, वह यज्ञों से उत्तम है।[2] विवेच्य काल के अभिलेखों एवं साहित्यिक साक्ष्यों एवं समकालीन यात्रियों के यात्रा विवरण में भी तीर्थ एवं तीर्थाटन के अनेक संदर्भ भरे पड़े हैं जिनके सूक्ष्म अध्ययन से पता लगता है कि 12वीं सदी ई० में अनेक तीर्थ महत्वपूर्ण स्थिति में थे जो संस्कृति एवं आर्थिक उत्थान के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। चन्देल राज़ा 1051 ई० के चरखारी से प्राप्त एक ताम्रपत्र में देवर्मादेव के पौत्र विद्याधरदेव ने पूर्णिमा के दिन पवित्र तीर्थ स्थल में स्नानकर, शिव की अर्चना कर यमुना नदी के किनारे स्थित एक गांव ब्राह्मण को दान दिया।[3] पी० पी० वाणे के अनुसार उस समय प्रसिद्ध तीर्थों की संख्या दस थी किन्तु उसमें से केवल एक मथुरा के निकट यमुना के किनारे पर स्थित था जिसका वर्णन वाराह पुराण में मिलता है।[4]

1055 ई० में धारा के जयसिंह द्वारा पवित्र तीर्थ अमरेश्वर में ब्राह्मणों का गांव दान देने की चर्चा है जिसमें अमरेश्वर नामक तीन तीर्थ होने के संकेत मिलते हैं। जबकि जयसिंह के मान्धाता-ताम्रपत्र इसे नर्मदा के तट पर स्थित होने की सूचना देता है। सम्भवतः अमरेश्वर नर्मदा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित ओंकारनाथ था।[5] राजा उद्योतकेशरी 1055-1080 ई० के ब्रह्मेश्वर मन्दिर लेख से गगनचुम्बी चारूशाला भव्य मन्दिर स्थित होने का पता चलता है जो ग्यारहवीं शदी के मध्य में भुवनेश्वर में पवित्र स्थल होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के 1082 ई० के एक लेख में कुछ पवित्र तीर्थ स्थलों में वाराणसी, कुरूक्षेत्र, अर्ध्यतीर्थ, प्रयाग और गया का

उल्लेख है। कलचुरि नरेश कर्ण के 1047 ई० के गोहरवा पत्र में भी अर्घ्य तीर्थ को गंगा नदी के तट पर स्थित होने का उल्लेख है जिसकी पहचान अभी तक नहीं हो सकी है। 1093 ई० के चंद्रावती ताम्र-पत्र से अयोध्या तीर्थ के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है कि गहड़वाल नरेश चन्द्रदेव के अश्वनी माह में लगने वाले सूर्य ग्रहण के अवसर पर पाप से मुक्ति हेतु स्वर्गद्वारातीर्थ सरयू और घाघरा नदी में स्नान किया।[6] मदनपाल के 1107 ई० के लेख एवं जयचन्द्र के 1175 ई० वाराणसी ताम्रदान पत्र से काशी, कुशिका, उत्तर कोशल और इन्द्रस्थान जैसे पवित्र तीर्थ स्थलों के संरक्षण एवं रख-रखाव करने का उल्लेख है।[7] कुशिका की पहचान गोमती नदी के तट पर से आधुनिक सुल्तानपुर के कुशपुर या कुशमावनपुर से की जाती है जो राम के पुत्र कुश की राजधानी थी। इन्द्रस्थान की पहचान आधुनिक दिल्ली के पास स्थित इन्द्रप्रस्थ से की जा सकती है, किन्तु इसकी यह सही पहचान नहीं लगती है। इस प्रकार तत्कालीन शासकों द्वारा तीर्थस्थलों को सुरक्षित किये जाने की जरूरत थी, क्योंकि तुर्कों और लुटेरों की निगाहें इन स्थलों पर लूट के लिए लगी थी। सोमेश्वर कृत कीर्तिकौमुदी में तीर्थ यात्रियों शान्तिपूर्ण यात्रा में लुटेरों और हत्यारों से खतरे का उल्लेख है।[8]

1138 ई० के एक अभिलेख में प्रमुख तीर्थ स्थल 'पुरुषोत्तम' का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि महाभारत के 'वनपर्व' बल्लालसेन के 'दानसागर' तथा लक्ष्मीधर के 'तीर्थ-विवेचन काण्ड' में पुरी, पुरुषोत्तम या जगन्नाथ की चर्चा ही नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि 5वीं शताब्दी ई० तक 'पुरी' का उतना देशव्यापी महत्व नहीं था जितना कि 12वीं शताब्दी में था इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि कालान्तर में पुरी का तीर्थस्थल के रूप में स्थापन हुआ। जीमूलवाहन के कालविवेक में भी ज्येष्ठ मास के पूर्णिमा के दिन 'पुरुषोत्तम' के दर्शन की महिमा का विशेष वर्णन किया गया है।[9]

1174 ई० के जबलपुर प्रस्तर शिलालेख से ज्ञात होता है कि एक प्रसिद्ध कल्चुरि राजा के संरक्षण में शैव धर्मानुयायी विमलशिव गोकर्ण, गया, प्रभास आदि तीर्थस्थलों पर धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न किया था।[10] सारंगदेव के शासनकाल की एक प्रशस्ति से शिवभक्त 'त्रिपुरात्तक' के तीर्थयात्रा वृत्तान्त का पता चलता

है। जो केदारनाथ में पूजन–अर्चन के पश्चात् गंगा–यमुना के संगम प्रयाग पहुंचा फिर श्री पर्वत की परिक्रमा और भगवान मल्लिनाथ का दर्शन किया पुनः रेवा और गोदावरी नदी में पवित्र स्नान किया तथा त्रयम्बक होते हुए रामेश्वरम् पहुंचा और तब देवपत्तन के रास्ते प्रभास वापस आया।[11] इस सम्बन्ध में सबसे रोचक तथ्य है कि 'शिवपुराण[12]' में बारह ज्योर्तिलिंगों की चर्चा की गयी है। (1) सोमनाथ, (2) मल्लिकार्जुन, श्रीशैल पर्वत पर स्थित, (3) उज्जैनी–महाकाल, (4) अमरेश्वर–ओमकार, (5) केदार, (6) भीष्मकार, (7) काशी में विश्वेश्वर, (8) नासिक – त्रयम्बक्, (9) वैद्यनाथ धाम, (10) दारूकारण्य में नागेश, (11) रामेश्वरम्, (12) दौलताबाद–गृहरनेश। इन सभी 12 ज्योर्तिलिंगों पर तपस्वी त्रिपुरान्तक ने शिव अराधना की थी। आश्चर्य की बात यह है कि उसके यात्रा विवरण में काशी के विश्वेश्वर का नाम सम्मिलित नहीं है। लक्ष्मीधर ने विश्वेश्वर को वाराणसी के 220 लिंगों में गणना कीया है जिसमें उज्जैनी और केदार सम्मिलित है।[13] बल्लालसेन ने दानसागर में श्रीपर्वत, केदार, ओमकार, वाराणसी और रामेश्वर के ज्योर्तिलिंगों की चर्चा की है। 'वृहस्पत्य अर्थशास्त्र' में आठ प्रसिद्ध शिवक्षेत्र का वर्णन है, किन्तु उनमें किसी 12 ज्योर्तिलिंगों का नाम सम्मिलित नहीं है। स्कन्दपुराण[14] में भी इन स्थलों का उल्लेख है – ओमकार, महाकाल, विश्वेश्वर ललितेश्वर, त्रयम्बक, भद्रेश्वर, द्रक्षरामेश्वर जो गंगासागर के संगम पर स्थित है। सौराष्ट्र में सोमेश्वर, विन्ध्याचल में सर्वेश्वर, श्रीशैल में शिखरेश्वर, कान्तीपुर में अल्लालनाथ, सिम्हला में सिम्हनाथ, इस प्रकार से उन सब पर विचारोपरान्त कहा जा सकता है कि 13वीं शताब्दी के पूर्व बारह प्रमुख ज्योर्तिलिंगों के विशेष मान्यता के पुष्ट प्रमाण नहीं हैं।

विवेच्य काल में साहित्यिक साक्ष्यों में तीर्थों के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। अलबरूनी ने मुल्तान, थानेश्वर, काश्मीर, बनारस, पुष्कर, मथुरा आदि का उल्लेख किया है। सोमदेव कृत कथासरितसागर ने ग्यारहवीं शताब्दी के प्रमुख तीर्थों पर प्रकाश डाला है। बद्रीनाथ, विन्ध्यवासिनी–दुर्गा, पुष्कर, प्रयाग, बनारस, चित्रकूट आदि प्रमुख हैं।[15] दसवीं से बारहवीं शताब्दी के प्रमुख तीर्थ स्थलों के बारे में भद्र लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरू के 'तीर्थविवेचनकाण्डम्'

तथा जीमूतवाहन ने 'कालविवेक' में प्रमुख तीर्थ स्थलों में सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्षों पर प्रकाश डाला है।

जीमूतवाहन के 'कालविवेक' से हमें तीर्थ-स्थलों के बारे कुछ नये विचार दिखाई पड़ते हैं जो ज्योतिष की गणना पर आधारित थे। उनके अनुसार माघ में पुष्कर में स्नान, कृष्ण पक्ष में गया, पौष में नर्मदा, चैत्र में सालिग्राम, पुन्डरीक, शुक्लपक्ष में, प्रभास और तेजस् अमावस्या में, यमुना में, माघ कृष्ण चतुर्दशी को, इसी तिथि को माघ और पौष में चन्द्रभागा नदी में स्नान करने से व्यक्ति सारे पापों से मुक्त हो जाता है।[16] माघ पूर्णमासी पर्व पर स्नान करने के बारे में लिखा है कि प्रयाग में स्नान सर्वोत्तम है। इसी प्रकार फाल्गुन में नैमिषारण्य तथा चैत्र में सालग्राम, वैसाख में गंगाधर, ज्येष्ठ में पुरुषोत्तम, अषाढ़ में कनखल, श्रावण में केदार, भादों में बद्रीनाथ, अश्विन में ऋषिकेश, कार्तिक में पुष्कर, अगहन में कान्यकुब्ज, पौष में अयोध्या, आदि के बारे में कहा गया है कि इन तीर्थस्थलों पर स्नान से सभी पाप धुल जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी तीर्थ स्थल उत्तर भारत के हैं इसमें एक भी तीर्थ स्थल दक्षिण भारत के नहीं हैं। इनमें 12 प्रसिद्ध तीर्थस्थल तो हिमालय की तराई में स्थित हैं जो स्नान दान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे।

बल्लालसेन ने 'दानसागर' में 27 पवित्र नदियों में स्नान-दान की दृष्टि से महत्वपूर्ण बताया गया है, जिसमें से 15 पवित्र नदियों का उल्लेख 'लक्ष्मीधर' ने अपनी रचना में किया है। जबकि 27 पवित्र स्थल श्राद्ध आदि की दृष्टि से महत्वपूर्ण बताये थे। इसी प्रकार 68 ऐसे तीर्थ स्थल हैं, जिनकी चर्चा लक्ष्मीधर ने नहीं किया है किन्तु बल्लालसेन के 'दानसागर' में महत्वपूर्ण बताया गया है। ये सभी तीर्थ स्थल मत्स्यपुराण के आधार पर पहचाने गये हैं। इनमें से अनेक प्राचीन तीर्थस्थलों को पी० पी० काणे, नन्दूलाल डे, पहचान नहीं कर सके। लगता है कि मत्स्यपुराण में वर्णित में तीर्थ स्थलों के नाम तत्कालीन समय में दूसरे नामों से प्रसिद्ध थे। जिसमें से प्रसिद्ध तीर्थस्थलों की चर्चा लक्ष्मीधर एवं बल्लालसेन ने की है। कुछ समकालीन अन्य साक्ष्यों में इन तीर्थस्थलों के नाम आंये हैं जिसमें कल्याणी के चालुक्य, सोमेश्वर द्वारा

रचित[17] "मानसोल्लास" हैं जिसमें उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत के अनेक तीर्थ स्थलों का वर्णन किया गया है। 12वीं शताब्दी ई० के प्रसिद्ध विद्वान हेमचन्द्र ने 'द्वयसारकाव्य' में अनेक तीर्थ स्थानों का उल्लेख किया गया है।

भागवत पुराण, मत्स्य पुराण, पद्मपुराण के आधार पर कालान्तर में अनेक लेखकों ने अपनी रचनाओं में पवित्र स्थलों की चर्चा की है। शिव पुराण में वर्णित ज्योर्तिलिंगों की पहचान समय-समय पर की गयी है। इसी तरह शक्ति तीर्थ की भी चर्चा की गयी है। "वृहस्पत्य" - अर्थशास्त्र में 8 शक्तिपीठों में विन्ध्यवासिनि दुर्गा भद्रकाली को सबसे सर्वोपरि माना गया है।[18] नरसिंह की पाण्डुलिपि प्रमाणपल्लव में भी अनेक प्रमुख तीर्थ स्थलों का वर्णन मिलता है, जो सम्भवतः लक्ष्मीधर के बाद लिखा गया है। इसी तरह अनेक पवित्रतीर्थों के सन्दर्भ समकालिक अभिलेखों एवं एतिहासिक ग्रन्थों में लिखे गये हैं। विहार में शाहाबाद जिले के तिलोठू स्थान से प्राप्त नायक प्रताप धवल का एक 'प्रतिमालेख' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

दसवीं से बारहवीं शताब्दी के प्रमुख तीर्थ स्थलों में वाराणसी, प्रयाग एवं गया, को प्रमुख अर्घ्य तीर्थ स्थल मानते हुए नारायण भट्ट ने त्रिअर्घ्यस्थली के नाम से सम्बोधित किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी तीर्थचिन्तामणि में पुरुषोत्तम अर्थात् पुरी जगन्नाथ को बराबरी का दर्जा दिया है। ब्रह्मपुराण के अनुसार ज्येष्ठमास के अर्धशुक्ल पक्ष के दसवें दिन 52 तीर्थस्थल और 32 पवित्र नदियाँ का पुरी अर्थात् पुरुषोत्तम में महात्य है। पुरुषोत्तम का यह पुरी स्थित मन्दिर 1198 ई० में अनवांभीम तृतीय ने बनवाया था, जो 'चोलगंगा' का पौत्र था।[19]

किन्तु गंगाधर के लेख से पता चलता है कि 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुरी तीर्थस्थल पर विहार और आस पास के ही लोग आते जाते और उनके प्रति आस्थावान थे।[20] इस तीर्थस्थल का देशव्यापी महत्व सम्भवतः 12वीं शताब्दी के बाद ही स्थापित हुआ। कुछ तीर्थस्थल क्षेत्रीय थे और उनकी मान्यता स्थानीय थी, जहाँ तीर्थ यात्रा करते थे, उनमें से वाराणसी, गया और प्रयाग ऐसे तीर्थस्थल है जहाँ पूरे भारतवर्ष से तीर्थ यात्री मोक्ष की कामना से यात्रा करते

थे। इसी तरह 12 ज्योर्तिलिंगों का भी महत्व 12वीं शताब्दी के बाद स्थापित हुआ प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय यह है कि प्रत्येक तीर्थ करने वाला व्यक्ति पद यात्रा करता था। कुछ लोग ही तीर्थयात्रा में साधनों का उपयोग करते थे। उस समय कुछ तीर्थस्थल पर जाने के लिए सड़कें भी नहीं थीं। तीर्थयात्रिओं को गुजरते समय प्रायः लुटेरों का भी सामना करना पड़ता था, फिर भी तीर्थ यात्री इहलोक से मुक्ति के लिए कठिनाईयों एवं संघर्षों का सामना करते हुए बराबर तीर्थयात्रा जारी रखते थे।

संदर्भ

1. आर० एन० पिल्लई - टूर एण्ड पिलग्रिमेज इन इण्डिया, पृ० 18
2. बी० पी० मजुमदार - सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 18
3. ऐपिग्रैफि इण्डिका XX, 127
4. पी०वी० काणे- हिस्ट्री आप धर्मशास्त्र खण्ड-4, पृ० 77, वाराहपुराण - 152-62-154-29
5. ऐपिग्रैफि इण्डिका, III, 46-50
6. वही, ग्प्टए 194
7. जर्नल ऑफ यू०पी० हिस्यारिकल सोसाइटी, XIV 1941, पृ० 70 इण्डियन ऐन्टीक्योरी, XVIII 130
8. कीर्तिकौमुदी, IX, 2
9. जीमूत् वाहन - कालविवेक, पृ० 351
10. ऐपिग्रैफि इण्डिका, XXV, 312-313
11. वही, I, 271-287
12. शिवपुराण, I, 14-33, IV, 1-18, 21-24
13. तीर्थविवेचन, पृ० 93
14. स्कन्दपुराण, केदार खण्ड - 7, 31-33
15. मजुमदार-सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ० 330
16. कालविवेक, पृ० 323
17. मानसोल्लास, 28, पृ० 13
18. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ० 326
19. डी० सी० सरकार - जर्नल ऑफ ओरियेन्टल रिसर्च, XVII, पृ० 209-215
20. सोसियो इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ० 349

38

प्राचीनतम् बौद्ध संघ और काशी

संगीता पाण्डेय

बुद्धकालीन काशी षोडस महाजनपदों में एक और कौशल राज्य के अधीन थी। बौद्ध वाङ्मय में काशी के वाणिज्य व्यापार तथा सर्वक्षेत्रीय सुख-समृद्धि के अनेक उदाहरण सुरक्षित है। स्वतंत्र काशी की राजधानी वाराणसी बुद्ध-युगीन छः महानगरों में एक तथा तत्कालीन उत्तर भारत के शिक्षा और संस्कृति के केन्द्र के रूप में प्रख्यात थी, रोचक है कि गौतम बुद्ध की आध्यात्मिक गवेषणा - बोधगया में बोधि- प्राप्ति के साथ पूर्ण हुई, पर भव बाधा से लोगों के निस्तारण सम्बन्धी करुणा - प्रसूत वेदना के कारण उन्होंने समाज को सन्मार्ग दिखाने का संकल्प लिया और धर्मदेशना के प्रथम स्थल के रूप में वाराणसी के पास अवस्थित, आधुनिक सारनाथ से समीकृत ऋषिपत्तन मृगदाव का चयन किया। यद्यपि पालि वाङ्मय में सारनाथ के प्रति इस प्रकार के आकर्षण के पीछे बोधि - प्राप्ति के पूर्व के बुद्ध के सहयोगी पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की उपस्थिति का हवाला दिया गया है, जो प्रथम धर्म-देशना के लिए ज्ञान की दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति की उपेक्षा के विचार से स्वाभाविक भी है, परन्तु यह भी सम्भव है, कि इस प्रकार के निर्णय की पृष्ठभूमि में काशी और उसकी राजधानी वाराणसी की सुख-समृद्धि और ख्याति तथा भिक्षाचर्य्या की सुलभता की परोक्षतः पुष्टि यहाँ की पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के आवास से भी होती है।

महावग्ग और मज्झिम निकाय के अरियपरियेसन सुत्त दोनों में ही धर्म चक्र प्रवर्तन की घटना का किञ्चित विस्तार से उल्लेख है। ऐसा वर्णन है कि ऋषिपत्तन मृगदाव पहुंचने पर उनकी तथा कथित तपभ्रष्टता का ध्यान कर

पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने पहले तो उपेक्षा करने का निश्चय किया, पर निकट आने पर उनकी धीर-गम्भीर मुद्रा से प्रभावित होकर, अपनी प्रतिज्ञा भूलकर, उनका यथोचित आदर सम्मान किया। बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को इस अवसर पर एकाधिक उपदेश दिये थे, कभी कुछ को और कभी अन्य को। परन्तु यह कहा गया है कि कौण्डिन्य को सर्वप्रथम ज्ञान मिला और क्रमशः वत्प, भद्दिय, महानाम और अश्वजीत को। यह रोचक है कि विमल धर्म – चक्षु उत्पन्न होने के बाद कौण्डिन्य आदि उपर्युक्त पांचों ने बुद्ध के समक्ष प्रव्रज्या और उपसम्पदा प्राप्त करने की प्रार्थना की और बुद्ध ने उन्हें भिक्षु के रूप में ग्रहण किया।

ऋषिपत्तन मृगदाव में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दिये गये उपदेश का स्वरूप यद्यपि निर्विवाद नहीं, परन्तु सुख-भोग और कार्य क्लेश दोनों ही अन्तों से बचते हुए मध्यम मार्ग के अनुसरण के उपदेश के प्रारम्भिक होने के संदर्भ में विद्वान प्रायः एक मत है। वस्तुतः इसी को बौद्ध धर्म का सार, और पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की प्रव्रज्या के साथ ही बौद्ध संघ की स्थापना स्वीकार करनी चाहिये।

सद्धर्म में जनसामान्य को 'भिक्षु' रूप में दीक्षित करने की प्रक्रिया वाराणसी के अतिसम्पन्न श्रेष्ठी-पुत्र यश की ऋषिपत्तन में ही प्रव्रज्या से प्रारम्भ हुई। यश को बुद्ध के समान ही संवेदनशील चित्रित किया गया है और सांसारिक सुख-वैभव से खिन्न। उपलब्ध विवरण के अनुसार बुद्ध से उसकी आकस्मिक भेंट हुई, परन्तु वह उनके उपदेश से प्रभावित होकर सद्धर्म में दीक्षित हुआ तथा पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की तरह शीघ्र ही उसने भी अर्हत्व प्राप्त किया। तत्पश्चात् उसके पिता, परिवार के अन्य सदस्य तथा मित्र धीरे – धीरे सद्धर्म में प्रविष्ट हुए, परन्तु सम्पूर्ण विवरण को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसमें भी शंका नहीं रहती कि बुद्ध ने यश और उसके परिवार के सदस्यों आदि को सद्धर्भ में प्रवेश के लिए सर्वथा उपर्युक्त पात्र समझा और उन्हें सद्धर्म में प्रविष्ट करने का यथा सम्भव प्रयत्न किया। जहाँ एक ओर यश की भेंट आकस्मिक कही गयी है वहीं दूसरी ओर यश की खोज में आये हुए उसके पिता तुरन्त अपने पुत्र को देख न सकें इसके लिए बुद्ध को चमत्कार प्रदर्शित करते हुए भी दिखाया गया है। ऐसा आभास होता है कि बुद्ध न केवल यश को अपने वैराग्य *के निश्चय से विचलित हुआ नहीं देखना चाहते थे।*

बुद्ध के उपदेश एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर पहले यशपिता उपासक बने, तदनन्तर उन्होंने भिक्षु संघ के साथ बुद्ध को घर पर आमंत्रित कर भोजन कराया और उनके दानकथा, शील कथा सम्बन्धी उपदेशों से प्रभावित होकर यश माता और यश की पूर्व पत्नी भी उपासिका बनी। इनमें प्रत्येक के बुद्ध, धर्म और संघ की शरण के रूप में त्रिशरण-गमन पद्धति से उपासक बनने की चर्चा है। इसी प्रकार यश पिता के प्रथम उपासक तथा यश माता के प्रथम उपासिका होने का स्पष्ट उल्लेख है।

यश जैसे समृद्ध व्यक्ति की संघ-दीक्षा उसके मित्रों एवं सम्बन्धियों के लिए अद्भुत घटना थी, अतः वे भी आकृष्ट हुए। प्रथमतः उसके चार गृही, मित्र, विमल, सुबाहु आदि ने तथा बाद में यश के अन्य 50 मित्रों एवं सम्बन्धियों ने संघ में प्रवेश लिया। वे शीघ्र ही अर्हत बने। इस प्रकार वाराणसी की प्रथम यात्रा में शीघ्र ही बुद्ध को 60 अर्हता अनुयायी एवं अनेक गृही उपासक प्राप्त हुए।

बुद्ध ने यही भिक्षुओं को स्वयं की तरह मानुष बन्धनों से मुक्त होने के लिए प्रयास करने का उपदेश दिया तथा भिन्न-भिन्न दिशाओं में अनेक लोगों के कल्याण के लिए धर्मचारिका करने के लिए उद्बोधन किया। भिक्षुओं के माध्यम से सद्धर्म प्रचार का यह प्रथम ठोस प्रयास था। ऋषिपत्तन मृगदाव की प्रथम यात्रा में ही बुद्ध ने भिक्षुओं को भी, एक विशेष पद्धति के तहत त्रिशरण गमन पद्धति द्वारा दीक्षा सम्बन्धी औपचारिकताएँ पूर्ण करने का निर्देश दिया।

बुद्ध ने अनुयायी भिक्षुओं के साथ वाराणसी की कई और यात्राएं भी की जिनमें उन्हें वाञ्छित श्रद्धा-सत्कार मिला। यहाँ के सुप्रिय उपासक-उपासिका की सद्धर्म-श्रद्धा विदित है। विनय पिटक के अनुसार एक बौद्ध भिक्षु के स्वास्थ्य - लाभ के लिए सुप्पिया ने अपना मांस तक दे दिया था और इसी अवसर पर बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के लिए मानव मांस के भक्षण का निषेध किया। यहीं उन्होंने कुत्ते, घोड़े, सर्प, जैसे जीव जन्तुओं के मांस-भक्षण के विरोध में भी नियम बनाया। यह स्थल 500 उपासकों के साथ धम्यदिन्न के बुद्ध के दर्शन के लिए आने तथा उनके धम्मदिन्न सुत से प्रभावित होने के लिए भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार वाराणसी में बुद्ध और उनके अनुयायियों के

विभिन्न यात्राओं और उपदेशों के माध्यम से बौद्ध धर्म-संघ को बहुविध लाभ-सत्कार मिला और उसकी सर्वक्षेत्रीय समृद्धि हुई। स्वयं बुद्ध के समय में ही यह स्थल बौद्धों की दृष्टि से इतना महत्व प्राप्त हो गया कि आनन्द ने बुद्ध महापरिनिर्वाण के योग्य 7 - महानगरियों में से इसे भी एक कहा और बुद्ध ने बौद्ध धर्म के चार तीर्थ स्थलों में वाराणसी की भी घोषणा की।

वाराणसी-सारनाथ के अतिरिक्त काशी के अन्य कई स्थल भी बुद्ध तथा उनके अनुयायियों के अनेक उपदेश देने तथा लाभ सत्कार अर्जित करने की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इनमें मच्छिकासण्ड और कीटागिरि का विशेष स्थान है।

मच्छिकासण्ड के चित्रगृहपति का संघ के विशिष्ट सहायक के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। अचेलकस्सप को संघदीक्षार्थ - प्रोत्साहन, महानाम प्रमुख भिक्षु-संघ को अम्बाटक वन का दान तथा कई बार बौद्ध भिक्षुओं को अपने यहाँ भोजन-आमंत्रण जैसे कार्यों के लिए प्रारम्भिक पालि साहित्य में इसकी एकाधिक चर्चा है। अध्यात्म-क्षेत्र में भी इसकी प्रशंसा प्राप्त होती है। इसके द्वारा मरणासन्न अवस्था में परिजनों एवं मित्रों की त्रिशरण में श्रद्धा एवं दान का निर्देश सद्धर्म के स्थायित्व के प्रति श्रद्धालु उपासकों की उत्सुकता एवं आकांक्षा का प्रतीक ज्ञात होता है।

बुद्ध-चारिका, बुद्ध के आवास तथा अन्य कई दृष्टियों से काशी के कीटागिरी निगम का विशिष्ट स्थान था। अस्सजी एवं पुनब्बसु नामक दो भिक्षुओं के अनुयायी, जो यत्किञ्चित कुत्सित प्रवृत्ति के थे, सम्वाजी के रूप में यही रहते थे। इन भिक्षुओं की एक उपासक द्वारा निन्दा करने पर बुद्ध ने सारिपुत्र और मोद्गल्यायन को उन्हें दण्डित करने के लिए भेजा था। कीटागिरि में कम से कम 25-26 भिक्षुओं के एक साथ रहने योग्य एक बड़ा विहार था। एक अवसर पर जब बड़े भिक्षु संघ के साथ बुद्ध यहाँ आये तब अस्सजी और पुनब्बसु के अनुयायियों ने उनका तो आदर-सत्कार किया पर सारिपुत्र और मोद्गल्यायन को आवास देने से मना कर दिया। इन्हीं भिक्षुओं के संदर्भ में बुद्ध ने कीटागिरी सुत का उपदेश दिया था।

प्राय: निश्चित पहचान वालों में काशी के आठ भिक्षुओं, दो उपासकों तथा तीन उपासिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। मात्र एक भिक्षुणी का

उल्लेख है, जो गणिका वर्ग की थी। भिक्षुओं में तीन ब्राह्मण वर्ग के तथा 5 वैश्य वर्ग के थे, और सभी उपासक-उपासिकायें वैश्य-गृहपति वर्ग के थे। इस प्रकार काशी के श्रद्धालुओं में अपेक्षाकृत वैश्य-गृहपति वर्ग का आधिक्य था। वैश्य-गृहपतियों का यह आधिक्य सम्भवतः काशी में उनकी बहुलता के कारण था और इससे भी काशी की बहुविध्य वृद्धि-समृद्धि की पुष्टि होती है।

संदर्भ

1. विनय, महावग्ग, 1, 5-6, मज्झिम निकाय, पासिरास सुत्त और बोधि- राजकुमार सुत्त।
2. दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्त, और महासुदस्सन सुत्त।
3. विनय, महावग्ग, 10, 2, 3, दिव्यावदान, पृ० 73 और 98, महावस्तु 3, 286, संयुक्त निकाय वेलुद्वारेय्यसुत आदि।
4. विनय, महावग्ग, 1, 6।
5. मज्झिमनिकाय, पासिरास सुत।
6. विनय, चुल्लवग्ग, 6, 23, तथा, 6, 23, 10।
7. संयुक्त निकाय 55, 53 (धम्मदिन्न सुत्त)
8. दीर्घ निकाय, महापरिनिब्बान सुत्त।
9. संयुक्त निकाय, 41-1, और आगे (चित संयुत्त, विशेषकर 16, 23) (एक पुत्रक सुत्त), अगुत्तर निकाय, 2, 12, 3, 4, 18, 6।
10. संयुक्त निकाय, 41, 9 (अचेलकस्सप सुत्त)।
11. अंगुत्तर निकाय, 1, 14, (च, 3)
12. संयुक्त निकाय, 41-10 (गिलास दस्सन सुत्त)।
13. विनय, चुल्लवग्ग, 6, 13।
14. मज्झिम निकाय, कीटागिरी सुत्त।

39

भारतीय बौद्ध शिक्षा केन्द्र : विहार-आयाम

अनामिका त्रिपाठी

सम्यक् सम्बोधि सम्प्राति के पश्चात जागतिक प्राणियों के दुःख निवारण हेतु अपने धर्म-चक्र प्रवर्तन के उपदेशात्मक चारिका में जब महात्मा बुद्ध राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती आदि प्रमुख स्थानों में चातुर्मास विश्राम के लिए निवास करते थे, उस समय उनके साथ समूह में चलने वाले भिक्षुओं का भी चातुर्मास निवास होता था। इस अवधि में गौतम बुद्ध भिक्षु समूह को विशेष शिक्षाएं देते रहते थे। इसके परिणामस्वरूप राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती आदि में बौद्ध - केन्द्र के रूप में 'विहार' निर्मित किये गये। कालान्तर में इसका स्वरूप संधायम मे रूपान्तरित हुआ। प्रारम्भिक संरचनात्मक विहारों का निर्माण वटिकाश्म खण्डों से किया गया जिसमें दीर्घ वृत्ताकार विशाल-कक्षायें और लघु सह-कक्षों को आयाम कहा जाता था। इन्हीं विहारों और संधायमों का परवर्ती विकास अन्तर्राष्ट्रीय तथा देशान्तरीय बौद्ध शैक्षिक अध्ययन केन्द्रों के रूप में हुआ। इसी प्रकार शैलकृत - शैलोत्खनित गुफाएं और चैत्य गृह के निकट निर्मित विहार भी बौद्ध शिक्षा-केन्द्र के रूप में कार्य करने लगें। इन प्रमुख विहारों, आयामों एवं संघायमों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है: -

राजगृह

यह पुर अनेक धनी श्रेष्ठियों का आवास था। राजगृह के संथागार में सभाएं होती थीं, जिसमें लोग मिलते थे और लोक कल्याण के साधनों पर परिचर्चा करते थे। यहाँ के निवासी भिक्षुओं की शैक्षिक आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए इस विश्वास से सदैव तत्पर रहते थे कि मोग्गलायन सहित

बुद्ध ने यहीं पर उनका धर्म शिक्षा में परिवर्तन किया था। यहाँ पर उपालि को भी भिक्षु के रूप में दीक्षित-शिक्षित किया गया था। इस नगर में बुद्ध की शैक्षिक क्रियाशीलता उल्लेखनीय है। महावीर ने यहाँ चौदह चातुर्मास व्यतीत किये थे। यह बीसवें तीर्थक का जन्म स्थान था। यहाँ पर बुद्ध ने भी भिक्षुओं को बुलाया और बौद्ध संघ शिक्षा के लिए कल्याण की दशाओं के कई वर्ग निर्धारित किये। मगध नरेश अजात शत्रु ने राजगृह के चारों ओर धातु चैत्य बनवाये और 18 महाविहारों का जीर्णोद्धार कराया।

सारनाथ

"शारंगनाथ" (सारनाथ) स्तम्भ-लेख में 'वाराणसी जिले में स्थित प्राचीन स्थल' सारनाथ का वर्णन है, जो वाराणसी से लगभग सात मील दूरी पर स्थित है। यहाँ पर बौद्ध अवशेषों का एक विशाल संग्रहालय है। सारनाथ शिलालेख धमेख स्तूप के उत्तर से तथा गुप्तकालीन प्राचीन विहारों के अवशेषों पर पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए ऊँचे टीले के दक्षिण से खोद कर निकाला गया था। इसका प्राचीन नाम इसिपत्तन मिगदाय (ऋषिपत्तन मृगदाय) है, जहाँ पर बुद्ध धर्मचक्र - प्रवर्तन किया था। कनिंथम ने इसे उत्तर में विशाल धमेख स्तूप से दक्षिण में चौकुंडी टीले तक लगभग आधी मील तक फैले हुए सुरम्य जंगलों से आच्छादित क्षेत्र से समीकृत किया है। दूसरी शताब्दी ई०पू० में इतिपतन में बौद्ध भिक्षुओं का एक विशाल केन्द्र था।

वैशाली

विशाल नगर वैशाली लिच्छिवियों की राजधानी थी, जो छठवीं शताब्दी ई० पू० में पूर्वी भारत के एक महान एवं शक्तिशाली जन थे। भारतीय इतिहास में यह लिच्छवी राजाओं की राजधानी तथा महान एवं शक्तिशाली वाज्जिसंघ के मुख्यावास के रूप में विश्रुत हैं। कनिंथम ने इस विशाल नगरी तिरहुत को मुजफ्फपुर जिले में स्थित वसाढ़ नामक वर्तमान गांव में समीकृत किया है। पंचवी शताब्दी ई० में चीनी तीर्थयात्री फाह्यान वैशाली आया था।

बुद्ध के निर्वाण प्राप्त कर लेने के पश्चात् वैशाली के प्रति सम्पूर्ण बौद्ध संघों का ध्यान आकर्षित हुआ था। सम्पूर्ण संघों के प्रतिनिधि यहाँ पर मिले थे

और उन्होंने अपने सुख कामी भिक्षुओं के आचरण की भर्त्सना की थी। यहाँ पर बौद्ध-शिक्षा के रूप में वैशाली भारत में प्रसिद्ध थी।

घोषिताराम

'घोषित' नामक एक श्रेष्ठि द्वारा निर्मित यह विहार कौशाम्बी में स्थित था। इस विहार का नामकरण इसके नाम पर हुआ था। हाल में किये गये यहाँ के उत्खननों से एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिससे कौशाम्बी की सीमा पर दक्षिण पूर्वी कोने में स्थित इस प्रसिद्ध आयाम की अवस्थिति बतलाने में सहायता मिलती है। यह स्थान यमुना नदी से अधिक दूर नहीं प्रतीत होता है। यह आयम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात भी आनन्द का प्रिय आवास था। थेरू उरूथम्मक्खित के नेतृत्व में इस आयम के कोई तीस हजार भिक्षु ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में राजा टुट्ठाकामिणी के शासनकाल में लंका गये। जब पांचवीं शताब्दी ई० में फाह्यान कौशाम्बी गया था तथा उसने घोषितयम में अधिकांशत: हीनयान मत के अनुयायी बौद्ध स्थविरों को देखा था। सातवीं शताब्दी ई० में कौशाम्बी जाते युवानच्याड ने देखा कि यहाँ पर पूर्णत: ध्वस्त दस से अधिक संधायम थे। इन दस विहारों में धोषितयम की भी एक था जो कौशाम्बी के दक्षिण पूर्व में स्थित था। अशोक ने घोषितयम के समीप 200 फीट से भी ऊँचा एक स्तूप बनवाया था।

पूर्वायम

जेतवन के उत्तर पूर्व में श्रावस्ती के समीप स्थित यह एक बौद्ध विहार था, जिसका निर्माण निगार नामक श्रेष्ठि की वधू विशाखा ने करवाया था, जिन परिस्थितियों के कारण इस विहार का निर्माण करवाया गया था, उसका वर्णन धम्मपद भाष्य में किया गया है। इस विहार के निर्माण में लकड़ी एवं पत्थर का प्रयोग किया गया था, जो कि पहली एवं दूसरी मंजिलों में असंख्य कमरों से युक्त एक भव्य दुमंजिली इमारत थी। यह विहार पुष्वायम निगारामातुप्रसाद नाम से विदित था बुद्ध ने निगारमाता के प्रासाद में रहते समय अग्गण्ण सुतांत का प्रवचन दिया था।

अशोकायम

अशोक द्वारा निर्मित पाटलिपुत्र में एक बौद्ध संस्थान के भवन की

देखरेख इन्द्रगुप्त नामक एक घेर किया करता था। अशोक के काल में यहाँ पर तृतीय बौद्ध संगीति हुयी थी। अशोक ने अपने एक अमात्य को इस आयम में भेजकर भिक्षु–सम्प्रदाय से उपोसथ समारोह का शुभारम्भ वहीं पर करने का निवेदन किया था। इस आयम में यथार्थ धम्म का संकलन किया गया था। अनेक भिक्षुओं के साथ भितिण्ण नामक एक स्थविर इस आयम से पाटलिपुत्र आया था।

महावोधि विहार

इसका प्राचीन नाम उरूवेला था जो बुद्धघोष के अनुसार एक विशाल रेतीले टीले का वाचक था। समन्तपासादिका के अनुसार जब किसी पुरुष के बुरे विचार उत्पन्न होते थे, तब उसे निकटवर्ती एक स्थान पर मुट्ठी भर बालू ले जाने का आदेश दिया जाता था। इस प्रकार से ले जायी गयी बालू से श्नैः श्नैः एक विशाल टीला बन गया। यह विहार गया से छः मील दक्षिण में स्थित है। बुद्ध गया से गया की दूरी तीन गावुल या छः मील से थोड़ा अधिक थी। इससे बुद्ध गया कहा गया था क्योंकि यहाँ पर गौतम बुद्ध ने प्रसिद्ध वट–वृक्ष के नीचे बोधि या सम्बोधि प्राप्त किया गया था। महानामन के बोधगया अभिलेख में (169वाँ वर्ष) बोध गया के विख्यात बौद्ध–स्थल का वर्णन मिलता था। उस अभिलेख में वट–वृक्ष के चतुर्दिक बने हुए घेरे को 'बोधिमण्ड' कहा गया है। बोध गया अभिलेख के एक अनुलेख से हमें ज्ञात होता है कि कोई चीनी तीर्थयात्री महाबोधि विहार में लटकाने के लिए एक सुवर्ण–रचित काषाय ले आया था।

कुक्कुटायम

यह पाटलिपुत्र में था। मुण्ड नामक एक मगध नरेश यहाँ पर नारद ऋषि को देखने और उनका उपदेश सुनने आया था। ऋषि ने उनको उपदेश दिया और रानी भट्टा की मृत्यु के दुःखों से अभिभूत होने के कारण उसे सान्त्वना दी। तत्पश्चात् उन्होंने सदा की भांति अपने कर्तव्य पालन किये। इस आयम में भट्ट नामक एक भिक्षु रहता था और उसने बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनन्द से बातचीत की थी। बुद्धपोष के अनुसार कुक्कुट सेट्ठा ने इस आयम का निर्माण

कराया था। युवानच्वाड का कथन है कि यह पाटलिपुत्र के प्राचीन नगर के दक्षिण पूर्व में स्थित था और बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् अशोक ने इसका निर्माण करवाया था, दिव्यादवान में प्राय: इसका उल्लेख हुआ है। यह आयम कौशाम्बी में स्थित कुक्कुटयम से भिन्न था।

जेतवन विहार

उत्तर भारत में स्थित यह एक राजसी उद्यान था, जो बुद्ध का एक प्रिय आयम और बौद्ध धर्म का एक प्राचीन शिक्षा केन्द्र था। यह श्रावस्ती (आधुनिक सहेत-महेत) से दक्षिण में एक मील दूर पर स्थित था। श्रावस्ती के अंचल में स्थित यह बौद्ध शिक्षा का एक अधिष्ठान था, जो राजकुमार जेत के सत्कार्यों को अमर बनाये हुए है जिसने महावंशटीका के अनुसार जेतवन - उद्यान की स्थापना की थी। विनय के विवरण के अनुसार श्रेष्ठी ने वहाँ पर अनेक भवन यथा आवास कक्ष (विहार) विश्राम गृह (परिवेण), कोषगृह (कोटठक), अग्निशालाओं, (अग्निशाला) संयुक्त उपत्थानशालाएं, शौचगृह कृटी, कुएं, स्नानागार, तालाब और मण्डप आदि बनवाये। श्रावस्ती के इस स्थल का उल्लेख ल्यूडर्स की तालिका संख्या 731 एवं जातक संख्या 5 में प्राप्त होता है।

नागार्जुनिकोण्ड विहार

यह पहाड़ी आंध्र राज्य के गुंटुर जिले के पालनाड तालुका में स्थित है। यह कृष्णा नदी के दाहिने तट पर छायी हुई है। नागार्जुन पहाड़ी, जो एक विशाल चट्टानी पहाड़ी है मचेरिया रेलवे स्टेशन से 16 मील पश्चिम में स्थित है। नागार्जुनीकोण्ड से प्राप्त अभिलेखों से यह प्रकट होता है कि दूसरी एवं तीसरी शताब्दी ई० में विजयपुरी नामक प्राचीन नगर दक्षिण भारत का सबसे बड़ा एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण बौद्ध सन्निवेश रहा होगा। स्तूप विहार एवं मंदिर बड़ी ईंटों से बने थे, ईंट मिट्टी के गारे से चुनी गयी थी और दीवारों पर पलस्तर था। नागार्जुनीकोण्ड का प्रत्येक विहार स्वयं में पूर्ण था।

कान्यकुब्ज

इसे गधिपुर, कुशस्थल और महोदय भी कहा जाता है। यह एक

आधुनिकतम कन्नौज है। विनय पिटक के अनुसार 'कण्णकुज्ज' या कान्यकब्ज में सेंकस्स से श्रद्धेय थेर खेत थे। युवानच्वान्ग ने कान्यकुब्ज में 100 बौद्ध अधिष्ठान देखे थे। उसके समय में कन्नौज का शासन अधिष्ठान देखे थे। उसके समय में कन्नौज का शासन हर्षवर्धन अपने प्रशासन में न्यायशील एवं कर्तव्य पालन में नियमनिष्ठ था। सत्कार्यों के सम्पादन में वह अपने तन-मन से लीन होता था। गंगा के तट पर उसने अनेक स्तूप एवं बौद्ध विहार बनवाये थे।

मथुरा विहार

मथुरा से प्राप्त एक बौद्ध वेदिका स्तम्भ लेख में धनभूति और वात्सी के पुत्र वाधपाल का उल्लेख सर्वबुद्धों की पूजा के लिए रत्नगृह की वेदिका एवं तोरण के दाता के रूप में किया गया है। तोरण युक्त इस वेदिका का सम्पूर्ण, उसने अपने माता-पिता तथा बौद्ध सम्प्रदाय के चारों वर्गों, भिक्षु-भिक्षुणी उपासक एवं उपासकों के साथ किया था।

बौद्ध धर्म के इतिहास में मथुरा के उपगुप्त विहार का बहुत महत्व है क्योंकि इसी विहार में उन्होंने अनेक लोगों को बौद्ध धर्म के दीक्षित करने में सफलता प्राप्त की थी। मथुरा बौद्ध धर्म, कला, संस्कृति एवं शिक्षा की प्रसिद्ध स्थली थी।

जालंधर विहार

चीनी इसे शो-लान-ता-लो कहते हैं। वहाँ पर पचास से अधिक विहार थे जिनमें 2, 000 से अधिक भिक्षु रहते थे।

ताम्रलिप्ति

ताम्रलिप्ति पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले में रूप नारायण और छुगली के संगम से लगभग 12 मील दूरी पर स्थित तामलुक ही है। यहाँ पांचवीं शताब्दी ईसवी में चीनी तीर्थयात्री फाह्यान और सातवीं शताब्दी ई० पू० में युवानच्वान्ग आया था। उसके अनुसार यहाँ दस से अधिक बौद्ध विहार थे, जिनमें 1000 से अधिक भिक्षु रहते थे। फाह्यान ने ताम्रलिप्ति को चम्पा के पूर्व में 50 योजन दूर पर समुद्र तट पर स्थित बतलाया है। सातवीं शती ई० में इत्सिंग ताम्रलिप्ति के वाराह नामक एक प्रसिद्ध विहार में रहता था। महावंश से

यह ज्ञात होता है कि अशोक के धर्म प्रचारकों ने लंका के लिए इसी बन्दरगाह से प्रस्थान किया था।

शाकत

कनिंघम ने इसे रावी नदी के पश्चिम में स्थित संगलवाला टीला से समीकृत किया है। कुछ विद्वानों ने इसे रयालकोट या मद्रनरेश शल्य के किले से समीकृत किया है। युवानच्वा्न्ग मतानुसार शाकल के प्राचीन नगर शे-की-लो की परिधि लगभग 20 ली थी, यद्यपि उसका प्रकार ध्वस्त हो चुका था, किन्तु इसकी नींव अब भी दृढ़ एवं पुष्ट थी। यहाँ पर एक विहार था जहाँ हीनयान सम्प्रदाय के 100 भिक्षु रहा करते थे। इस विहार के पश्चिमोत्तर में अशोक द्वारा निर्मित कोई 200 फीट ऊँचा एक स्तूप था।

प्रयाग

प्रयाग (चीनी पो-लो-ये किया) आधुनिक इलाहाबाद है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में प्रयाग गंगा तट पर स्थित एक तीर्थ या घाट बतलाया गया है। चीनी यात्री युवानच्वाङ् के समय में इस प्रदेश की परिधि 5000 ली और इसकी राजधानी की 20 ली से अधिक थी।

गंधार विहार

गंधार जन का, जो ऋग्वैदिक युग से विज्ञात एवं प्राचीन जन थे। अशोक के पंचम शिलालेख में गंधार के निवासियों के रूप में किया गया है। इस देश में 1000 से अधिक बौद्ध विहार थे, किन्तु वे पूर्णतः जीर्ण-शीर्ण हो चुके थे। अनेक स्तूप खण्डहर हो गये थे। गंधार की प्राचीन राजधानियाँ पुष्पकलावती और तक्षशिला थीं, जिनमें प्रथम सिंधु नदी के पश्चिम और द्वितीय, सिंधु नदी के पूर्व में स्थित थी।

कुशीनारा

इसका प्राचीन नाम कुशावती है। कनिंघम के अनुसार कुशीनारा को कुशीननगर जिले के पूर्व स्थित कसया से समीकृत किया जा सकता है। इस मत की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि इस गाँव के निकट निर्वाण-मंदिर के पीछे स्थित स्तूप में एक ताम्रपत्र मिला है, जिस पर परनिर्वाण चैत्य ताम्रपट उत्कीर्ण है।

संदर्भ

1. अंगुत्तर निकाय - भिक्खु जगदीश कस्य, नव नालान्दा, महावीर, नालान्दा, 1960।
2. अंगुत्तर निकाय - आर० मोरिस एण्ड ई० हार्डी, पी० टी० एस०, लन्दन, 1982।
3. कथावस्तु - जगदीश कस्सप, नव नालन्दा महाविहार नालान्दा, 1961।
4. खुद्दक निकाय - राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन एवं जगदीश कस्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1937।
5. जातक - भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग, सं० 2008-18।
6. दीघ निकाय - भिक्खु जगदीश कस्सप, नव नालन्दा विहार, नालान्दा।
7. मज्झिम निकाय - राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ बुद्धाण्द, 2508।
8. महापरिनिब्बान सुत्त - भिक्षु धर्मक्षित, वनारस, सं० 2508।
9. महावंश - भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रयाग, 2014।
10. मिलिचन्द्र प्रश्न - भिक्खु ओल्डेन वर्ग, पी० टी० एस० लन्दन, 1879-83।
11. विनय पिटक - राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1935।
12. संयुक्त निकाय - भिक्खु जगदीश कस्सप, भिक्खु धर्मरक्षित सभा, सारनाथ, बुद्धाब्द 2498।
13. अभिधर्म कोश - राहुल सांकृत्यायन, वाराणसी, सं० 1988।
14. अवदान कल्पलता - पी० एल० वैद्य, मिथिलता विद्यापीठ, दरभंगा, 1958।
15. अवदान शतक - पी० एल० वैद्य, मिथिलता विद्यापीठ, दरभंगा, 1958।
16. अशोकावदान - एस० के० मुखोपाध्याय, नई दिल्ली, 1963।
17. पातक माला - सूर्य नारायण चौधरी, संस्कृत भवन, कठौतिया विहार, 1952।
18. दिव्यावदान - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा 1959।
19. बुद्ध चरित - सूर्य नारायण चौधरी, संस्कृत भवन, कठौतिया विहार, 1953।
20. महावस्तु - ई० सेनार्ट, पेरिस, 1882-1897।
21. महायान सूत्र संग्रह - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1961।
22. ललित विस्तर - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, 1958।
23. वज्रसूची उपनिषद - म० प्रज्ञानन्द बुद्ध विहार, लखनऊ, 1960।
24. सद्धर्म पुण्डरीक - नलिनाथ दत्त, कलकत्ता, 1953।
25. लंकावतार सूत्र - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1961।
26. समाधिराज सूत्र - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1961।
27. अम्बेडकर, बी० आर० - बुद्ध एण्ड हिज धम्म, सिद्धार्थ कालेज मुम्बई, 1957।

40

बौद्ध संघ में भिक्षुणियों की स्थिति एवं भिक्षुणी संघ का विकास

राघवेन्द्र प्रताप सिंह

श्रमण परम्परा में भगवान बुद्ध जैसा महान व्यक्तित्व भी नारी जाति को संघ में ससंकोच ही प्रवेश दे पाया। वस्तुतः नारी जाति को प्रव्रजित होने से रोकने के दो कारण थे। प्रथम यह कि पुरुष सदैव से स्त्री को एक भोग्या के रूप में देखता रहा और इसी कारण उसे स्वतन्त्र जीवन जीने के लिए सहमत नहीं हो सका। दूसरा कारण यह था कि नारी जाति के संघ प्रवेश से श्रमण वर्ग के चारित्रिक स्खलन की संभावनाएं अधिक बढ़ जाती थीं। बुद्ध का भिक्षुणी संघ के निर्माण में जो संकोच था, उसका मूल कारण यही था। किन्तु दूसरी ओर अनेक विवशतायें भी थीं जिनके कारण धर्मशास्त्राओं को भिक्षुणी संघ का निर्माण करना पड़ा। पति के प्रव्रजित होने पर अथवा पति एवं पुत्र की मृत्यु हो जाने पर नारी को सम्मानपूर्ण जीवन जीने के लिए भिक्षुणी बनना एकमात्र विकल्प था। यही कारण है कि भिक्षु संघ की अपेक्षा भिक्षुणी संघ की सदस्य संख्या में सदैव अभिवृद्धि होती रही।

बौद्ध संघ भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिका भागों में विभाजित था, परन्तु संघ के मूल स्तम्भ भिक्षु-भिक्षुणी ही थे। बौद्ध संघ में भिक्षुओं की तुलना में भिक्षुणियों की स्थिति निम्न दिखलाई देती है। सौ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी को सद्यः उपसम्पन्न भिक्षु को अभिवादन करना, अंजलि जोड़ना तथा उसके सम्मान में खड़ा होना पड़ता था।[1] इसके विपरित भिक्षु किसी भी भिक्षुणी के सम्मान में न तो खड़ा होता था और न ही अंजलि जोड़ता था। यदि

भिक्षु किसी भिक्षुणी को सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अभिवादन करता था, तो वह दोषी माना जाता था।[2] यहाँ हम देखते हैं कि योग्यता को बिल्कुल महत्व नहीं दिया गया है, केवल लिंगभेद के आधार पर ही ज्येष्ठता का निर्धारण किया गया है। बौद्ध संघ में इस अनुचित नियम के विरोध में भिक्षुणियों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया के भी दर्शन होते हैं। अष्टगुरुधर्म स्वीकार कर लेने के उपरान्त महाप्रजापति गौतमी ने बुद्ध से यह अनुमति चाही थी कि भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य अभिवादन-अभ्युत्थान तथा चीकर्म (कुशल-समाचार पूछना) ज्येष्ठता के अनुसार हो, लिंग के आधार पर नहीं।[3] गौतमी द्वारा उठाया गया यह प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण था, जिसका दूरगामी प्रभाव पड़ता। लेकिन बुद्ध ने अपनी विमाता के इस तर्क को स्वीकार नहीं किया तथा कठोरतापूर्वक यह नियम बनाया कि अभिवादन वन्दना आदि भिक्षुणियों को ही करना चाहिये। संभवतः बुद्ध ने संघ में भिक्षुणियों की उच्च स्थिति को इसलिए नहीं स्वीकार किया कि इससे सामाजिक संतुलन को खतरा उत्पन्न हो सकता था। संघ में स्त्रियों को प्रवेश आनन्द के कहने पर मिला था। लेकिन अगर संघ में स्त्रियों को अधिक सम्मान मिलता तो संभव था कि गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रही स्त्रियां व्यापक सम्मान की आकांक्षा से वशीभूत होकर संघ प्रवेश की अनुमति मांगने लगें।

उपसम्पदा के उपरान्त भिक्षुणियों को तीन निश्रय तथा आठ अकरणीय[4] धर्म बतलाये जाते थे। ये आठ अकरणीय धर्म पाराजिक प्रायश्चित के ही दूसरे नाम थे। पाराजिक बौद्ध संघ का सबसे कठोर दण्ड था, जिसमें भिक्षुणी सदा के लिए संघ से निष्कासित कर दी जाती थीं। वह अभिक्खुनी कहलाती थी। उसकी तुलना सिर कटे हुए व्यक्ति से की जाती थी।[5] स्पष्ट है कि अकरणीय धर्म के माध्यम से अधिक कठोर प्रतिबन्ध में रखने की कोशिश की गयी थी। इस नियम के अनुसार भिक्षुणियों को भिक्षु संघ के साथ वर्षावास करने का विधान था।[6] भिक्षुणियों को अकेले यात्रादि करना निषिद्ध था। उन्हें जंगल में रहने की अनुमति नहीं थी।

उपर्युक्त नियम नारी-प्रकृति को ही ध्यान में रखकर बनाये गये थे तथा उसमें भिक्षुणी की चारित्रिक सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण था। भिक्षुणियों को अरण्यवास आदि की आज्ञा देने पर उनके शील-अपहरण आदि का क्षय था।

एक बार भिक्षुणी संघ अस्तित्व में आ गया तो अनुकूल परिस्थितियों को पाते ही इसका विकास तीव्र गति से हुआ। यद्यपि बौद्ध धर्म की भिक्षुणी संघ की स्थापना भिक्षु संघ की स्थापना के बाद और वह भी सन्देहशील वातावरण में हुई थी, परन्तु कुछ समय के अनन्तर ही यह बौद्ध संघ का एक आवश्यक अंग हो गया और बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

द्वितीय बौद्ध संगीति के बाद बौद्ध धर्म एक एकीकृत (अखण्ड) धर्म के रूप में नहीं रह गया था, अपितु कई निकायों में विभाजित हो गया था। बाद में विभाजित बौद्ध धर्म का चित्र ही हमारे सामने उपस्थित होता है। अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में बिकसित 18 निकायों का पता चलता है। अतः हम कहते सकते हैं कि वास्तविक अर्थों में बाद में बौद्ध धर्म का इतिहास निकायों का इतिहास है। इसी प्रकार बौद्ध भिक्षुणी संघ का विकास भी उन्हीं बौद्ध निकायों का विकास है जिसकी वे सदस्या थीं। यद्यपि किसी भिक्षुणी के किसी विशेष निकाय के संघ में प्रविष्ट होने अथवा उनका सदस्य बनने का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसे स्थानों से प्राप्त भिक्षुणियों से सम्बन्धित अभिलेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे उस स्थान पर विकसित निकाय की सदस्यायें थीं।

भारत भर में बिखरे हुए अभिलेखों के प्राप्ति स्थल एवं ग्रन्थों विशेषकर थेरीगाथा की अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) के माध्यम से बौद्ध भिक्षुणी संघ के प्रसार को देखा जा सकता है। अभिलेखों में भिक्षुणियों द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है। अतः जिन स्थानों पर भिक्षुणियों के दानों का उल्लेख है, वहाँ-वहाँ भिक्षुणियों अथवा उनका कोई छोटा या बड़ा संघ अवश्य रहा होगा।

सांची,[7] सारनाथ,[8] कौशाम्बी[9] एवं भाब्रू[10] (जयपुर के पास वैराट) में प्राप्त अशोक के अभिलेखों में उत्कीर्ण 'भिक्षुणी' तथा 'भिक्षुणी संघ' शब्द यह स्पष्ट द्योतित करता है कि तृतीय शताब्दी ई० पू० के समय तक ये स्थल भिक्षुणी केन्द्र के रूप में स्थापित हो चुके थे। सांची, सारनाथ एवं कौशाम्बी के अभिलेखों में बौद्ध संघ में भेद पैदा करने वाले भिक्षु-भिक्षुणियों को चेतावनी दी गयी है। सारनाथ परवर्ती काल में भी एक प्रसिद्ध भिक्षुणी केन्द्र के रूप में बना रहा। प्रथम शताब्दी के एक लेख[11] में भिक्षुणी बुद्धमित्रा को 'त्रिपिटिका'

कहा गया है, जो अपने आचार्य बल के समान तीनों पिटकों में पारंगत थी। संभवतः सारनाथ भिक्षुणियों की शिक्षा का भी महान केन्द्र था।

उत्तर भारत में श्रावस्ती बौद्ध भिक्षुणियों का एक अन्य महत्वपूर्ण स्थल था। श्रावस्ती (आज का सहेत-महेत) कौशल का प्रमुख नगर था। बुद्ध कालीन कौशल नरेश प्रसेनजित के साथ ही भिक्षुणी खेमा का प्रसिद्ध दार्शनिक वार्तालाप हुआ था।[12] श्रावस्ती में ही जेतवनविहार एवं भिक्षुणियों का प्रसिद्ध राजकाराम विहार था। संभवतः प्रसेनजित ने गौतमी महाप्रजापति के लिए एक विहार बनवाया था, जिसके भग्न खण्डहरों को फाहयान[13] एवं हवेनसांग[14] दोनों ने देखा था।

बौद्ध धर्म में कपिलवस्तु का अपना एक अलग महत्व था। यहाँ बुद्ध की जन्मस्थली थी। बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना का सर्वप्रथम प्रयास गौतमी महाप्रजापति ने यहीं पर किया था।

बौद्ध भिक्षुणियों के लिए वैशाली भी एक महत्वपूर्ण नगर था। यहीं पर आनन्द के कहने पर बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना के लिए अनुमति प्रदान की थी। बौद्ध भिक्षुणी आम्रपाली ने बुद्ध को यहीं पर दान दिया था। वहीं पर निर्मित एक स्तम्भ का उल्लेख फाहयान[15] एवं ह्वेनसांग[16] दोनों ने किया है।

मथुरा भी बौद्ध भिक्षुणियों का एक प्रमुख स्थल था। यहाँ आनन्द के स्तूप की भिक्षुणियाँ पूजा करती थीं।[17]

पश्चिमी भारत में भी बौद्ध भिक्षुणियों का प्रसार प्रथम शताब्दी ईस्वी तक पूर्ण हो चुका था। कन्हेरी, कार्ले, भाजा, कुदा, नासिक, जुन्नार आदि से प्राप्त अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि ये स्थल भिक्षुणियों के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में शताब्दियों तक वर्तमान रहे। कन्हेरी से प्राप्त एक अभिलेख में एक भिक्षुणी को थेरी कहा गया है।[18] यह विशेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि किसी भी अन्य अभिलेखों में हम भिक्षुणी के लिए 'थेरी' शब्द नहीं पाते।

दक्षिण भारत में बौद्ध भिक्षुणियों का सर्वाधिक प्रसिद्ध स्थल था अमरावती। यहाँ भिक्षुणियों द्वारा दिये गये दोनों की एक लम्बी सूची मिलती है। यहाँ एक भिक्षुणी बोधि को 'भदन्ती[19]' विशेषण से सम्बोधित किया गया है जो कन्हेरी

के 'थेरी' शब्द के ही समान था। भिक्षुणी के लिए 'भदन्ती' शब्द का प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

यह शिक्षा का भी एक प्रमुख केन्द्र था। विनयधर आर्य पुनर्वसु की शिष्या समुद्रिका का उल्लेख है जिसे उपाध्यायिनी कहा गया है।[20] स्पष्ट है कि भिक्षुणियां विद्या के क्षेत्र में अग्रणी थीं। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में किसी भी भिक्षुणी के लिए उपाध्यामिनी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। जबकि कुछ भिक्षुणियों को त्रिपिटिका[21] तथा कुछ को सूतातिकिनी[22] कहा गया है अर्थात् वे तीनों पिटकों एवं सूत्रों में पारंगत थीं। अमरावती से ही प्राप्त एक अभिलेख में एक भिक्षुणी बुद्धरक्षिता को नवकम्मक[23] कहा गया है जो विहारों आदि के निर्माण कराने का कार्य करती थी। यहाँ दान देने में भिक्षुणियां भिक्षुओं से आगे थीं।

दक्षिण भारत में नागार्जुनीकोण्डा भी बौद्ध भिक्षुणियों का प्रसिद्ध केन्द्र था।

परन्तु इसके पश्चात् भिक्षुणी संघ का धीरे-धीरे ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का विचार है कि भिक्षुणी संघ चौथी शताब्दी तक समाप्त हो गया था।[24] परन्तु उनके इस कथन से सहमत होना कठिन है। बौद्ध भिक्षुणियों के अस्तित्व की सूचना सातवीं - आठवीं शताब्दी तक प्राप्त होती हैं। चीनी यात्रियों फाहयान,[25] ह्वेनसांग[26] एवं इत्सिंग[27] ने बौद्ध भिक्षुणियों का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त सातवीं-आठवीं शताब्दी में रचित संस्कृत साहित्य से भी बौद्ध भिक्षुणियों की सूचना मिलती है। बाणभट्ट[28] ने भी बौद्ध भिक्षुणियों के वर्तमान होने का उल्लेख किया है। हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री भिक्षुणी होना चाहती थी। आठवीं शताब्दी में भवभूति[29] ने मालतीमाधव नामक नाटक में सौगत परिव्राजिका कामन्दकी का उल्लेख किया है। इसी प्रकार सुबन्धु[30] (जिनका समय कुछ विद्वान हर्ष के पूर्व तथा कुछ पश्चात् बताते हैं) ने अपने वासवदत्ता नामक ग्रन्थ में एक बौद्ध भिक्षुणी का वर्णन किया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध भिक्षुणियों के वर्तमान होने की सूचना मिलती है। आठवीं शताब्दी के पश्चात् कोई भी ऐसा

साक्ष्य नहीं है जो बौद्ध भिक्षुणियों के वर्तमान होने की सूचना दे। यह सम्भव है कि इसके पश्चात् भी छिट-पुट कुछ भिक्षुणियां रही हों, परन्तु उनके सम्बन्ध में हमें कोई साक्ष्य नहीं प्राप्त होता है। अतः भारत में बौद्ध भिक्षुणियों के अस्तित्व की यही अन्तिम सीमा मानी जा सकती है।

संदर्भ

1. डॉ० अरुण प्रताप सिंह, जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, वाराणसी, 1986, पृ० 191
2. चुल्लवग्ग, नालन्दा, 1956, पृ० 378
3. वही
4. वही, पृ० 374-75
5. सीसच्छिन्नों अभब्बोतेन सरीरबन्धनेन जीवितुम, पाचितिप पालि, नालन्दा, 1958, 287
6. डॉ० अरुण प्रताप सिंह, वही, पृ० 192
7. कार्पस इन्स्क्रीपंशनम इण्डीकेरम, भाग 1, पृ० 160
8. वही, पृ० 161
9. वही, पृ० 159
10. वही, पृ० 172
11. लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इंस्क्रिपशंस, पृ० 925
12. संयुक्त निकाय, अनुवाद भिक्षु जगदीश काश्यप, वाराणसी, 1954, 42/1
13. बुद्धिस्ट रिकार्डस ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग 1, पृ० 25
14. वही, भाग 3, पृ० 260
15. वही, भाग 1, पृ० 32
16. वही, भाग 3, पृ० 309
17. वही, भाग 1, पृ० 22, एवं वही, भाग 2, पृ० 213
18. लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इंस्क्रिपशंस, पृ० 1006
19. वही, पृ० 1240
20. वही, पृ० 1286
21. वही, पृ० 319
22. वही, पृ० 38
23. वही, पृ० 1250
24. डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर, एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया, वाराणसी, 1944, पृ० 220

25. बुद्धिस्ट रिकार्ड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग 1, पृ० 22
26. वही, भाग 2, पृ० 213
27. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 25, पृ० 34
28. बाणभट्ट, हर्षचरित, अष्टम उच्छ्वास
29. डॉ० अरुण प्रताप सिंह, वही, पृ० 212
30. वही

41

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन परम्परा का प्रभाव

निर्मला शुक्ला

जैन धर्म एवं बौद्ध का अभ्युदय और विकास भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण देन है। इनके द्वारा विहित सिद्धान्त, आदर्श और परम्पराएं आज भी भारतीय संस्कृति की अमूल्य विरासत हैं। बौद्ध एवं जैन दोनों ही धर्म निवृत्तिमार्गी हैं जिसमें सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति की अपेक्षा त्याग को महत्व दिया गया है। यद्यपि उपनिषदों में इस प्रवृत्ति का प्राधान्य है। फिर भी भारतीय संस्कृति में इसकी विशद् अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन दोनों परम्पराओं का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में स्वतन्त्र एवं तार्किक चिन्तन को महत्व देकर बौद्धिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया गया। बुद्ध ने अपने धर्म के लिए **एहिपैसिक** शब्द प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ है – **आओ और देखो** अर्थात् किसी बात को इसलिए स्वीकार नहीं करना चाहिये कि परम्परा में ऐसा कहा गया है, बल्कि स्वयं विवेक से सत्य की परख करके उसे *स्वीकार करना भारतीय संस्कृति में इन दोनों का मुख्य योगदान है। जैन एवं* बौद्ध परम्पराओं में **नैतिक आचरण** और सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया गया है।[1] जैन धर्म के **सम्यक् चरित्र** एवं **पंचमहाव्रत** की अवधारणा और बौद्ध धर्म के **दस शील** इसी से सम्बन्धित हैं।

प्राचीन काल से मथुरा भारतीय संस्कृति का प्रभावशाली केन्द्र रहा है। **वृहल्कल्पभाष्य** की अनुभूति के अनुसार इस नगर के 96 ग्रामों में लोग अपने घरों के द्वारों में ऊपर तथा चौराहों पर जिन मूर्तियों की स्थापना करते थे। सिन्धु

सभ्यता के महान् अन्वेषक **सर जान मार्शल** का यह विश्वास रहा है कि सिन्धु संस्कृति यज्ञप्रधान **वैदिक संस्कृति** से सर्वथा भिन्न रही है। उन्होंने मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ मुहरों पर जैन प्रभाव को इंगित करते हुए लिखा है कि तीन मुहरों पर जैन तीर्थंकरों की **कायोत्सर्ग** मुद्रा में खड़े विवस्त्र वृक्ष देवता दिखायी देते हैं।[2]

जैन धर्म में मूर्ति पूजा का विधान भाव शुद्धि के लिए किया गया था। **तीर्थंकर** प्रतिमाएं सांसारिकता में लिप्त मानव समाज को आत्मानुसंधान के लिए प्रेरित करती हैं। भारतवर्ष में जैन मन्दिर एवं मूर्तियां की अनवरत परम्परा को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्यबोध में अग्रणी जैन समाज अपने आराध्य पुरुषों की पूजा, आत्मशान्ति एवं गुरु भक्ति के लिए मन्दिरों का निर्माण करने में सर्वप्रमुख रहा है। जैन मन्दिर और मूर्तिकला के क्रमिक विकास के अध्ययन से यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है कि उदार एवं धर्मनिरपेक्ष शासकों के राज्यकाल में देश समृद्ध होता है और कलाओं के विकास को बल मिलता है। **जैन साहित्य** और पुरातत्व के आधार पर कहा जा सकता है की जैन धर्म अपनी उदार दृष्टि एवं जीवन मूल्यों के कारण सनातन काल से मानव मात्र के धर्म के रूप में जाना जाता है। भारतीय सम्पदा की दृष्टि से भारतवर्ष का जैन समाज सनातन काल से समृद्ध रहा है। जैनियों की विशेष देन **साहित्य एवं कला** के क्षेत्र में रही। जैन आगम ग्रन्थ की कुल संख्या 45 है इन ग्रन्थों को छः विभागों में विभक्त किया गया है- ग्यारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छः छेदिसूत्र, चार मूलसूत्र हैं।[3] जैन धर्म का अनेकान्तवाद और स्याद्वाद का सिद्धान्त धार्मिक एवं वैचारिक सहिष्णुता का प्रतीक हैं। जैन मन्दिरों का कलाशिल्प दिलवाड़ा, रणकपुर, पालिताना एवं पावा के मन्दिरों से सुस्पष्ट है। जैन ग्रन्थों में आगम के अतिरिक्त त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरितम्, कुवलयमाला उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध धर्म का देश की संस्कृति, विचारधारा और जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ढाई हजार साल से भी अधिक समय तक बौद्ध धर्म का इस देश में प्रचलित रहा। इस सुदीर्घ काल में इस धर्म ने यहाँ के सामाजिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया कि वर्तमान में भी विश्व के अनेक देशों में बौद्ध

धर्म की प्रांसगिकता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को अनुप्राणित करती है। बौद्ध धर्म ने सर्वप्रथम भारतीयों को एक सरल तथा आडम्बररहित धर्म प्रदान किया जिसका अनुसरण राजा-रंक, ऊँच-नीच सभी प्रकार से कर सकते थे। बौद्ध धर्म में आध्यात्मिक आत्मनिर्भरता पर काफी जोर दिया गया। इसकी वजह से लोग परम सुख की प्राप्ति के लिए इसका महत्व समझने लगे। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण जिन्दा रहते हुए भी अनुभूत किया जा सकता है। भारतीय **दर्शनशास्त्र** का विकास प्राचीनकाल से बाद के कालों तक बौद्ध धर्म का विकास जारी रहा। बौद्ध दर्शन का विकास चार भागों में हुआ - वैभाषिक दर्शन के अनुसार यह संसार सत्य है और निर्वाण भी सत्य है अतः इस दर्शन को सर्वास्तिवादी भी कहते हैं।[4] वैभाषिक दर्शन पर विशाल साहित्य संघभद्र, वसुमित्र, यशोमित्र, और दिङ्नाथ के नाम उल्लेखनीय है। वैभाषिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्त आर्य धर्म कहलाये पच्च स्कन्ध, द्वादश आयतन, अठारह धातु असंस्कृत धर्म, संस्कृत धर्म, चित, चैत, चितविप्रयुक्त धर्म, **सोत्रान्तिक दर्शन** के अनुसार यह संसार सत्य है, किन्तु निर्वाण असत्य है। **योगाचार दर्शन** के अनुसार संसार असत्य है और निर्वाण सत्य है। **वेदान्त** का प्रतिपादन जिस रूप में **शंकराचार्य** ने किया, वह **उपनिषदों** व **ब्रह्मसूत्रों** के वेदान्त से अनेक अंशों से भिन्न है। भारतीय समाज में संघ और संघाराम का प्रचलन बौद्धों ने प्रारम्भ किया, जिसमें हजारों सन्यासी या साधु एक साथ निवास किया करते थे।[5] बौद्ध से पूर्व भारत में मठों या विहारों की प्रथा नहीं थी। उस युग में अरण्यों में आश्रमों की सत्ता अवश्य थी, जिनमें तत्वचिन्तक ऋषि-मुनि अपने पुत्र-कलत्र के साथ निवास करते थे और ज्ञानपिपासुओं को उपदेश दिया करते थे। बौद्ध धर्म की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भारतीय संस्कृति की देन **कला** एवं **स्थापत्य** के विकास में रही। इस धर्म की प्रेरणा पाकर शासकों एवं श्रद्धालु जनता द्वारा अनेक स्तूप, विहार, चैत्यागृह, गुहायें, मूर्तियां आदि निर्मित की गयी जिसमें सांची, सारनाथ, भरहुत, अजन्ता की गुफाएं, बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियां निर्मित की गईं, एवं गान्धार, मथुरा, अमरावती, नासिक, कार्ले, भाजा आदि बौद्धकला के प्रमुख केन्द्र थे। अजन्ता की दीवारों पर विविध-प्रकार के रंग-बिरंगे चित्रों को सजीवता के साथ उकेरा गया है। बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध विभिन्न देशों में स्थापित हुआ। भारत के बौद्ध

भिक्षुओं ने तीसरी सदी ई० पू० से विदेशों में जाकर बौद्ध धर्म और सिद्धान्त का प्रचार किया।

अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए लंका भेजा था। इस युग में अनेक बौद्ध प्रचारक तिब्बत, चीन, और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में गये थे। पश्चिम में यूनान आदि देशों में भी अशोक के प्रतिनिधि भेजे गए थे। परिणाम यह हुआ कि विदेशों से बौद्ध अनुयायियों का भारत आना प्रारम्भ हो गया। उनके भारत आने का मुख्य उद्देश्य था बौद्ध धर्म के तीर्थस्थानों की यात्रा करना और तत्सम्बन्धी साहित्य संकलित करना।[6] इस प्रकार धर्म के माध्यम से बड़े स्तर पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ तथा दूसरे देशों में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ।

भारत और भारत के बाहर देशों में अहिंसा और दया की भावना का प्रसार बौद्ध धर्म के ही माध्यम से हुआ था। बौद्धों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए कभी पाशविक बल का उपयोग नहीं किया। सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना ही उनकी लोकप्रियता में प्रधान कारण हुई। बौद्ध धर्म के उपदेश तथ सिद्धान्त पाली भाषा में लिखे गये जिससे पाली भाषा एवं साहित्य का विकास हुआ। बौद्ध संघों की व्यवस्था जनतन्त्रात्मक प्रणाली पर आधारित थी। इसके तत्वों को हिन्दू मठों तथा बाद में राजशासन में ग्रहण किया गया।

भारत में विद्या और ज्ञान के विकास में भी बौद्धों का अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान रहा। संस्कृत व्याकरण में चन्दगोमि की व्याकरण का अपना विशेष स्थान है, संस्कृत में अत्यन्त प्रसिद्ध कोश '**अमरकोश**' के रचयिता **अमरसिंह** बौद्ध थे। आयुर्वेद की रसायन शाखा के विकास में **आचार्य नागार्जुन** ने महत्वपूर्ण कार्य किया। **कालिदास** से पूर्व महाकवि '**अश्वघोष**' ने '**बुद्धचरित**' और '**सौदरानन्द**' जैसे '**महाकाव्य**', और '**राष्ट्रपाल**' व '**सारिपुत्र**' जैसे नाटक लिखकर संस्कृत काव्य की उस धारा को प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर **कालिदास** और **भवभूति** ने बहुत उन्नत किया। **हर्ष** ने '**नागानन्द**' लिखकर बोधिसत्व का आदर्श चित्रण किया।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि बौद्ध एवं जैन धर्म का भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा है।

संदर्भ

1. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 135
2. सत्येकतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, पृ० 48, 2002
3. जयशंकर प्रसाद, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 844, 2006
4. दिव्यावदान, 166/32
5. लोफमैन, ललित० 130/15-16
6. वी० डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 151

42

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध परंपरा का प्रभाव

ब्रह्मानंद सिंह

विश्व की सभ्यताओं के इतिहास के भारतीय सभ्यता की अपनी अलग पहचान एवं विशिष्ट महत्व है। यहाँ के दीर्घकालीन सांस्कृतिक परंपरा का विकास इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में, अलग भौगोलिक क्षेत्रों में अनेक स्रोतों से हुआ। इसके संविन्यास में विविध रूपांकन, रंग और सूत्र प्रविष्ट हुए। प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे भारतीय संस्कृति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं : भारतीय संस्कृति एक सुगठित एकाश्म नहीं है और साथ ही उसमें अपरिवर्तनीय निरंतरता भी नहीं है। इसकी तुलना एक वृक्ष से करना भी उचित नहीं है, क्योंकि वह एक बीज से पैदा नहीं हुयी है और न इसकी साझी जड़ें और साझा तना है, न ही यह विकास के बाद निकलने वाली शाखाओं से सावयवी रूप से जुड़ी है। भारतीय संस्कृति की एक नदी के रूप में कल्पना कर पाना उचित होगा। अनेक स्रोतों धाराओं, छोटी नदियों आदि के भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलने से एक मुख्य धारा बनीं है और यह मुख्य विशाल धारा विभिन्न छोटी धाराओं की पहचान को छिपा नहीं पाती है जिनके जल से इनका निर्माण हुआ है। समकालीन भारतीय संस्कृति अपनी चित्रवर्ण योजनाओं में रंगों की विविधता के कारण अधिक समृद्ध है। यह सैकड़ों लोक रूपों और साथ ही अनेक उपसांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं का प्रतिनिधित्व करती है, जो प्रकार्यात्मक और संतुलित एवं सामंजस्य पूर्ण प्रतिरूपों में एक साथ घुल-मिल गये हैं।[1] वस्तुतः समकालीन भारतीय संस्कृति संश्लिष्ट और मिश्रित है। परिवर्तन भारतीय सांस्कृतिक-परंपरा का उतना ही महत्वपूर्ण अंग है

जितना उसकी निरंतरता। भारत में अस्वीकृति की प्रबल धारायें प्रवाहित हुयी हैं तथा विरोध और सुधार के प्रभावशाली आंदोलन भी हुए हैं। भारतीय समाज बदलते हुए ऐतिहासिक संदर्भों और आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों के समीकरणों से प्रभावित होता रहा है। वह परिस्थितियों से ऊपर उठता रहा है और विकसित होता रहा है।[2]

भारतीय इतिहास में छठी सदी ईसापूर्व का काल एक नूतन युगांतरकारी बौद्धिक एवं आर्थिक क्रांति के सूत्रपात का युग रहा है।[3] इसी समय बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का आर्विभाव हुआ जिसने संसार को सत्य एवं अहिंसा का वह संदेश दिया जो भव-व्याधि से पीड़ित मानव समाज के लिए वरदान हो गया। बुद्ध के संदेश उत्तुंग हिमगिरि तथा उत्ताल जलधि-तरंगों का अतिक्रमण कर अनेक देशों में प्रसारित हुए। उन्होंने धार्मिक जगत को संघीय जीवन पद्यति दी जिसका अवान्तरकालीन सम्प्रदायों में बड़ा प्रभाव पड़ा। बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों तथा अंधविश्वासों के प्रतिकार का मार्ग प्रशस्त किया। जातिवाद का सर्वप्रथम विरोध गौतमबुद्ध ने किया। उन्होंने वेद तथा ब्राह्मण की प्रभुता को चुनौती दी। उन्होंने धर्म-उपदेश जनता की भाषा में दिये अतः वे सभी के लिए बोधगम्य हो सके। ब्राह्मण ग्रन्थ दुरूह होने के कारण जनता के लिए दुर्बोध हो गये थे। अतः नवीन विचारों का जनमानस पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा। बुद्ध के उपदेशों का राजा तथा जनता दोनों ने स्वागत किया।

एक धर्म के रूप में बौद्ध धर्म की महत्ता उसके करूणा, मानवता और समता सम्बन्धी विचारों के कारण है। बौद्ध धर्म एक आकस्मिक घटित व्यापार नहीं था। वैदिक यज्ञवाद और बुद्ध-पूर्व काल से लेकर बुद्ध के काल तक प्रचलित दार्शनिक चिंतनों की पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों की कथा जैसा कि वह पालि-ग्रंथों में वर्णित है, उनके देवत्व के स्थान पर उनकी मानवता पर अधिक आश्रित हैं। बुद्ध के कर्म-सम्बन्धी विश्वास का एक विशेष समाजशास्त्रीय महत्व है, क्योंकि वह व्यक्ति के अपने कर्म को उसके जन्म (जाति) से अधिक महत्व देता है। आगे चलकर बौद्ध धर्म मे एक महान परिवर्तन आया। नैतिक धर्म के अपने प्रारम्भिक

स्वरूप से बौद्ध धर्म में एक महान परिवर्तन आया। नैतिक धर्म के अपने प्रारम्भिक स्वरूप से बौद्ध धर्म का परिवर्तन महायान के सिद्धांत के रूप में हुआ, जिसने बुद्ध का दैवीकरण किया और बुद्ध के शरीर की पूजा करना धर्म का एक प्रमुख अंग हो गया। बुद्ध के अनुयायी को अब आत्म-विमुक्ति की उतनी चिंता नहीं रही। उसने अपने साथी प्राणियों के प्रति करूणा के कारण अपनी विमुक्ति को उस समय तक दूर रखना पसंद किया, जब तक सब प्राणी अपनी विमुक्ति प्राप्त न कर लें। इसके लिए उसने बार-बार जन्म लेकर दूसरों के लिए जीना-मरना अधिक अच्छा समझा, ताकि इस प्रकार वह दूसरों की विमुक्ति में सहायक हो सके। इस प्रकार आत्मविमुक्ति-रत निवृत्ति के स्थान पर दूसरों की सहायता और सेवा पर आश्रित प्रवृत्ति (बोधिसत्व की अवधारणा) का आदर्श सामने आया और इसे समाज का अधिक संरक्षण मिला।[4]

सामान्यतः इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं कि भारत अपनी अभिघटन कलाओं के आरम्भ के लिए बौद्ध धर्म का ऋणी है। भारत या उसके बाहर जहाँ कहीं भी बौद्धधर्म का प्रसार हुआ, वहाँ बौद्ध धर्म वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। तृतीय शताब्दी ई० पू० से तृतीय सदी तक के समय में बौद्ध कला का बौद्ध धर्म की प्रेरणा से अद्‌भुत विकास हुआ। जिससे भारतीय संस्कृति संवृद्ध एवं उन्नत होती रही। अनेकानेक बौद्धविहारों, संघारामों, स्तूपों एवं चैत्यों का निर्माण इस युग में हुआ। सांची का बौद्ध स्तूप बौद्ध कला में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। सारनाथ का सिंह शीर्ष तथा रामपुरवा का पाषाण - वृषभ अपने ओज और अभिव्यक्ति के कारण मौर्ययुगीन मूर्तिकारी की श्रेष्ठतम कलाकृति माने जाते हैं। बौद्ध धर्म के प्रभाव के परिणाम स्वरूप द्वितीय सदी ई० पू० में सांची, भरहुत, अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा की समृद्ध मूर्तिकारी की परंपरा प्रचलित हुयी। आगे प्रथम शताब्दी ई० पू० में मूर्तिकला की एक शानदार और सर्जक परंपरा मथुरा एवं गांधार में विकसित हुयी जिसका पूर्ण विकास गुप्त युग (चौथी-पांचवी शताब्दी) में हुआ। मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र कला केंद्रों की बुद्धमूर्तियां इस पूरे युग के आदर्शों का प्रतिनिधि स्वरूप हैं। गुप्त एवं गुप्तोत्तरकाल की बुद्ध की कांस्य प्रतिमाएं अधिक लोकप्रिय हुयीं। जातकों में और अन्य बौद्ध साहित्य में

चित्रकला संबन्धी अनेक निर्देश मिलते हैं। बौद्ध चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण बाघ और अजंता की गुहाओं में मिलते हैं।

बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक संबंध विभिन्न देशों में स्थापित हुआ। भारत के बौद्ध भिक्षुओं ने तीसरी सदी ई० पू० से विदेशों में जाकर बौद्ध धर्म और सिद्धान्त का प्रचार किया। स्वयं मौर्य शासक अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए श्री लंका भेजा था। यही नहीं उसके युग में अनेक बौद्ध प्रचारक तिब्बत, चीन, और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में गये। पश्चिम में यूनान आदि देशों में भी अशोक के प्रतिनिधि भेजे गये थे।[5] इस प्रकार मौर्य युग और उसके बाद से विभिन्न देशों में बौद्ध प्रचारकों ने जाकर बौद्ध धर्म और ज्ञान की ज्योति जलायी। परिणामस्वरूप विदेशों से बौद्ध अनुयायियों का भारत आना प्रारम्भ *हो गया। उनके भारत आने का मुख्य उद्देश्य था बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करना और बौद्ध धर्म से संबंधित साहित्य संकलित करना। इस प्रकार* बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक आदान-प्रदान दूसरे देशों में स्थापित हुआ। बौद्ध धर्म ने अपने अहिंसा और प्राणियों के प्रति दया की भावना से बड़े-बड़े शासकों को प्रभावित कर उनकी राजनीतिक प्रसारवादी महत्वाकांक्षा को अवरुद्ध किया तथा उनके सम्पूर्ण जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। महान मौर्य सम्राट अशोक के मन और मस्तिष्क को इस धर्म ने पूर्णतः बदल दिया तथा उसे साम्राज्यवादी क्रियाओं से विमुख कर अहिंसात्मक और करूणाजनित तथा प्रजाहितकारी कार्यों की ओर उन्मुख किया। उसके बाद अनेक सम्राटों ने बौद्ध धर्म के अहिंसा और दया की शिक्षा का अनुसरण किया।

प्रारम्भिक बौद्ध विहारों में शिक्षण[6] नवदीक्षित भिक्षु को जीवन के लिए आवश्यक ज्ञान से संबद्ध रहा, जैसे - विनय और गाथाएं, जातक कथाएं, प्रार्थनाएं, मूल तत्व और दर्शन। यह शिक्षा बार-बार मूल पाठ के सामूहिक रूप से उच्चारण या संगीति यानि एक साथ मिलकर गा-कर याद की जाती थी। इन सबका उद्देश्य था मूल पाठों को कंठस्थ करना। विनयपिटक से बौद्ध धर्म की आरंभिक शिक्षा पद्धति की जो रूपरेखा ज्ञात होती है उससे यह स्पष्ट

होता है कि वाद-विवाद, शास्त्रार्थ, खण्डन की अत्यधिक स्वतंत्रता प्रत्येक भिक्षु को इन बौद्ध विहारों में दी गयी थी। संघ के सामने औपचारिक रूप से अपने मतभेद रखने की पद्धति के नियम बने थे परंतु संघ का अंतिम निर्णय भी जो कि संघ में मतदान (शलाका) की बहुसंख्या से निश्चित किया जाता था, व्यक्तिगत मत विश्वास को कुंठित नहीं करता था। इसका दूरगामी सांस्कृतिक परिणाम यह हुआ कि कई बौद्ध विहार धीरे-धीरे विद्यापीठों में परिवर्तित हुए। भिक्षु का अध्ययन केवल बौद्ध ग्रंथों तक सीमित नहीं था अपितु अन्य विषय भी उसे पढ़ाये जाते थे। ई० पू० प्रथम सदी के बाद जब पुस्तक लेखन प्रचलित हुआ ग्रंथों का संग्रह और सुरक्षा भी विहारों में होने लगी। चीनी यात्रियों के वर्णन से ज्ञात होता है कि इन विद्यालयों में विविध बौद्ध पथों के भिक्षुओं के प्रवेश तक ही विद्यार्थियों की संख्या सीमित नहीं थी अपितु कई अदीक्षित बौद्ध विद्या-जिज्ञासु, बुद्धेत्तर मुमुक्षु भी वहाँ प्रवेश पा सकते थे। इन विहारों को बौद्ध धर्म को प्रश्रय देने वाले शासकों तथा बौद्ध धर्म के प्रेमी लोगों द्वारा विभिन्न प्रकार से अनुदान दिया जाता था। पांचवी सदी तक आते-आते इन बौद्ध विहारों का शिक्षण पक्ष अत्यंत विकसित हो गया था। देश के विभिन्न प्रदेशों से विद्वान लोग वहाँ पुस्तकें लिखने के लिए, अध्ययन करने के लिए, सीखने के लिए आते थे। इन विद्यापीठों की कीर्ति दूर के बौद्ध देशों में फैल गयी। इसी कारण से विद्वान यात्री विशेष कर चीनी यहाँ खिंचे चले आये और उन्होंने इन महाविहारों के प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित वृत्तान्त लिखे हैं। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग (629-646 ई०) ने अपने भारत यात्रा वृत्तान्त में दो विश्वविद्यालयों का उल्लेख किया है - पूर्व में नालंदा और पश्चिम में वलभी। *वलभी हीनयानी शिक्षा केन्द्र था। अतः उस ओर उसका अधिक ध्यान नहीं* गया, परन्तु नालंदा का उसने विस्तृत वर्णन दिया है, जिसके अनुसार नालंदा एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था, वहाँ अध्ययन की कई शालाएं थी, व्याख्यान के लिए प्रकोष्ठ था, ग्रंथालय थे, व्याख्यानों के लिए प्रवेश और उपस्थिति के नियम थे, अनुशासन के और विद्यार्थियों के व्यवहार के नियम थे, शिक्षण व्यवस्था के लिए विधि-निषेधात्मक नियम थे, नियमों की अवहेलना का पूरा दण्ड विधान था। ह्वेनसांग के अनुसार यहाँ डेढ़ हजार अध्यापक और दस

हजार विद्यार्थी थे। वे सब महायान की शिक्षा पाते थे। 18 पंथों के ग्रंथ पढ़े जाते थे, जिनमें वेद-वेदांग थे, हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा विद्या, अथर्ववेद या मंत्रविद्या, सांख्य आदि विद्याएं थीं। तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि नालंदा और वलभी महाविहार के अलावा अन्य कई बौद्ध विश्वविद्यालय थे जैसे - विक्रमशिला, जगद्दल और ओदंतपुरी। इनमें विक्रमशिला विशाल एवं प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था, इसे बौद्ध पाल राजाओं का आश्रय प्राप्त था।[7] उल्लेखनीय है कि नालंदा तथा अन्य बौद्ध विश्वविद्यालयों में किए गये वाद-विवाद, ब्राह्मणधर्मीय तथा बौद्ध विचारों और संस्कृति के समन्वय में अत्यंत सहायक सिद्ध हुए और भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की समृद्धि में योगदान किए।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति के अनेक पक्षों को प्रभावित एवं समृद्ध किया। राधाकृष्णन के शब्दों में : बौद्ध धर्म भारत की संस्कृति पर अपना स्थायी चिन्ह छोड़ गया है। सब ओर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर है। हिन्दू धर्म ने इसके नीतिशास्त्र के सर्वोत्तम अंश को अपने में समाविष्ट कर लिया है जीवन के प्रति एक नया आदर, पशुओं के प्रति दया, उत्तरदायित्व का भाव और उच्चतर जीवन के प्रति उद्योग- ये सब बातें एक नये वेग के साथ भारतीय मस्तिष्क को अवगत करायी गयी हैं। बौद्ध प्रभावों को ही यह श्रेय प्राप्त है कि उनके कारण ब्राह्मण परंपरा की धर्म-साधनाओं में अपने उन अंशों को छोड़ दिया जो मानवता और बुद्धिवाद के अनुकूल नहीं थे।[8] बौद्ध धर्म वस्तुतः बसंत के उस मलयानिल के समान था जिसने भारत सहित एशिया के उपवन को एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक अपनी संस्कृति के झोकों से सुरभित और पुष्पित कर दिया।

संदर्भ

1. श्यामाचरण दुबे, **परंपरा और परिवर्तन**, भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001 पृ० 71-72
2. श्यामाचरण दुबे, तत्रैव, पृ० 74
3. गोबिन्दचन्द्र पाण्डेय, **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास**, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, तृतीय संस्करण, 1990, पृ० 31
4. पी० वी० बापट (सम्पा०), **बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष**, प्रकाशन विभाग, नयी

दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1997, पृ० 296

5. गोबिन्दचन्द्र पाण्डेय, तत्रैव, पृ० 199 से 201
6. पी० वी० बापट (सम्पा०), तत्रैव, पृ० 148-159
7. पी० वी० बापट (सम्पा०), तत्रैव, पृ० 160-161
8. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, **इण्डियन फिलासफी**, जिल्द प्रथम, पृ० 608

43

जसवल से प्राप्त नवीन सूर्य प्रतिमाएं

ज्ञान प्रकाश राय, अविनाशपति त्रिपाठी

अति प्राचीन काल से ही पूर्वी उत्तर प्रदेश मानव की गतिविधियों का केन्द्र रहा है। शाक्य, कोलियों, मल्लों, मोरियों की विशिष्ट राजवंशीय परम्परा ने इस क्षेत्र के लोक जीवन में समृद्धि की नई परिभाषा दी। जलवायुविक एवं अनुकूल परिस्थितियों ने यहाँ के समाजार्थिक विकास में व्यापक सहायता प्रदान की। फलस्वरूप यहाँ कला परम्पराओं का भी विकास हुआ। प्राचीन अचिरावती (वर्तमान राप्ती) के इस क्षेत्र से अनेक सूर्य प्रतिमाओं का प्राप्त होना विशिष्ट है। साथ ही यह इस क्षेत्र में सौर्य सम्प्रदाय के प्रसार का सूचक भी है। हाल ही में ग्राम जसवल (निकट पीपीगंज) से नई सूर्य प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं।

गोरखपुर जनपद के उत्तरी भाग में बसा उपनगर पीपीगंज से 7 कि०मी० दूर जसवल ग्राम स्थित है। यहाँ से कृषि कार्य के दौरान उपलब्ध प्राचीन सूर्य की प्रतिमा अत्यन्त आकर्षक है जो ग्राम में ही स्थित भारतीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय राजबारी के दक्षिण में कृषि कार्य करने के दौरान बालू का पाषाण से निर्मित दो अत्यन्त भव्य सूर्य प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। वर्तमान में एक प्रतिमा स्थानीय निवासी श्री निर्मल मल्ल के दरवाजे पर अवस्थित है क्योंकि यह प्रतिमा खण्डित है अतएव स्थानीय निवासी इसका पूजा अर्चन नहीं करते। यह खण्डित प्रतिमा बालूका पाषाण निर्मित है। इसी गांव से जो कृष्ण पाषाण से निर्मित दूसरी प्रतिमा प्राप्त हुई हैं। वह स्थानीय एक मन्दिर में स्थापित है। ग्रामवासी इस प्रतिमा को विष्णु प्रतिमा समझ कर पूजन अर्चन करते हैं। इसी मन्दिर के प्रांगण में पत्थर का एक फलक प्राप्त हुआ है जिस पर वराह अवतार

का अंकन प्रतीत होता है। यही पर किसी प्राचीन मन्दिर में प्रयुक्त होने वाला मकर मुखाकृति से युक्त शिलाखण्ड प्राप्त हुआ है। यहाँ से प्राप्त अवशेषों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में इस गांव के दक्षिण पश्चिम हिस्से में एक विशाल सूर्य मन्दिर रहा होगा। राप्ती का तटवर्ती होने के कारण लगता है कि यह मन्दिर राप्ती के बाढ़ से प्रभावित होकर नष्टप्राय: हो गया। प्राचीन काल में यह क्षेत्र सौर सम्प्रदाय से सम्बन्धित था।

प्रतिमा के दर्शन के पश्चात् बरबस ही हमारा ध्यान इस ग्राम के नाम 'जसवल' की सार्थकता की ओर आकर्षित हुआ। जसवल 'जस' और 'वल' इन दो शब्दों के संयोग से बना है वस्तुत: यश शब्द का बिगड़ा रूप जस है। यश का अर्थ है ख्याति या प्रसिद्धि का विस्तार जिससे कार्य और प्रभाव का विस्तार हो, जन का कल्याण हो वह शक्ति कहलाती है और इस शक्ति का जनमानस पर पड़ने वाला लोकहित का भाव 'जस' या 'यश' कहलाता है। 'वल' का अर्थ है 'वलय' घेराकार या कंकड़ाकृति। सूर्य गोलाकार है वे शक्ति हैं वे ऊर्जा हैं, वे जीवन हैं, उनके बिना स्थावर जंगम कोई भी सृष्टि संभव नहीं है। किरणें उनका 'यश' हैं। सूर्य वृत्त के चतुर्दिक विद्यमान आभामण्डल जो पूरे जगत को अपनी ऊर्जा से अविराम जीवन प्रदान कर रहा है। सूर्य बल अर्थात् शक्ति है क्योंकि बल का एक अर्थ शक्ति भी है। जसवल ग्राम के नामकरण की सार्थकता यहाँ प्राप्त अत्यन्त प्राचीन एवं भव्य सूर्य प्रतिमा से स्पष्ट है। निश्चय ही यहाँ एक भव्य सूर्य मन्दिर रहा होगा जो सम्प्रति अतीत के गर्भ में विलीन हो गया। यह मन्दिर लोगों की आस्था का केन्द्र रहा होगा। उनकी मनोकामना पूर्ति में इस मन्दिर के अधिष्ठाता सूर्य देव सहायक रहे होंगे। अत: उनका यश विस्तार हुआ और परिणामस्वरूप वे यशबली (बलीयश:) की संज्ञा से अभिहित हुए। कालान्तर में यही शब्द अपभ्रंश रूप में लोक में 'जसवल' के नाम से जाना जाने लगा।

बालूका पाषाण निर्मित सर्वाभरण अलंकृत सूर्यदेव की द्विभुज प्रतिमा स्थानक समभंग मुद्रा में सप्ताशव रथ पर स्थित है। उनके चरणों के समीप पंगु, अरुण सारथी के रूप में बैठे हैं तथा उनके पीछे महाश्वेता की आभूषणों से अलंकृत प्रतिमा स्थानक मुद्रा में अंकित है। नीचे अश्वनी कुमारों की

आकृतियां हैं। देवता वक्ष पर वर्म (अब्यांग), कर्णों में वृत्ताकार कुण्डल, वलय (कंगन) ग्रेवेयक (गलाहार), विशालहार, यज्ञोपवीत तथा किरिटमुकुट से अलंकृत है। वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह अंकित है। उनके मुख पर शांत मिश्रित स्मित भाव परिलक्षित होता है। वे कटि में अधोवस्त्र एवं चरणों में उपानह उदीच्य वेष के अनुरूप धारण किये हैं। प्रभावली के दक्षिण पार्श्व में ब्रह्मा जी की ललितासिन मूर्ति अक्षमाला पुस्तक एवं कमण्डल लिए हुए निर्मित है। उनका दक्षिणाध्र्य कर अभय मुद्रा में है। इसी प्रकार प्रभावली के वामपार्श्व में चतुर्भुज विष्णु अभय मुद्रा में गदा चक्र एवं शंख लिए हुए उपस्थित है। इनका भी प्रथम अथवा दक्षिणाध्र्य कर अभय मुद्रा में है। इन आकृतियों के दोनों पार्श्व में ऊषा प्रत्युषा की स्थानक मुद्रा में लघु परन्तु स्पष्ट प्रतिमा पद्म पीठिका पर बनाई गयी है। सर्वाभरण अलंकृत देवी के करों में धनुष और बाण है। वे दृढ़तापूर्वक पीठिका पर वराह मूर्तियों के समान कतिपय आलीढ़ मुद्रा में स्थित है। मानों कोई विरांगना युद्ध भूमि में जाने हेतु तैयार हो। इनकी प्रतिमाओं के नीचे स्कन्धों के समकक्ष गज एवं अश्व शार्दुल आकृतियां अलंकरण हेतु अंकित हैं। देवता के कटि प्रदेश के समानान्तर उनकी पत्नी संध्या एवं छाया की अति कमनीय मूर्तियां कतिपय त्रिभंग मुद्रा में बनाई गयी हैं। ये करण्ड, मुकुट, हार, कंकण, कुण्डल एवं सारिका द्वारा अलंकृत हैं। इनका एक कर जानु पर स्थित है तथा दूसरे कर में चमरि धारण किये हुए हैं। यही देवियों के चरणों के निकट दो आकृतियां उत्कीर्ण की गयी हैं। इनमें दक्षिण पार्श्व की आकृति अत्यन्त रोचक है। इसमें एक विकराल रूप वाली आकृति है इनमें दक्षिण पार्श्व की आकृति अत्यन्त रोचक है इसमें एक विकराल रूप वाली आकृति भुजाओं में खड्ग पकड़े हुए देवता की ओर आक्रामक मुद्रा में देखते हुए बनाई गयी है। जबकि वाम पार्श्व में एक उपासक अत्यन्त विनित भाव से अंजली मुद्रा में पीठिका पर आसीन है। उल्लेखनीय है यह खड्गधारी आक्रामक मूर्ति अन्धकार रूपी असुर के प्रदर्शन हेतु बनायी गई होगी। जो कलाकार की निजी विशिष्टता को परिलक्षित करती है। विवेचित प्रतिमा अर्चा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त विकसित काल के तत्वों से युक्त है। उल्लेखनीय है कि राजपूत युग में निर्मित बहुसंख्यक मूर्तियों में पार्श्व अंकन इसी रूप में किया गया है। विशेषतः अश्वनी कुमारों का सूर्य देवता के साथ मूर्ति खजुराहों के चंदेल

कालीन कला में निर्मित अनेक मूर्तियों में मिलता है। इस प्रकार हिमालय के तराई में स्थित इस क्षेत्र (जसवल) से उपलब्ध उपर्युक्त प्रतिमा क्षेत्र को सौर सम्प्रदाय का एक सशक्त केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सहयोग कर रहा है।

जसवल क्षेत्र से प्राप्त भगवान भास्कर की एक कृष्ण पाषाण निर्मित द्वितीय मूर्ति भी अपनी अर्चा विज्ञान की दृष्टि से अलौकिक है। देवता समभंग मुद्रा पीठिका पर स्थित है। उनके मुख पर शांत भाव विद्यमान है। वे रत्न जड़ित कीरिट मुकुट वृत्ताकार कर्णाभरण ग्रेवेयक कटिबन्ध एवं मणिबन्ध से अलंकृत हैं। उदिच्य वेष में देवता का अंक किया गया है। चरणों में उपानह, वक्ष पर वर्म एवं दोनों भुजाओं में पूर्ण विकसित पद्म है। जो स्कन्धों के ऊपर स्थित है। उल्लेखनीय है कि पद्म की नाल को तीन शाखाओं में निर्मित किया गया है अर्थात् त्रिनाल युक्त उत्कीर्ण किये गये हैं जिनका अन्तिम शिरा एक मोटे नाल में आबद्ध है। देवता के दोनों पार्श्व में ऊषा प्रत्युषा धनुष बाण लिये खड़ी है। वामवर्ती आकृति के रण वेणुगोपाल मूर्तियों के समान त्रिभंगी मुद्रा में अंकित है। परन्तु दक्षिणवर्ती मूर्ति के चरण भिन्न मुद्रा में हैं। यह नारी का वाम पाद भूमि पर स्थित है तथा दक्षिण चरण घुटने से मुड़कर वाम पाद के घुटने पर रखा हुआ है। देवियां करण्ड मुकुट, सभी आभरणों एवं सारिका द्वारा अलंकृत है। ऊषा प्रत्युषा, के दोनों पार्श्व में एक-एक नारी मूर्ति है। जो संभवत अनुचरियों की है। देवता के दोनों पार्श्व में मालाधारी विद्याधर उपस्थित है तथा परिकर के शिर्ष के ऊपर कीर्तिमुख को भी प्रदर्शित किया गया है।

यह प्रतिमा गहड़वाल कालीन प्रतीत होती है परन्तु कलाकार ने कतिपय अंकन अपनी निजी सूझ-बुझ के आधार पर किया है जैसे पूर्ण विकसित पद्म त्रिनाल का प्रदर्शन जो अन्त में एक नासल में आबद्ध हो गया है तथा ऊषा प्रत्युषा के चरणों के अंकन की शैली भी भिन्न प्रकार से प्रदर्शित की गयी है। ये दोनों ही तत्व सूर्य प्रतिमा की निजी विशिष्टता बन जाते हैं। देवता यज्ञोपवीत के साथ विशाल माला धारण किये हुए हैं जो उनके घुटने तक लटक रही है। अधोवस्त्र के रूप में धोती की चुन्नटें का अंकन भी कलाकार ने सूक्ष्म रूप से किया है। देवता को सम्पूर्ण देहयष्टि सौर्यवान युवा मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम प्रतिमा अपने पाषाण के आधार पर गुप्तोत्तर युग की प्रतीत होती है। इस प्रतिमा में खजुराहों के अनेक मूर्तियों प्रदर्शन की परम्परा के समान ही सूर्यदेव के साथ ब्रह्मा और विष्णु को प्रदर्शित करके सूर्यनारायण अथवा हिरण्यगर्भ पितामह के रूप को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है।

उल्लेखनीय है कि ईषा की प्रारम्भिाक शताब्दियों में सूर्य की मूर्ति पूजा का प्रचलन भारत के पश्चिमोत्तर भाग से प्रारम्भ होकर पूरे भारत में श्नैः श्नैः फैलता गया। इसके प्रमाण न केवल पश्चिमोत्तर बल्कि पूर्वी भारत तक मिलते हैं। अपितु दक्षिण भारत में भी सूर्य के अनेक देवायतन स्थापित किये गये। साहित्यिक स्रोतों के आधार पर भविष्य पुराण में साम्ब के द्वारा मूल स्थान (मुल्तान) में सूर्य की मन्दिर की स्थापना, एवं सूर्यसरोवर में स्नान कर चर्म रोग से निवृत्त का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वराहमिहिर ने अपने वृहतसंहिता में उदिच्य वेष में सूर्य मूर्ति के निर्माण एवं प्रतिष्ठा का विस्तृत उल्लेख किया गया है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के रूप में खजुराहो का चित्रगुप्त मन्दिर, उत्तर प्रदेश स्थित बहराइच का बालार्क मन्दिर एवं सरोवर, तुर्कपट्टी महुअवा का सूर्य मन्दिर, रूद्रपुर स्थित अधरंगी ग्राम की सूर्य मूर्ति एवं मन्दिर, बिहार के आरा जिले में देववर्नाक का सूर्य मन्दिर एवं वाराणसी स्थित अस्सी घाट पर लोलार्क मन्दिर एवं सवाधिक महत्वपूर्ण पूर्वी भरत में सिति 'पूर्व की काशी' के निकट स्थित कोणार्क मन्दिर इसके ज्वलन्त उदाहरण है। ये सभी स्थल सूर्योपासना के सशक्त केन्द्र थे। सुदूर उत्तर में कश्मीर का मार्त्तण्ड मन्दिर, सुदूर दक्षिण में स्थित सूर्यनारकोइल ग्राम का सूर्य मन्दिर सम्पूर्ण भारत में सूर्य पूजा के अत्यन्त सबल प्रमाण हैं। इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि भारत में सूर्य पूजा की प्राचीन पद्धति उनके प्रतीक अर्थात् मण्डल के रूप में की जाती थी। जिसके साक्ष्य सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में भरे पड़े हैं। सूर्य की मूर्ति पूजा का प्रारम्भ व्यापक रूप में कुषाण काल से दिखाई देता है। इस उपासना के मूल में शकद्विपीय पुरोहित ने साम्ब की सूर्य पूजा सम्पन्न कराई थी। सम्भवतः यह परम्परा चलती रही। सम्पूर्ण भारत में अनेक शकद्विपीय पुरोहितों के नाम अनेक महत्वपूर्ण मन्दिरों के साथ जुड़े हुए हैं। जैसे देववर्णाक अभिलेख के अनुसार वरुण देव की पूजा भोजक नामक शकद्विपीय ब्राह्मण ने की थी। इसी

प्रकार लोलार्क स्थित कुण्ड में जयचन्द गहणवाल ने अक्षय तृतीय को स्नान कर कच्छोहा पट्टनम को लल्लुक नामक शकद्विपीय ब्राह्मण को दिया था। वराहमिहिर स्वयं सम्भवतः शकद्विपीय थे।[1] अब तक के अध्ययन और उपलब्ध साक्ष्यों से इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि प्राचीन सूर्य प्रतिमाएं प्रायः उन्हीं स्थलों से प्राप्त होती हैं। जहाँ शाकलद्वीपी ब्राह्मण्ध निवास किया करते हैं। प्राचीन काल से ही शाकलद्वीपी ब्राह्मण तन्त्र साधना में अग्रणी रहे हैं। ग्रहों के विषय में उनका अच्छा ज्ञान रहा है। तन्त्र साधना में सूर्य की उपासना महत्वपूर्ण है। यजुर्वेद के अनुसार 'सूर्योज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' (यजुर्वेद 3/9) (सूर्य की ज्योति है ज्योति ही सूर्य है)। अतः सूर्य और ज्योति अभिन्न है। शाकलद्वीपी ब्राह्मणों का सूर्योपासना से सामीप्य इनके विशेषण युक्त नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है।

'शाकल' शब्द 'शाकल्य' का परिवर्तित रूप है। 'शाकल्य' शब्द का अर्थ हवन सामग्री या 'पुजापा' है। दीपी का अर्थ है दीपवाला। इस प्रकार प्रज्वलित द्वीप है उपासना रूपी यज्ञ में 'शाकल्य' (शाकल) अर्थात् हवन सामग्री जिससे वे शाकलद्वीपी ब्राह्मण कहलाते हैं। सूर्य की उपासना में प्रज्वलित दीप जो सूर्य का ही स्वरूप है का विशेष महत्व है।

संदर्भ

1. भारतीय मन्दिर एवं देव मूर्त्तियां (ओसिया एवं खजुराहो एवं उड़ीसा के मन्दिरों के वास्तुशास्त्रीय सन्दर्भ में खण्ड- 1 एवं 2 डॉ० (श्रीमती) शशिबाला श्रीवास्तव।)

44

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान

सत्यनाम

किसी भी देश की संस्कृति उसके विभिन्न युगों के आचारों की परम्परा से उत्पन्न एक भूषण युक्त परिष्कृत स्थिति की द्योतक होती है। विश्व में प्राचीन एवं अर्वाचीन अनेक संस्कृतियां हैं। किन्तु उन सब में भारतीय संस्कृति का स्थान अनुपम एवं सर्वोच्च है। भारतीय संस्कृति के अनूठे महत्व को पाश्चात्य मनीषियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

भारतीय संस्कृति का प्रभाव प्रारम्भ से आज तक अटूट रहा है। विश्व की विभिन्न संस्कृतियां अपने-अपने समय में नितान्त परिपुष्ट दिखती हुई भी क्रमशः काल के प्रवाह में जर्जर होकर लुप्त ही हो गयीं। आज उनके ध्वंसावशेषों मात्र से उन संस्कृतियों का परिज्ञान हो पाता है। अन्य कुछ प्राचीन संस्कृतियां विभिन्न परिवर्तनों में पड़कर इतनी बदल गयीं कि उन्हें मूलरूप में पहचान पाना ही सम्भव नहीं रहा, किन्तु भारतीय संस्कृति दीर्घजीवी सिद्ध हुई। विभिन्न युगों में अनेक परिवर्तनों के हो जाने पर भी इसने अपने मौलिक स्वरूप को भी नहीं त्यागा और आज तक क्रियाशील भी बनी हुई है। अनेक सहस्राब्दियां व्यतीत हो चलीं किन्तु सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी पूर्व प्रारम्भ हुई भारत भूमि की इस संस्कृति की परम्परा आज भी अक्षुण्ण ही बनी हुई है। विभिन्न क्षेत्रों में इसके प्रबल प्रमाण हैं। भाषा के क्षेत्र में संस्कृत आज भी विद्य समाज में उसी प्रकार लिखी, पढ़ी और बोली जाती हैं जैसे पाणिनि के समय में। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व धार्मिक क्षेत्रों में राम और कृष्ण, ब्रह्मा और शिव सहस्रों वर्ष पूर्व की भांति आज भी पूज्य और प्रातः स्मरणीय हैं। सम्पूर्ण भारत खण्ड के विभिन्न प्रदेशों को सिंचित करके भूमि को शस्य श्यामला बना देने वाली

गंगा-यमुना, गोदावरी, कावेरी, नर्वदा, सिन्धु, आदि नदियां कितने हजार वर्षों से आज तक पवित्र ही मानी जाती हैं। मनुष्य के विभिन्न संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले वेद विहित जो मंत्र गृह्य सूत्रों में पूर्णतया विकसित होकर समाज में स्थापित हुऐ थे। सहस्त्रों वर्ष बीत जाने पर भी पूरे भारत वर्ष में विभिन्न संस्कारों के समय उन्हीं मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। समय-समय पर भारत में नवीन प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हुईं। बाह्य आक्रमणकारियों का भी इस संस्कृति पर प्रभाव पड़ता रहा। किन्तु भारतीय संस्कृति के मूल तत्व इतने अधिक प्रबल थे कि विभिन्न परम्पराओं का मूल इतना पुष्ट एवं गहरा था कि न तो समय उन्हें उखाड़कर फेंक सका और न ही वह प्रभाव उसे नष्ट कर सका। प्रसिद्ध उर्दू शायर इकबाल ने अपनी 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' कविता में भारतीय संस्कृति के इसी अटूट प्रवाह को लक्ष्य करके लिखा था -

यूनानों मिस्त्र रोमा सब मिट गये जहाँ से,
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

भारतीय संस्कृति ने विभिन्न नयी प्रवृत्तियों एवं बाह्य प्रभाव को केवल सहन ही नहीं किया अपितु उन देशी अथवा विदेशी नवीन तत्त्वों को आत्मसात करके अपना अंग ही बना लिया, विनाश एवं विध्वंस भारतीय संस्कृति का गुण नहीं था। इसका वैशिष्ट्य तो ग्रहण तथा संरक्षण है। इसी कारण इस भारतीय संस्कृति ने अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक अपने संपर्क में आने वाली द्रविण, यूनानी, सीथियन, मुगल, ईसाई सभी संस्कृतियों के विभिन्न सुन्दर अंशों को ग्रहण कर लिया। वैदिक युग में प्रकृति गत तत्त्व इन्द्रादि प्रमुख देव थे तो परवर्ती युग में द्रविण प्रभाव से शिव प्रमुख देवता बन गये। वस्तुतः जो प्रथा, संस्था अथवा व्यवस्था उत्पन्न होकर भारत में एक बार ग्रहण कर ली गयी वह फिर नष्ट नहीं हुई। भारतीय संस्कृति के इसी गुण को परिलक्षित करके ठीक ही कहा कि 'भारतीय संस्कृति की कहानी एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है।'

भारतीय संस्कृति में परिस्थिति के अनुकूल ढल जाने की अद्भुत क्षमता है। इस संस्कृति में आश्चर्यजनक लचीलापन है। इसके कारण यह संस्कृति

बाह्य आघातों से टूटी अथवा नष्ट नहीं हुई। विश्व की अन्य संस्कृतियां विदेशी आक्रान्ताओं से पददलित होकर लुप्त हो गयी थीं, किन्तु भारतीय संस्कृति अपने इस गुण के कारण विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उपयुक्त परिवर्तन पूर्वक जीवित रहती रहीं। इन परिवर्तनों के कारण भारतीय धर्म, समाज, आचार विचार तथा दर्शन आदि की स्थिति में सूक्ष्म अन्तर तो अवश्य आता रहा किन्तु मूलरूप नष्ट नहीं हो सका।

विद्रोह, बगावत या क्रान्ति कोई ऐसी चीज नहीं होती जिसका विस्फोट अचानक होता हो। घाव फूटने से पहले बहुत काल तक पकता रहता है। विचार भी चुनौती लेकर खड़े होने से पहले वर्षों तक अर्द्धजाग्रत अवस्था में फैलते रहते हैं। वैदिक धर्म पूर्ण नहीं था, इसका प्रमाण उपनिषदों में ही मिलने लगा था और यद्यपि वेदों की प्रामाणिकता में उपनिषदों ने संदेह नहीं किया। किन्तु वैदिक धर्म के काम्य स्वर्ग को अयथेष्ठ बताकर वेदों की एक प्रकार की आचाचना उपनिषदों ने ही शुरू कर दी थी। वेद सबसे अधिक महत्व यज्ञ को देते थे। यज्ञों की प्रधानता के कारण समाज में ब्राह्मणों का स्थान बहुत प्रमुख हो गया था। इन सारी बातों की समाज में आलोचना चलने लगी और लोगों को यह संदेह होने लगा कि मनुष्य और उसकी मुक्ति के बीच में ब्राह्मण का आना सचमुच ही ठीक नहीं है। आलोचना की इसी प्रकृति ने बढ़ते-बढ़ते आखिर ईसा से 600 वर्ष पूर्व तक आकर वैदिक धर्म के खिलाफ खुले विद्रोह को जन्म दिया। जिसका सुसंगठित रूप जैन और बौद्ध धर्मों में प्रकट हुआ।

जिस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति को परिपुष्ट किया, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति ने जैन धर्म का योगदान भी अपूर्व है। साहित्य, धर्म, दर्शन, कला, आदि क्षेत्रों में जैन धर्म ने अपनी स्पष्ट छाप छोड़ी है जिसका विवरण निम्नलिखित हैं -

ब्राह्मणों के धार्मिक प्रचार और साहित्य सृजन की भाषा संस्कृत थी। बौद्धों ने संस्कृत के स्थान पर पाली भाषा को अपनाया। सम्पूर्ण प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य पाली भाषा में उपनिबद्ध है। परवर्ती युग में बौद्ध दार्शनिकों और प्रचारकों ने संस्कृत को भी अपना लिया। किन्तु जैन आचार्यों ने धर्म प्रचार के लिए और ग्रन्थ लेखन के लिए विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित तत्कालीन लोक

भाषाओं का ही प्रयोग किया। इस प्रकार तत्कालीन लोक भाषाओं के विकास में जैन धर्म का बहुत बड़ा योगदान है। उस युग की बोलचाल की भाषा को जैन साधुओं ने साहित्यिक रूप दिया। स्वयं महावीर जी ने अर्द्ध मागधी उपदेश दिये थे। जैनियों का विपुल साहित्य अपभ्रंश भाषा में रचित है। यह अपभ्रंश एक ओर संस्कृत और प्राकृत को परस्पर जोड़ती है तो दूसरी ओर आधुनिक भाषाओं को परस्पर मिला देती है। अतएव भाषा विज्ञान की दृष्टि से अपभ्रंश बहुत महत्वपूर्ण है। भारत के दक्षिण प्रदेशों की विभिन्न भाषाएं भी जैन प्रभाव से युक्त हैं। ईसा पूर्व चौथी सदी के अंत में अन्त में आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में जो जैन समूह मैसूर चला गया था उसने वहाँ की लोक भाषाओं को अपनाकर धर्म प्रचार किया और ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार कन्नड़ भाषा को प्राचीनतम् साहित्यिक रूप जैनों ने ही दिया। प्रारम्भिक तमिल साहित्य के निर्माण में भी जैन मुनियों का बहुत योगदान है।

धर्म के क्षेत्र में जैन धर्म की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन अहिंसा का सिद्धान्त है। लोक में यह धारणा प्रचलित है कि बौद्धों ने साहित्य को सर्वाधिक उन्नत किया, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह प्रचलित धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है। धर्म के क्षेत्र में अहिंसा के सिद्धान्त को जन्म देने वाले 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे और उसको चरम सीमा पर ले जाने का श्रेय महावीर स्वामी को है।

जैन धर्म के आचार्यों ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भी अनेक महत्वपूर्ण स्थापनायें कीं। बौद्धों के सदृश कर्मवाद एवं पुर्नजन्मवाद के विशिष्ट सिद्धान्त तो जैन दार्शनिकों ने प्रस्तुत किए ही किन्तु स्याद्वाद और अनेकान्तवाद जैन दार्शनिकों की विलक्षण स्थापनाएं हैं। स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक कथन या दृष्टिकोण में आंशिक सत्य होता है। अतः सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिए उन सभी दृष्टिकोणों का अध्ययन परम् आवश्यक है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद के अनुसार आत्मा एक नहीं वरन् अनेक है। जैनियों के अनुसार जिस वस्तु का अस्तित्व होता है, वह केवल अपने पदार्थ की दृष्टि से स्थायी होती है। परन्तु उसके गुण उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। पदार्थ का अस्तित्व पदार्थ के रूप में ज्यों का त्यों बना रहता है और उसका आकृति और गुणों में परिवर्तन होता

रहता है। आत्माएं पदार्थ से भिन्न होती हैं और जिस शरीर में वे वास करती हैं उसके अनुसार उनका आकार बदलता रहता है। आत्माएं जब तक इस संसार में रहती हैं तब तक वे पुनर्जन्म के अधीन रहती हैं परन्तु जब वे मुक्त हो जाती हैं, तो वे पूर्णता को प्राप्त हो जाती हैं। जैन दर्शन के अनेकान्तवाद से भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता और उदारता की प्रवृत्ति परिपुष्ट हुई।

विभिन्न ललित कलाओं के क्षेत्र में जैन धर्म ने भारतीय संस्कृति को अनूठे उपहार दिये हैं। जैन धर्मावलम्बियों ने अपने तीर्थंकरों की स्मृति में स्तूपों प्रस्तर वेदिकाओं तथा अलंकृत तोरणों का प्रचुर निर्माण किया जिनसे वास्तु कला एवं स्थापत्यकला की अत्यधिक उन्नति हुई। पहाड़ों की चट्टानें काटकर जैन मंदिरों का निर्माण किया गया। ऐसे मंदिरों में उड़ीसा का हाथी गुम्फा नाम से प्रसिद्ध गुहा मंदिर अत्यधिक आकर्षक है जिसका निर्माण ईसा पूर्व दूसरी शती में हुआ था। पार्श्वनाथ पर्वत, गिरनार, तथा पावापुरी आदि स्थानों में विभिन्न युगों के अनेक मंदिर और स्मारक निर्मित हैं। राजस्थान में भी स्थल-स्थल पर जैन मंदिर अपने अलंकृत तोरणों और छत से लटकते संगमरमर के फानूसों की अत्यन्त बारीक खुदाई और जाली के काम के लिए विश्व प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः दिलवाड़ा मंदिरों में प्रवेश करके वे इहलोक की रचना ही नहीं जान पड़ते। इसी प्रकार रणकपुर के मंदिर अपने संगमरमर के अलंकृत स्तम्भों के कारण पर्यटकों के विशेष आकर्षक केन्द्र हैं। चित्तौड़ का चौकोर स्तम्भ भी जैन धर्मावलम्बियों के कला प्रेम का साक्षी है। इन सभी में अलंकृत स्थापत्य कला शिल्प अपनी सर्वोच्च्व प्रतिष्ठा में है।

मूर्तिकला को भी जैनों ने पर्याप्त प्रश्रय दिया। मध्य भारत और बुन्देलखण्ड 11वीं तथा 12वीं शती की जैन मूर्तियों से भरे पड़े हैं। मैसूर में श्रवणबेलगोला, में बाहुबली की 70फीट उंची मूर्ति पर्वत शिखर पर अवस्थित है। गंग नरेश राजमल्ल चतुर्थ के मंत्री तथा सेनापति जैन चामुण्डराय ने 10वीं शती के लगभग अन्त में इसे स्थापित कराया था। यह सम्पूर्ण मूर्ति विशाल ग्रेनाइट चट्टान में से काट कर बनायी गयी है और देखने मात्र से श्रद्धा तथा विस्मय उत्पन्न करती है।

जैनों ने चित्रकला को भी पर्याप्त विकसित किया, जैन आचार्यों की

हस्तलिखित पुस्तकों में अनेक उत्कृष्ट कोटि के चित्र उपलब्ध होते हैं। जैन धर्म के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के अजस्त्र प्रवाह में जैन धर्म कहीं बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था। पार्श्वनाथ और महावीर ने इसको एक व्यवस्थित धर्म का रूप दिया। सम्पूर्ण भारतीय जनता में यह धर्म समग्र रूप में भले ही प्रसारित न हो सका किन्तु ईसा पूर्व छठी शती से लेकर आज तक यह निरन्तर बना हुआ है।

संदर्भ

1. भारतीय संस्कृति, प्रीति प्रभागोपाल।
2. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर।
3. भारतीय दर्शन, डॉ० राधा कृष्णन।
4. भारतीय संस्कृति, डॉ० किरण टण्डन।
5. हिन्दी सूफी साहित्य में हिन्दू संस्कृति, डॉ० कन्हैया सिंह
6. भारतीय दर्शन एवं संस्कृति, डॉ० महराजदीन पाण्डेय

45

बुद्धकाल में भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था

प्रवीण कुमार मिश्र

राजनीतिक परिवेश

बुद्ध के जन्म काल से पूर्व जम्बूद्वीप (भारत) सोलह राज्यों में विभक्त *था। उस समय यहाँ दो प्रकार की शासन प्रणालियां प्रचलित थीं। 1. राजसत्तात्मक* राज्य, 2. गणराज्य और संघ राज्य। गण और संघ में कोई तात्त्विक अंतर नहीं था। गण अथवा संघ प्रणाली में सत्ता कुछ-कुछ लोगों में निहित होती थी जब कि राजसत्तात्मक प्रणाली में सत्ता की बागडोर एक ही व्यक्ति के हाथ में रहती थी। गणतंत्रीय प्रणाली 'महाजन' सत्ता युक्त होती थी। इन महाजनों को 'राजा' कहा जाता था और इनके अध्यक्ष को महाराजा। बुद्ध के समय में यह महाजनात्मक पद्धति धीरे-धीरे नष्ट हो रही थी और उसका स्थान एकसत्तात्मक (राजसत्तात्मक) राज्य-पद्धति लेती जा रही थी। बौद्ध-ग्रन्थों में जिन 16 राज्यों का वर्णन बार-बार आया है, वे इस प्रकार हैं[1]:

1. **अंग राज्य :** यह प्रदेश भारत में मगध के पूर्व में स्थित था और इसकी राजधानी आज के भागलपुर (बिहार) के निकट चम्पा थी। बुद्ध के समय यह राज्य मगध के अधीन था और बौद्ध-ग्रन्थों में इस आशय का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि बाद के वर्षों में यह स्वतंत्र हो गया। हाँ, बहुत पहले यह निश्चित ही एक स्वतंत्र राज्य था और पड़ोसी राज्यों के साथ इसके युद्ध होते रहते थे।
2. **मगधः** बुद्ध के समय में यह एक शक्तिशाली राज्य था। संभवतः उत्तर

में गंगा नदी, पूर्व में चम्पा नदी, दक्षिण में विंध्याचल पर्वत तथा पश्चिम में सोन नदी तक इसकी सीमाओं का विस्तार था। इस काल खंड में (अंश समेत) इसका विस्तार 2300 मील तक था और इसके अन्तर्गत 80000 ग्राम आते थे।

3. **काशी :** यह राज्य आज के बनारस के आसपास का भाग था। बुद्धकाल में राजनीतिक दृष्टि से यह काफी कमजोर हो गया था। इस नगर से प्राप्त होने वाले करों आदि के लिए कौशल तथा मगध राज्यों में परस्पर नोंक-झोंक होती रहती थी। वैसे ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण राज्य था। जातकों में इसका उल्लेख बार-बार आता है। इनमें कहा गया है कि इस राज्य का विस्तार 2000 मील तक फैला था।

4. **कौशल :** इस राज्य के अन्तर्गत बनारस और साकेत के अतिरिक्त शाक्यों का राज्य भी आता है। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी जिसका क्षेत्र अब नेपाल के अन्तर्गत आता है। संभवतः दक्षिण की ओर इसका विस्तार गंगा तक था और पूर्व में गंडक (नदी) तक। उत्तर में इसकी सीमा उत्तरी पर्वत-श्रेणियों तक फैली हुई थी।

   मगध के साथ कौशल के लगातार युद्ध होते रहते थे। उस समय दोनों राज्य अत्यंत शक्तिशाली माने जाते थे। इन दोनों पर्वतीय राज्यों ने सभी पर्वतीय तथा गांगेय क्षेत्र के आदिवासियों को अपने अधिकार में कर लिया था। हाँ, स्वतंत्र कबीलों के कारण पूर्व में कोशल का विस्तार नहीं हो पाया।

5. **वज्जी :** इस राज्य के अन्तर्गत आठ कबीलों का समावेश था। इनमें लिच्छिवी और विदेह कबीले प्रमुख थे। पूर्व शताब्दियों में विदेह में एकतंत्र शासन था लेकिन बुद्धकाल में यहाँ गणतन्त्रीय व्यवस्था प्रचलित थी। वज्जियों का राज्य करीब 2300 मील तक फैला था। इस राज्य की राजधानी मिथिला थी जो लिच्छिवियों की राजधानी वैशाली से उत्तर - पश्चिम की ओर करीब 35 मील तक स्थित थी। बौद्ध-धर्म के अभ्युदय के कुछ समय पूर्व यहाँ कुछ समय तक विख्यात राजा जनक का शासन था।

6. **मल्ल :** कुशीनारा और पावा के मल्ल भी स्वतंत्र कबीले थे। चीनी

पर्यटकों के अनुसार इनका राज्य शाक्यों के राज्य से पूर्व की ओर पर्वतों की ढलान पर स्थित था। उत्तर में यह वज्जियों के विस्तृत राज्य को स्पर्श करता था। किन्तु कतिपय विद्वानों ने इसे शाक्य राज्य के दक्षिण और वज्जियों के पूर्व में स्थित बतलाया है।

7. **चेती** : प्राचीन आलेखों में यह राज्य संभवतः चेदी कहलाता था। इस राज्य के दो अधिवासन थे। एक प्राचीन, जो पर्वतीय क्षेत्र में - नेपाल में अवस्थित था और दूसरा कौशाम्बी के पूर्व में, जिसे कभी-कभी भ्रम से वत्स राज्य भी समझा जाता था।

8. **वत्स** : इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। यह राज्य ठीक अवन्ती के उत्तर में और यमुना के किनारे स्थित था।

9. **कुरु** : इस राज्य की राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। इसके पूर्व में पांचाल तथा दक्षिण में मत्स्य राजवंश थे। कुरु राज्य का विस्तार 2 हजार मील तक फैला था। राजनीतिक दृष्टि से बुद्ध के समय इस राज्य का महत्व अधिक नहीं था। इस राज्य में रथपाल नामक एक सम्पन्न अभिजात्य रहता था जिसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी।

10. **पांचाल राज्य** : कुरु प्रदेश के पूर्व में यह राज्य गांगेय क्षेत्र तथा उत्तरी पर्वतीय श्रेणी के मध्य में स्थित था। इस राज्य की राजधानी कम्पिला और कन्नौज थी।

11. **मत्स्य राज्य** : कुरु के दक्षिण और यमुना क्षेत्र के मध्य में स्थित इस छोटे राज्य को दक्षिणी पांचाल की सीमा पृथक करती थी।

12. **सूरसेन** : इस राज्य की राजधानी मथुरा थी। यह राज्य यमुना क्षेत्र के पश्चिम और मत्स्य प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में स्थित था।

13. **अस्सक (अश्यक)** : बुद्ध के समय इस राज्य की आबादी गोदावरी के तटवर्ती क्षेत्र में बसी हुई थी। इसकी राजधानी पाटन थी। इस राज्य का अवन्ती के साथ वैसा ही सम्बन्ध था जैसा अंग देश का मगध के साथ था।

14. **अवन्ती :** बुद्धकाल में इस राज्य का शासक चंद प्रजोत था। इस प्रदेश की भूमि बहुत उर्वर थी। आर्यों ने सिंधु घाटी से आकर इस प्रदेश को विजित किया था। सातवीं-आठवीं शती से इस प्रदेश को मालवा कहा जाता है।

15. **गांधार (कंधार) :** यह राज्य पूर्ववर्ती अफगानिस्तान का भाग है और संभवतः पंजाब का उत्तर-पश्चिमी भाग इससे जुड़ा हुआ रहा है। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

16. **कम्बोज :** गांधार से लगा हुआ यह प्रदेश धुर उत्तर-पश्चिम में स्थित था। इसकी राजधानी द्वारिका थी।

उपर्युक्त राज्यों में से मगध, कौशल, वत्स तथा अवन्ती एकसत्तात्मक राज्यों में प्रमुख थे और प्रथम तीन राज्य गांगेय क्षेत्र में स्थित थे। इन राज्यों में सदैव परस्पर संघर्ष होता रहता था। यह संघर्ष ही तत्कालीन राजनीतिक इतिहास का प्रमुख वैशिष्ट्य माना जाता है। बुद्धकाल में इन राज्यों में मगध और कौशल अपने उत्कर्ष पर थे। इन दोनों राज्यों की एकसत्तात्मक शासनप्रणाली बड़ी सफल कही जा सकती है। दोनों राज्यों के राजा (मगध के बिंबसार तथा कौशल के प्रसेनदि (प्रसेनजित) बड़े उदार थे और जनता उनके राज्य में सुखी थी। यह सही है कि दोनों शासक यज्ञ आदि को प्रोत्साहन देते थे किन्तु राज्य में बौद्ध श्रवणों को अपने धर्म का प्रचार करने की पूरी स्वतंत्रता थी। वैसे राज्य-विस्तार के लिए इनके बीच आए दिन युद्ध भी होते रहते थे। इन युद्धों का विशेष उद्देश्य आर्थिक लाभ का अर्जन और राज्य-विस्तार ही होता था। बिंबसार के पुत्र अजातशत्रु ने कौशल नरेश प्रसेनजित के साथ लम्बे समय तक युद्ध किया। यद्यपि प्रसेनजित उसका चाचा था। इसी प्रकार अजातशत्रु ने बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् वज्जियों को भी ध्वस्त किया यद्यपि वज्जी की राजकुमारी उसके पिता बिम्बसार की पत्नी थी।[2]

बुद्धकालीन उपर्युक्त 16 राज्यों में बुद्ध के शाक्य वंश का नाम नहीं आता। इसका कारण संभवतः यही है कि बुद्ध के जन्म से पूर्व ही शाक्यों के गणराज्य को कौशल के किसी एकसत्तात्मक नरेश ने विजित कर अपने में मिला लिया था। विजित होने के उपरान्त शाक्य कौशल नरेश को कर देते थे लेकिन आंतरिक शासन-व्यवस्था स्वयं देखते थे।

शाक्यों की भांति वज्जी, मल, मत्स्य आदि भी गणराज्य थे। 'इन राज्यों में गांवों के नेताओं को राजा कहा जाता था। ये राजा एकत्र होकर किसी एक को अपना अध्यक्ष चुन लेते थे। यह अध्यक्ष 'महाराजा' कहलाता था। अध्यक्ष की अवधि जीवन भर के लिए होती थी या कुछ निश्चित समय के लिए ही - इसके विषय में इतिहास ग्रंथों तथा बौद्ध-ग्रंथों में कोई जानकारी नहीं मिलती। ....इन गणराज्यों में शासन-व्यवस्था के लिए कुछ कारण और नियम निश्चित कर लिए जाते थे और उनके अनुसार ही गणराजा अपने राज्य का संचालन करते थे।[3]

एकसत्तात्मक शासन-प्रणाली को प्रतिष्ठित करने में ब्राह्मणों का योगदास्न भी कम नहीं था। इस कालखंड के अन्तर्गत पुरोहित वर्ग का कार्य भी वंश-परम्परा अथवा ब्राह्मणों को ही दिए जाते थे।[4] इससे ब्राह्मण वर्ग एकसत्तात्मक-शासन-प्रणाली का प्रबल समर्थक बन गया।[5] गणराज्यों में यज्ञयागों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था जबकि एकसत्तात्मक शासन-व्यवस्था में ब्राह्मणों का आदर तो होता ही था, उन्हें धन और भूमि के रूप में पुरस्कार और दान भी दिया जाता था।[6] बिंबसार के शासनकाल में यह तथ्य बड़ी स्पष्टता से उजागर हो जाता है। परिणामस्वरूप एकतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था तथा ब्राह्मणवर्ग के परस्पर सहयोग से समाज में दोनों के प्रभाव का बढ़ना स्वाभाविक था और क्योंकि बौद्धधर्म ब्राह्मणवाद का विरोधी था, अतः गणराज्यों के प्रति बुद्ध के मन में आदर भाव था। इसीलिए उन्होंने वज्जियों को उन्नति के सात नियम बताए थे। इन नियमों की विस्तृत टीका 'महापरिनिब्बान सुत्त' की अट्ठकथा की गयी है। इन नियमों के अध्ययन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वज्जियों के गणतंत्रात्मक राज्य में एक प्रकार से 'पंचों' की प्रणाली प्रचलित थी। इनके विधि-विधान लिपिबद्ध होते थे और महाराजा उनके अनुसरा ही प्रशासन की व्यवस्था करते थे।[7]

बौद्ध-ग्रन्थों में शाक्य वंश का उल्लेख बार-बार हुआ है। लेकिन जैसा कि पिछली पंक्तियों में कहा जा चुका है कि कौशल नरेश ने शाक्यों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था; इसीलिए भारत के उपर्युक्त[8] राज्यों में

शाक्य गणतंत्र का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। शाक्य जनता कौशल नरेश को कर देती थी लेकिन वहाँ की आंतरिक व्यवस्था को शाक्य प्रशासन ही देखता था।

बुद्ध ने इसी शाक्य गणराज्य में राजा शुद्धोदन के यहाँ जन्म लिया था। इस गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु थी।

बुद्धकाल तथा उससे पूर्व के ग्राम-नगर

बौद्धकाल पर अनुसंधान कार्य कर रहे विद्वानों का मत है कि तत्कालीन भारतीय जीवन में अन्य राष्ट्रों (मिस्र, मेसोपोटामिया और चीन) के विपरीत भौगोलिक प्रभावों की अपेक्षा आर्थिक स्थितियों और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव अधिक रहा है। तत्कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था ग्रामों पर आधारित थी। वैसे इस बात को पूरी तथ्यपरकता के साथ नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध-काल में ग्राम्य-संगठनों की रूप-रेखा क्या थी। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों में स्थित विभिन्न गांवों की व्यवस्था रीति-रिवाज तथा भूमि-ग्रहण के संदर्भ में भिन्न थी। साथ ही, समुदाय के अधिकारों के संदर्भ में गृहस्थ के व्यक्तिगत अधिकरों में भी भिन्नता पाई जाती थी। आरंभिक शतियों में लिखे गए भारतीय इतिहासकारों की यह धारणा भी भ्रामक है कि भारत-विजय के दौरान आर्य जिन जातियों और कबीलों के सम्पर्क में आए, वे सभी बर्बर थे। ठीक है, उस काल-खंड के भारत में कतिपय पहाड़ी कबीले थे, जिप्सी थे और जंगलों में रहने वाले शिकारी भी थे लेकिन इनके साथ-साथ अनके ऐसी जातियां और समुदाय भी थे जो एक निश्चित स्थान पर निवास करते थे और जिनका सामाजिक संगठन अत्यंत दृढ़ था और जो हमलावरों का सामना करने में सक्षम और सम्पन्न थे। अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने का उनमें अदम्य साहस भी था। वैसे भारत जैसे विशाल देश में भूमि के लिए संघर्ष करने के अवसर कम ही आते थे। देश की विशालता के अनुपात में समुदाय और कबीले अल्प थे जो विशाल नदियों और घने जंगलों के द्वारा एक-दूसरे से अलग होते थे। कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में स्वतंत्र रूप से विकास करने और साथ ही सौहार्दपूर्ण पारस्परिक संबंधों को बनाने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध थे। ऐसी परिस्थितियों में विभिन्न समुदायों और कबीलों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं का प्रचलन समझ में आता है लेकिन इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि जीवन-पद्धतियों, मान्यताओं और परिवेश - गत भिन्नताओं के

होते हुए भी कुछ बातों में उन सब में कुछ समानताएं भी थीं। तत्कालीन ग्रामों तथा नगरों का अध्ययन हम टी० डब्ल्यु० राइस डेविड्स के ग्रंथ 'बुद्धिस्ट इंडिया' के आधार पर इस प्रकार कर सकते हैं[9]-

फसल को सभी ग्रामवासी एक ही समय पर काटते थे। सिंचाई के लिए पानी की व्यवस्था भी मिल कर सकते थे। गांव के प्रधान की निगरानी में, नियमानुसार किसानों को पानी मुहैया कराया जाता था। साथ ही, अपने खेतों की हद खींचने की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। यह कार्य एक सामान्य परिधि के निर्माण से निष्पादित होता था। पानी की गूलें खेतों की सीमाएं निर्धारित करती थीं। सामान्य नियम के अनुसार विशाल खेतों को विभिन्न प्लाटें में बांट दिया जाता था। जितने गृहपति होते थे, उतने ही प्लाट बनाए जाते थे ताकि प्रत्येक परिवार को अपने हिस्से का खाद्यान्न उपलब्ध हो सके। कोई ग्रामवासी अपने हिस्से के खेतों को किसी बाहरी व्यक्ति को न तो बेच सकता था और न ही उसे गिरवी रख सकता था। ग्राम पंचायत की अनुमति के बिना ऐसा करना उसके लिए असंभव होता था।

किसी भी ग्रामवासी को अपने खेतों की वसीयत करने का अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि स्वयं अपने परिवार के सदस्यों में वह अपनी जायदाद के हिस्से भी नहीं कर सकता था। ये सारे मामले परम्परा से चले आ रहे नियमों के अनुसार सुलझाए जाते थे और ग्रामवासियों के सामान्य ज्ञान द्वारा सही-गलत का निर्णय लिया जाता था। ग्रामवासियों का यह सामान्य ज्ञान अग्रजाधिकार को कोई मान्यता नहीं देता था। सामान्य, गृहपति के निधन पर परिवार का कामकाज बड़े बेटे की देख-रेख में पहले की तरह ही चलता रहता था और यदि जायदाद को बांटने की आवश्यकता आ पड़े तो उसे सभी बड़ों में बराबर बराबर बांट दिया जाता था। भिन्न-भिन्न कालों में यद्यपि बड़े बेटे को व्यक्तिगत जायदाद में कुछ ज्यादा हिस्सा मिल जाता था लेकिन ज्यादातर उसका बंटवारा भी सभी बेटों में बराबर-बराबर होता था। स्त्रियों की भी अपनी व्यक्तिगत जायदाद होती थी - विशेष रूप में कपड़े और आभूषण। बेटियों को अपनी मां के धन से सम्पत्ति मिलती थी। बेटियों को खेतों में अपना हिस्सा अलग करने की आवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि खेतों का उत्पाद उनके पतियों/भाइयों को मिलता था।

पारिवारिक सम्पत्ति की भांति कोई व्यक्ति उत्तराधिकार के रूप में अथवा

खरीद कर सामान्य चरागाह अथवा जंगल का कोई हिस्सा प्राप्त नहीं कर सकता था। चारागाहों और जंगली भू-भाग को बड़ा महत्व दिया जाता था। हाँ, राज्य की ओर से पुजारियों को यदा-कदा जमीन का एक हिस्सा उपहार/दान में दे दिया जाता था। राजा भी परम्परा से जमीन का स्वामित्वाधिकार देकर कर वसूल कर सकता था। वैसे कृषिकारों के अधिकारों पर कोई आंच नहीं आती थी। कर देकर कृषक-वर्ग राज्य की ओर से अपने लिए सुरक्षा प्राप्त करते थे।

गांव के सरपंच के माध्यम से सरकारी कामकाज निष्पन्न होता था। उसे ऊंचे अधिकारियों को किसानों की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार होता था। जब कोई बड़ा अधिकारी गांव में आता तो उसकी सुविधा के लिए सड़क तैयार करने तथा उसके भोजन का प्रबंध करने का जिम्मा सरपंच का ही होता था। इसके लिए ग्रामवासियों से कोई सेवा नहीं ली जाती थी। शिल्पी और मजदूर इस कार्य को अंजाम देते थे। हाँ, ग्रामवासी मिलकर अपनी मर्जी से विश्राम-गृहों और जलाशयों का निर्माण करते थे; अपने गांव की सड़कों तथा पास के गांवों को जोड़ने वाली सड़कें तैयार करते थे; इतना ही नहीं, वे मिलकर उद्यान भी बनाते थे। जनहित के ऐसे कार्यों में स्त्रियां भी उत्साह और गर्व से भाग लेती थीं।

इन गांवों की आर्थिक स्थिति एकरूप होती थी। गांव में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होता था जिसे हम आज की भाषा में धनी अथवा सम्पन्न कह सकें। उनकी सामान्य आवश्यकताएं आसानी से पूरी की जाती थीं। वहाँ सुरक्षा का भाव विद्यमान होता था और वे स्वतंत्र होते थे। इन गांवों में न तो कोई जमीदार होता था और न ही कोई निर्धन। अपराध भी नहीं के बराबर होते थे। जो भी अपराध होते वे गांव की सीमा से बाहर ही होते थे। सुरक्षा की भावना इतनी अधिक होती थी कि लोग अपने घर के द्वारों को हमेशा खुला रखते थे।

हाँ, कभी-कभी इन्हें अकाल दुष्परिणाम भोगने पड़ते थे। वैसे सिंचाई की बहुल सुविधा के कारण गांव में अकाल नहीं पड़ता था। फिर भी तत्कालीन इतिहास में अन्न की कमी के कुछ संदर्भ अवश्य उपलब्ध हो जाते हैं।

समग्रतः तत्कालीन गांवों की समाज-व्यवस्था हमारे आज के गांवों से

सर्वथा भिन्न थी। उस काल-खंड का किसान किसी बड़े दुर्भाग्य के कारण ही मजदूरी करता था। सामान्यतः तत्कालीन ग्रामीण अपनी स्वतंत्रता, अपने परिवार और अपने गांव पर गर्व करता था। वह अपने ही गांव के सरपंच से, जो उसके ही वर्ग का होता था, अनुशासित होता था। सरपंच का चयन भी गांववालें ही करते थे। सरपंच के चुनाव में वे अपनी परम्परा और अपने आदर्शों को महत्व देते थे।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन भारत एक प्रकार से गांवों का देश था। नगर भी थे अवश्य, लेकिन उनकी संख्या अधिक नहीं थी। तत्कालीन उल्लेख्य नगरों में चम्पा, मगध, कोशल, काशी, कन्नौज, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, पाटन, तक्षशिला और द्वारिका प्रमुख थे। इतिहासकारों ने, दरअसल, नगरों तथा नागरी जीवन के रेखांकन में कोई बहुत उत्साह नहीं दिखलाया। परिणाम स्वरूप इनके विषय में कम ही जानकारी उपलब्ध होती है। नगरों के सम्बन्ध में हमें ऊंची-ऊंची दीवारों, सुदृढ़ खम्भों युक्त प्राचीरों, निगरानी रखनेवाले स्तंभों तथा विशाल द्वारों का ही अधिक उल्लेख उपलब्ध होता है। दुर्गों के बाहर खाई होती थी। कहीं-कहीं दो प्रकार की खाइयों का उपयोग भी होता था। उनमें से एक पानी की और दूसरी मिट्टी की होती थी। सभी नगरों में किलेबंदी सामान्यतः एक ही प्रकार की होती थी। लेकिन दुर्गों की लम्बाई का ब्यौरा कहीं प्राप्त नहीं होता। विशाल नगरों में एक प्रकार से अनेक उपनगर बसे होते थे। इस बात का बार-बार उल्लेख मिलता है कि राजा तथा उसके प्रशासक दोपहर के आराम के लिए नगरों से बाहर उपनगरों में जाया करते थे।

बड़े मकानों में सड़क की ओर खुलनेवाली खुली खिड़कियाँ होती थीं। ये खिड़कियाँ किसी की निजी भूमि की ओर नहीं खुलती थी। घर के पिछवाड़े में घेराबंदी किसी की निजी भूमि की ओर नहीं खुलती थीं। घर के पिछवाड़े में घेराबंदी की गयी भूमि होती थीं।

इतिहास तथा बौद्ध-ग्रंथों में भवनों की गुणवत्ता के विषय में भी जानकारी मिलती है। उनके डिजाइन तथा प्रवेश-स्थल के विषय में भी कहीं-कहीं पर महत्वपूर्ण होता है। साथ ही, सामान्य जनता के आवासों का सूक्ष्म विवरण भी अनेक ग्रंथों में प्राप्य है। बुद्ध के जन्मकाल के समय भवन निर्माण के लिए

पत्थरों छठी शताब्दी में एक पहाड़ी के चारों ओर पत्थर की दीवारें चिनी गयी थीं। आरंभिक युगों में स्तम्भों और सीढ़ियों के अतिरिक्त पत्थरों का उपयोग नहीं के बराबर होता था। घरों का निर्माण या तो लकड़ी से होता था या ईंटों से। घरों की दीवारों पर चूने का उपयोग होता था। घर अनेक प्रकार के भित्ति-चित्रों से सजाया जाता था। यद्यपि इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस काल में चित्रकला अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गयी थी।

इस काल में मकानों में प्रवेश एक विशाल द्वार से होता था। इसके दाहिनी और बायीं ओर क्रम से कोष और खाद्यान्न के भंडार होते थे। यह विशाल द्वार मकान के भीतरी दालान में खुलता था जिसके आगे तल-मंजिल पर बड़े कमरे बने होते थे। इन कमरों के ऊपर एक सपाट छत होती थी जिसे 'उपरि-प्रसाद-तल' कहा जाता था। सामान्यत: गृहपति यहीं प्रशाला (पेविलियन) में रहता था। यह प्रशाला बैठक, कार्यालय और भोजन-कक्ष के लिए उपयोग में लाई जाती थी।

उधर, राजा के महल में राज्य-प्रशासन से संबंधित सभी कार्यों के लिए अलग-अलग स्थान होता था। यहाँ अनेक 'हरम' भी होते थे। महल के बाहर राष्ट्र से संबंधित कोई प्रशासन व्यवस्था नहीं होती थी। तत्कालीन इतिहास ग्रंथों में सतखंडी प्रासादों का उल्लेख भी मिलता है। लेकिन उनमें से एक भी प्रासाद भारत में शेष नहीं बचा है। हाँ, श्रीलंका के पुलस्तीपुर में संभवत: ई० पू० दूसरी शती का एक प्रसाद अभी भी मौजूद है। वहीं पत्थरों से निर्मित उस काल के सहस्त्रों स्तंभों पर खड़ा एक अन्य प्रासाद भी है। भारत में इन सतखंडी महलों का उपयोग निजी तौर पर होता था और इनका संबंध किसी प्रकार के प्रार्थनागृहों से नहीं था।

राजा के महल के सामान्य से स्थान पर सार्वजनिक जुआघर होते थे। ये जुआघर या तो एक अलग कक्ष के रूप में होते थे या स्वागत कक्ष का हिस्सा होते थे। राजा का कर्तव्य होता था कि वह ऐसे स्थान की व्यवस्था करे। इन जुआघरों से जीत का एक भाग राजकोष में जाता था। जातकों में इस सब का उल्लेख विस्तार से मिलता है।

इतिहासों में गर्म हवा और पानी के स्नानगृहों का भी उल्लेख मिलता है। विनय पिटक में इनके विषय में विस्तार से बतलाया गया है। इन स्नानगृहों से

संबंधित विवरणों को पढ़कर लगता है कि ये स्नानगृह हमारे आज के 'टर्किश बाथ' जैसे होते थे। प्रश्न उठता है यह तुर्कों ने इन स्नानगृहों से अपने स्नानगृह बनाने की प्रेरणा ली है। दीघनिकाय में एक अन्य प्रकार प्रकार के स्नान-स्थल का भी उल्लेख है। यह खुली हवा में निर्मित सरोवर होता था। इसमें नीचे उतरने के लिए सीढ़ियां होती थीं। इसके चारों ओर फूलों के पौधे लगाए जाते थे। ऐसे स्नान-स्थल धनी व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति होते थे। अनुराधापुर में आज दो हजार वर्षों के बाद भी ऐसे सरोवरों को देखा जा सकता है।

यह ठीक है कि इस प्रकार के विशाल भवनों की संख्या अधिक नहीं होती थी। गरीब लोक तो जब भी तंग गलियों में बनी झोपड़ियों में रहते थे। सामान्य जन के लिए बाजारों की एक लम्बी पंक्ति होती थी। हाँ, दुकानों में खिड़कियाँ नहीं होती थीं। ये दुकानें सड़क की ओर खुलती थीं। आम आवश्यकता की चीजें इन बाजारों में प्राप्य थीं।

नगरों में कोने के मकान की कीमत अन्य मकानों से अधिक होती थी। नगर की सड़कों पर भीड़ और शोर कम होता था। मकानों में शौच-व्यवस्था कम ही होती थी। हाँ, नालियों का उल्लेख इतिहास-ग्रंथों में बार-बार हुआ है। लेकिन इनका उपयोग पानी के लिए किया जाता था।

भृतकों की देह का व्यवस्थापन भी, कुछ अर्थों में, बड़ा कौतूहलपूर्ण होता था। जन्म से अथवा वैभव से अथवा पद-प्रतिष्ठा से अथवा ज्ञान की दृष्टि से विशिष्ट व्यक्तियों का दाह-संस्कार किया जाता था और उनकी राख को एक तथाकथित स्तूप के नीचे दबा दिया जाता था। लेकिन सामान्य व्यक्तियों के शव के व्यवस्थापन का तरीका अनोखा था। उनके शव को दफनाने के बजाय किसी सार्वजनिक खुले स्थल पर रख दिया जाता था ताकि वह पक्षी तथा पशुओं के खाने के काम आ सके या स्वाभाविक रूप से नष्ट हो जाये। यह स्थान सार्वजनिक रूप से किसी को फांसी देने के लिए भी उपयोग में लाया जाता था।

कभी-कभी शव-भूमि (शमशान) में स्तूपों का निर्माण भी किया जाता था। लेकिन सामान्यत: इन स्तूपों की निर्मिति उपनगरों, निजी जमीन या चौराहों पर होती थी। इन स्तूपों को हम बुद्धकालीन मान लेते हैं। दरअसल, ये स्तूप पूर्व बुद्धकाल के हैं तथा संसार के अन्य भागों में पाये जानेवाले स्तूपों से

बस थोड़े से ही भिन्न हैं। बौद्धकाल में शवाधान के स्थान पर स्मारकों का उपयोग ज्यादा प्रचलित नहीं था लेकिन पूर्व बुद्धकाल में स्मारकों का निर्माण बहुतायत से होता था। आर्यों के स्मारक गुम्बदनुमा होते थे लेकिन बुद्धकाल में उन्हें ईंटों से बनाया जाने था। इस प्रकार के स्मारकों का निर्माण उन लोगों के द्वारा होता था जिन्होंने पुरोहित वर्ग से अपना नाता तोड़ लिया था और जो अपने शिक्षकों, सुधारकों तथा दार्शनिकों का सम्मान करना चाहते थे। इस संदर्भ में यह जानना भी बड़ा रुचिकर है कि उपर्युक्त विशिष्ट विद्वानों के सम्मान में स्मारक बनाए जाते थे। ये विद्वान जीवन की समस्याओं के समाधान में लगे होते थे और गंभीर चिंतन-मनन करते थे। इनके अतिरिक्त राजाओं, सेनानायकों, राजनेताओं या धनपतियों के स्मारकों का कोई प्रमाण इस काल में नहीं मिलता। चूंकि विद्वानों-चिंतकों के ये स्मारक पुरोहित वर्ग से अपना संबंध विच्छेद करने वाले व्यक्तियों द्वारा बनवाये जाते थे इसीलिए पुरोहित वर्ग के रिकार्ड में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

बौद्ध काल के नगरों में राजा, उसके प्रशासनिक अधिकारियों तथा विशिष्ट सैनिक वर्ग के अतिरिक्त व्यापारियों, व्यावसायियों, शिल्पियों, श्रमिकों, संगीतज्ञों तथा कलाकारों का वास होता था। सामान्यतः लोगों का जीवन संतोषपूर्ण होता था। आज के तनाव और संघर्ष कम ही थे। लोगों में भाईचारे और परस्पर विश्वास की भावना विद्यमान थी। लोग अपने घरों में ताले नहीं लगाते थे। भारत में अनेक पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी इस प्रकार की सहजता, सरलता और परस्पर विश्वास की भावना पाई जाती है।

संदर्भ

1. बुद्धिस्ट इंडिया, टी० डब्ल्यु० राइस डेविड्स, दृष्टव्य पृ० 17 से 21 तक
2. सोशल डाइमेंशन ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, उमा चक्रवर्ती, पृ० 9
3. दृष्टव्य, बुद्ध, धर्मानन्द कोशाम्बी (अनुवाद, श्री पाद जोशी)
4. दृष्टव्य, वही, पृ० 56
5. वही, पृ० 57
6. वही, पृ० 57
7. दृष्टव्य, वही, पृ० 39
8. बुद्धिस्ट इंडिया, टी० डब्ल्यु० राइस डेविड्स, दृष्टव्य पृ० 17 से 21 तक
9. बुद्धिस्ट इंडिया, टी० डब्ल्यु० राइस डेविड्स, दृष्टव्य पृ० 30 से 37 तथा पृ० 47 से 55

46
कबीर का कालबोध और बौद्ध शून्यवाद

अमरनाथ पाण्डेय

बौद्ध दर्शन के शून्यवाद का प्रभाव कबीर काव्य पर आलोचक मानते हैं। शून्यवादियों का यह सिद्धान्त माध्यमिक दर्शन भी कहलाता है। नागार्जुन शून्यवाद को सैद्धान्तिक पूर्णता प्रदान करने वाले दार्शनिक माने जाते हैं। कबीर साहित्य के अन्तर्गत 'गगन' तथा 'शून्य' शब्दों के कई बार प्रयोग हुए हैं। 'शून्य' विष्णु सहस्रनाम के अनुसार भगवान नामों से एक हैं। बौद्धों की विचारधारों में इस शब्द को अधिक महत्व उस समय से मिलने लगा जबसे शून्यवाद का प्रचार हुआ। शून्यवाद के आधार पर जो इस शब्द की परिभाषा बतलाई गई वह भी तत्वतः इसके शून्य तत्व के अनिर्वचनीय होने की ओर संकेत करता है। कबीर 'शून्यमण्डल' का कई बार प्रयोग करते हैं। **'सुनि मंडल में घर किया'** तथा **'सुनिमंडल में धरौंधियान'** आदि।[1]

बुद्ध ने इस दर्शन को साधना के स्तर पर विकसित किया। उन्होंने जगत को दुःखमय माना और दुःख के कारणभूत चार आर्य सत्यों को आविष्कृत किया कि दुःख हैं, दुःख का कारण हैं, दुःख का अन्त हैं और दुःख दूर करने का उपाय है।[2] बुद्ध दर्शन के आधार चार आर्य सत्य हैं, और उनमें सर्वप्रथम आर्य सत्य 'दुःखसत्य' हैं। 'दुक्खं अरियसच्चं। दुक्ख समुदयं अरियच्चं। दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। दुक्खनिरोधगामिनी परिपदा अरियसच्चं।'

जन्म भी दुःख है, वृद्धावस्था भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक-परिदेवन दोर्मनस्य-उपासना भी दुःख है, अप्रिय का योग दुःख है, प्रिय का वियोग दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है। इसी प्रकार शून्यवाद के अनुसार[3] भी दुःख

संसार के सभी प्राणियों में वर्तमान है। वे चाहे जिस अवस्था में हों दु:ख से छुटकारा नहीं पा सकते। दूसरा सत्य यह है कि दु:ख का कारण है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता।

बुद्ध के शून्यवाद के अनुसार सब कुछ क्षणिक है। सृजन होता है कि संहार होता है। उस प्रकार हम देखते हैं। नागार्जुन द्वारा प्रस्तावित शून्यवाद को साधना के स्तर पर बुद्ध ने स्थापित किया। उस मत के मूल में सह धारणा है कि संसार शून्य है।

माध्यमिक अथवा शून्यवाद के अनुसार संसार शून्य हैं। अन्तर्बाह्य सभी असत्य हैं। इसीलिए उसे शून्यवाद कहा है।[4] बुद्ध के शून्यवाद मत का सन्त मत पर प्रभाव पड़ा है। गौतम तथा कबीर में सैद्धान्तिक धरातल पर यहाँ आधारभूत साम्य है। वस्तुत: कबीर के दु:ख के रूप वे ही हैं जो गौतम के थे:

कबीरा मैं तो सब डरौं, जो मुझ ही में होइ।
मीचु, बुढ़ापा, आपदा, सब काहू पै सोइ।।

दोहे के अन्तिम में दु:ख की मुख्य पहचान सर्वव्यापकता अर्थात् प्रथम आर्य सत्यत्व सिद्ध किया गया है, और तृतीय चरण में उस आर्य सत्य (दु:ख) के तीन रूप बतलाए हैं – मृत्यु (मीचु), जरा (बुढ़ापा), तथा रोगादि (आपदा)। गौतम का क्रम है जरा-मरण-शोक, परन्तु कबीर का क्रम है, मीचु-बुढ़ापा-आपदा। कुमार सिद्धार्थ के तीन अनुभव ही कबीर के दु:ख रूप हैं।[5]

बुद्ध ने दु:ख समुदाय हेतु तीन प्रकार की तृष्णा (काम, भव, विभव) को माना है। कबीर ने जगत को दु:खमय माना है क्योंकि आशारूपिणी तृष्णा विश्वव्यापिनी है –

माया मुई न मन मु, मरि-मरि गया सरीर।
आसा-तृस्ना नां मुई, कहि गया दास कबीर।।[6]

तृष्णा के प्रति अनासक्ति कठिन कार्य है। बुद्ध का चतुर्थ आर्य सत्य, दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपद:सही मार्ग दिखाता है। यह जो कामोपभोग का हीन, अनार्य-अनर्थ का जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने

का दुःखमय, अनार्य-अनर्थक जीवन है, इन दोनों किनारों से बचकर मध्यम मार्ग प्राप्त होता है जो शमन के लिए, बोध के लिए, निर्माण के लिए है। इसी को अष्टांगिक मार्ग[7] और इसी को मध्यमा प्रतिपदा कहते हैं।

सिद्धान्त से आचरण तक की एकरूपता को बुद्ध और कबीर निस्सार सांसारिक मायामोह से उदासीन होने के लिए अनिवार्य समझते हैं। उसका चरम उद्देश्य जन्म-मृत्यु-चक्र से मुक्ति है। वस्तुतः सभी साधनाओं का लक्ष्य निर्वाण है। जिस प्रकार भिक्षुओं, तेल के रहने से, बत्ती के रहने से, दीपक जलता है और तेल तथा बत्ती के समाप्त हो जाने तथा दूसरी तेल बत्ती के न रहने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार भिक्षुओं, शरीर छूटने मरने के पश्चात्, जीवन से परे, अनासक्त रहकर की गयी ये वेदनाएं यहीं ठंडी पड़ जाती हैं। कबीर ने इसी प्रकार के दृष्टान्त का उपयोग मोक्ष-प्रतिपादन के लिए किया है-

(क) **दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।**
पूरा किया बिशाहुणां, बहुरि न आवों हट्ट।।

(ख) **झल उठी, झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।**
जोगी थासो रमि गया, आसन रही विभूति।।[8]

बुद्ध ने इस माध्यमिक शून्यवादी दर्शन का कबीर काव्य पर प्रभाव देखा जा सकता है। चमत्कार प्रदर्शन मध्यकालीन मानस में विद्यमान था। उससे उत्पन्न विकारों को दूर करने के लिए जागतिक शून्यता-निरर्थकता व्यक्त करना आवश्यक था। सांसारिक आसक्तियों का विरोध करने के लिए जिस वैचारिक भावभूमि की जरूरत थी, वह शून्यवाद में कबीर को प्राप्त हुई।

नागार्जुन के शून्यवाद को शांकर अद्वैत के ब्रह्म के समानान्तर देख सकते हैं। कबीर ने सांसारिक भ्रम का अर्थ व्यक्त करने के लिए भी इसका प्रयोग किया है। जीवन जगत के क्षणवादी दर्शन को 'पानी केरा बुदबुदा' रूप में व्यक्त करने वाले कबीर के विचारों के भीतर एक विरक्ति का तीव्र स्वर हैं, उसयी में यह भाव भी निहित है कि यह संसार आंसुओं का दरिया है, दुःख का सागर हैं। वह बराबर इस बात की याद दिलाते हैं कि अन्ततः सारी चीजें मृत्यु की ओर ले जाती है। 'शून्य' जैसे दार्शनिक शब्द में भी कई बार आते हैं। उनकी कुछ पंक्तियां नागार्जुन की 'शून्यकारिका' के अनुवाद जैसी लगती हैं-

भारी कहूँ तो बहु डरौं, हलका कहूँ तो झूठा।
मैं का जानो राम कूँ, नैनूँ कबहूँ न दीठा।।

वे बराबर कहे और अनकहे, स्वर और मौन के बीच की मध्य स्थिति का उल्लेख करते हैं। उच्च कुलीनों के ढोंग की आलोचना करते समय वे बौद्धों का उत्साह और वज्रयानियों की तीव्रता अपनाते हुए लगते हैं।[9]

नागार्जुन के खंडनात्मक और प्रहारक शून्यवाद को बुद्ध ने साधना में उतारा और कबीर ने सर्वनिषेधवादी दृष्टि में संसोधन करके उसे रचनात्मक सन्दर्भ प्रदान किए।

संदर्भ

1. परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख, पृ० 233
2. डॉ० ओमप्रकाश, कबीर और बौद्ध मत, कबीर-विजेन्द्र स्नातक, 225
3. भक्ति काव्य का दार्शनिक चेतना, नारायण प्रसाद वाजपेयी, पृ० 26
4. वही, पृ० 26
5. कबीर, विजेन्द्र स्नातक, पृ० 225
6. कबीर ग्रंथावली, वचनावली, पृ० 160
7. कबीर, विजेन्द्र स्नातक, पृ० 227
8. कबीर, विजेन्द्र स्नातक, पृ० 229
9. प्रभाकर माचवे, कबीर, पृ० 18

47

बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता

(भारतीय संस्कृति के प्ररिप्रेक्ष्य में)

इन्दुधर मिश्र

ईसा पूर्व छठी शताब्दी अत्यधिक धार्मिक उथल-पुथल का युग था। पूरे विश्व के सुधारकों ने समकालीन सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयों का विरोध किया तथा नवीन सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था का पुनर्निमाण करने का प्रयास किया। चीन में कनफ्यूशियस, ईरान में जोरोथ्रुस्ट्रा, यूनान में परमानाइड्स और जूडिया में जेरेमिया के कारण सामाजिक तथा धार्मिक जागरण का जन्म हुआ। भारत में ऐसे दो तेजस्वी व्यक्ति हुए। पहले महावीर, जिन्होंने जैन धर्म की स्थापना की और दूसरे गौतम बुद्ध, जिन्होंने बौद्ध धर्म को जन्म दिया। इन दोनों धर्म प्रवर्तकों ने प्राचीन अस्त-व्यस्त समाज में नवजीवन का संचार किया। उन्होंने पुरोहितों के अत्याचार, धर्म के कर्मकाण्डीय स्वरूप, जाति-प्रथा की क्रूरता और ब्राह्मणों के प्रभुत्व आदि का विरोध किया। उन्होंने स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए सामाजिक समानता, न्याय तथा स्वतंत्रता का समर्थन किया था, वेदों और वैदिक कर्मकाण्डों का खण्डन किया, यज्ञों की निन्दा की तथा अहिंसा, अपरिग्रह व प्रेम के सिद्धान्तों की शिक्षा दी। ये दोनों धर्म हिन्दू-धर्म के सुधरे हुए नवीन रूप हैं। ये दोनों धर्म आर्य संस्कृति की पृष्ठभूमि में जन्मे तथा उपनिषदों के दर्शन से अनुप्राणित थे। कर्म, आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, आदि के बारे में उनके विचारों को उपनिषदों से प्रेरणा मिली थी। अन्ततः इन दोनों धर्मों की अपनी-अपनी प्रासंगिकता बनी रही।

बुद्ध मध्यम मार्ग के उपदेशक थे। उन्होंने अनियंत्रित भोग तथा कायाक्लेश

इन दोनों ही अत्तियों का निषेध किया। तथागत ने इस जगत को दुःख के अनन्त प्रवाह के रूप में देखा तथा दुःख की निवृत्ति हेतु चार आर्य-सत्यों-दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोधमार्ग- का उपदेश दिया। चार आर्य सहयों की अवधारणा चिकित्साशास्त्र के चर्तुव्यूहों से प्रभावित प्रतीत होती है।[1] विनय एवं निकायों में पहले सत्य के अन्तर्गत दुःख को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। दूसरे सत्य में प्रतीत्य समुत्पाद अथवा निदानों का, तीसरे में निर्वाण अथवा निरोध का और चौथे सत्य में नाना बोधिपाक्षिक धर्मों का, विशेषतः अष्टांगिक मार्ग का निरूपण हुआ है।[2]

महात्मा बुद्ध ने संसार में दुःख की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से दुःख का निदान प्रस्तुत किया। प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्याग्रस्त जीवन में दुःख का चक्राकर विकास प्रदर्शित करता है। प्रारम्भ से अविद्या, तृष्णा और कर्म को ही विश्वव्यापी दुःख का कारण माना गया है[3] किन्तु क्रमशः प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत द्वादश निदानों की शृंखला परिकल्पित हुई। बुद्ध ने दुःख का निरोध निर्वाण में बताया। बुद्धदेशना में एक ओर दुःख - मग्न प्रतीत्यसमुत्पन्न संसार का चित्र है तो दूसरी ओर शान्त, ध्रुव और शोकरहित निर्वाण का। निर्वाण की परिकल्पना एक ओर अर्तक्य और नित्य सत्य के रूप में की गई, जिसमें प्रपंचों का उपशमन हो जाता है तथा संसार का निरोध।[4]

महात्मा बुद्ध ने 'दुःख निरोध - गामिनी प्रतिपदा' के अन्तर्गत संसार से निर्वाण की ओर ले जाने वाले नैतिक और आध्यात्मिक साधना के मार्ग का उपदेश दिया जिसे, 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' की संज्ञा दी गई है।[5] आठ मार्गों के रूप में उन्होंने सम्यक् दृष्टि, (वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ध्यान करना), सम्यक् संकल्प (आसक्ति, द्वेष तथा हिंसा से मुक्त विचार रखना), सम्यक् वाक् (वाणी की पवित्रता और सत्यता), सम्यक् कर्मान्त (दान, दया, सत्य, अहिंसा, आदि सत्कर्मों का अनुसरण), सम्यक् आजीव (सदाचार के नियमों के अनुकूल आजीविका का अनुसरण करना), सम्यक् व्यायाम (नैतिक, *मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए सतत्* प्रयत्न करते रहना), सम्यक् स्मृति (अपने विषय में सभी प्रकार की मिथ्या धारणाओं का त्याग कर सच्ची

धारणा रखना) और सम्यक् समाधि (मन अथवा चित्त की एकाग्रता) का निर्देश दिया। बौद्ध व्यवस्था में इन आठों को प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन स्कन्धों के अन्तर्गत रखा गया है।[6] ऐसा माना गया कि प्रज्ञा से दृष्टि संक्लेश, समाधि से तृष्णा संक्लेश और शील से दुश्चरित संक्लेश की शुद्धि होती है। बोधिपाक्षिक धर्मों पर विचार से ज्ञात होता है कि बुद्धोपदिष्टि मार्ग में संयम, पुरुषार्थ, जागरूकता, और एकाग्रता का विशेष महत्व था।[7] तथागत ने मार्ग के रूप में मुख्यत: एक ऐसी आचार संहिता का उपदेश दिया जो मनुष्य के आध्यात्मिक उन्नयन के लिए आज भी अत्यन्त प्रासंगिक है।

बौद्ध धर्म की प्रगति ने भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न पक्षों को अनुप्राणित करने में बहुमूल्य योगदान दिया। बौद्ध धर्म ने ही सर्वप्रथम भारतीयों को एक सरल तथा आडम्बररहित धर्म प्रदान किया जिसका अनुसरण राजा - रंक, ऊंच-नीच सभी कर सकते थे। धर्म के क्षेत्र में इसने अहिंसा एवं सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। अशोक, कनिष्क, हर्षवर्धन आदि राजाओं में जो धार्मिक सहिष्णुता देखने को मिलती है वह बौद्ध धर्म के प्रभाव का परिणाम थी। अशोक ने युद्ध विजय की नीति का परित्याग कर धम्मविजय की नीति को अपनाया तथा लोककल्याण का आदर्श विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया।

बौद्ध धर्म के उपदेश तथा सिद्धान्त पाली भाषा में लिखे गये जिससे पाली भाषा एवं साहित्य का विकास हुआ। बौद्ध संघों की व्यवस्था लोकतंत्रात्मक प्रणाली पर आधारित थी। इसके तत्वों को हिन्दू मठों तथा बाद में राजशासन में ग्रहण किया गया।

भारतीय दर्शन में तर्कशास्त्र की प्रगति बौद्धधर्म के प्रभाव से ही हुई। बौद्ध दर्शन में शून्यवाद तथा विज्ञानवाद की जिन दार्शनिक पद्धतियों का उदय हुआ उनका प्रभाव शंकराचार्य के दर्शन पर पड़ा। यही कारण है कि शंकराचार्य को कभी-कभी प्रच्छन्न-बौद्ध भी कहा जाता है।

बौद्ध धर्म ने लोगों के जीवन का नैतिक स्तर ऊंचा उठाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जन-जीवन में सदाचार एवं सच्चरित्रता की भावनाओं का विकास हुआ। बुद्ध स्वयं नैतिकता को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे तथा ज्ञान से

भी इसे बढ़कर मानते थे। बौद्ध धर्म ने न केवल भारत अपितु विश्व के देशों को अहिंसा, शान्ति, बन्धुत्व, सह-अस्तित्व आदि का आदर्श बताया। इसके कारण ही भारत का विश्व के देशों पर नैतिक आधिपत्य कायम हुआ। बुद्ध ने मानव जाति की समानता का आदर्श प्रस्तुत किया।

बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक सम्पर्क विश्व के विभिन्न देशों के साथ स्थापित हुआ। भारत के भिक्षुओं ने विश्व के विभिन्न भागों में जाकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से आकर्षित होकर शक, पार्थियन, कुषाण आदि विदेशी जातियों ने बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया। यवन शासक मेनाण्डर तथा कुषाण शासक कनिष्क ने इसे राजधर्म बनाया और अपने साम्राज्य के साधनों को इसके प्रचार में लगा दिया। अनेक विदेशी यात्री तथा विद्वान बौद्धधर्म का अध्ययन करने तथा पवित्र बौद्ध स्थलों को देखने की लालसा से भारत में वर्षों तक निवास कर इस धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया। आज भी विश्व की एक तिहाई जनता बौद्ध धर्म तथा उसके आदर्शों में अपनी श्रद्धा रखती है।

बौद्ध धर्म की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन भारतीय कला एवं स्थापत्य के विकास में रही। इस धर्म की प्रेरणा पाकर शासकों एवं श्रद्धालु जनता द्वारा अनेक स्तूप, विहार, चैत्यगृह, गुहायें, मूर्तियां आदि निर्मित की गयी जिन्होंने भारतीय कला को समृद्धिशाली बनाया। सांची, सारनाथ, भरहुत आदि के स्तूप, अजन्ता की गुफायें एवं उनकी चित्रकारियां, अनेक स्थानों से प्राप्त एवं संग्रहालयों में सुरक्षित बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियां आदि बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को अनुपम देन है। गन्धार, मथुरा, अमरावती, नासिक, कार्ले, भाजा आदि बौद्ध कला के प्रमुख केन्द्र थे। आज भी भारत के कई स्थानों पर बौद्ध स्मारक विद्यमान हैं तथा श्रद्धालुओं के आकर्षण के केन्द्र बने हुए हैं।

विश्व के देशों को अहिंसा, करूणा, प्राणिमात्र पर दया आदि का सन्देश भारत ने बौद्ध धर्म के माध्यम से ही दिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शताब्दियों पूर्व महात्मा बुद्ध ने जिन सिद्धान्तों एवं आदर्शों का प्रतिपादन किया वे आज के वैज्ञानिक युग में भी अपनी

प्रासंगिकता बनाये हुए हैं तथा संसार के देश उन्हें कार्यान्वित करने हेतु प्रयासरत हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा गांधी जयंती को 'विश्व अहिंसा दिवस' के रूप में मनाने का निर्णय लेना सुखद है। भारत ने अपने राजचिन्ह के रूप में बौद्ध प्रतीक 'सारनाथ स्तम्भ का सिंह-शीर्ष' को ही ग्रहण किया है तथा वह शांति एवं सह अस्तित्व के सिद्धान्त का पोषक बना हुआ है। पंचशील का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की ही देन है। आधुनिक संघर्षशील युग में यदि हम बुद्ध के सिद्धान्तों का अनुसरण करे तो निःसन्देह शान्ति एवं सद्भाव स्थापित हो सकती है।

जब हम देखते हैं कि आज भी विश्व के देश हथियारों की होड़ रोकने तथा युद्ध की विभीषिका को टालने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहने के बावजूद सफल नहीं हो पा रहे हैं तथा मानवता के लिए परमाणु-युद्ध का गम्भीर संकट बना हुआ है, तब बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। बुद्ध के उदात्त आदर्श विश्व शान्ति की स्थापना के लिए आज भी हमारा मार्ग दर्शन करते हैं।

संदर्भ

1. कर्न, मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म, पृ० 67
2. राव, राजवंत, प्राचीन भारत में धर्म और राजनीति, पृ० 173
3. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ० 434-35
4. मज्झिम निकाय, 3, पृ० 245, संयुक्त निकाय-1, पृ० 15
5. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन, पृ० 49
6. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, स्टडीज इन द ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म
7. राव, विजय बहादुर, मगध साम्राज्य का उदय (सं० श्रीराम गोयल) पृ० 246

48

जैन एवं बौद्ध परम्परा में अहिंसा

काली शंकर तिवारी

ईसा पूर्व छठी शताब्दी का काल धार्मिक दृष्टि से क्रान्ति अथवा महान परिवर्तन का काल माना जाता है। इस समय नवीन विचारधाराओं का आविर्भाव हुआ। ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेत्तर श्रमणों, परिव्राजकों, भिक्षुओं आदि के अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आए जिन्होंने विभिन्न मतों एवं वादों का प्रचार एवं प्रसार किया। इनमें जैन एवं बौद्ध मतों का प्रमुख स्थान है। इनकी उत्पत्ति आकस्मिक नहीं बल्कि वैदिक युग से अब तक के पूंजीभूत विश्वासों के सत्यान्वेषण का प्रतिफल था। इस काल में मनुष्य की जिज्ञासा युग पुरातन के संचित विश्वासों के आवरण को हटाकर प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता का साक्षात्कार करना चाहती थी। मनुष्य की तर्कशीलता एवं सत्यान्वेषी दृष्टि के समक्ष अंधविश्वास की प्राचीनता डगमगा रही थी, कर्मकाण्ड की विशाल दीवारें जर्जरित हो रही थीं और अंधविश्वासों पर संरोपित पुरातन मान्यतायें अब मानव के सम्मुख निराश सी दिखाई देने लगी थीं।

यह सत्य है कि जैन एवं बौद्ध परम्परा ब्राह्मण धर्म के घोर कर्मकाण्ड की बलवती प्रतिक्रिया थी। ब्राह्मण धर्म के हिंसात्मक यज्ञीय कर्मकाण्डों के विपरीत अहिंसा को जैन एवं बौद्ध विचारधारा में सर्व प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। भारतीय सामाजिक जीवन में श्रमण परम्परा एवं वैदिक परम्परा में अहिंसा की नीति को लेकर सदैव विरोध रहा। पशुबलि यज्ञ क्रियाओं का एक सामान्य अंग बना रहा। जिसका श्रमण साधु सदैव विरोध करते रहे। जैन धर्म अहिंसा की भावना का प्रथम उद्घोषक माना जाता है। इस धर्म ने अहिंसा पर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया। इसके अनुसार संसार में अनन्त प्राणी हैं और सब में जीव विद्यमान

है, सब में निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता है। अतएव वे इनकी हिंसा पर निरोध लगाते हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रासजीव इन छः प्रकार के जीवों के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार ही जैन धर्म में अहिंसा हैं। बौद्ध धर्म में भी यज्ञीय कर्मकाण्डों तथा पशुबलि जैसी कुप्रथाओं का जमकर विरोध किया गया। विश्व के देशों को अहिंसा, प्राणिमात्र पर दया आदि का संदेश भारत ने बौद्ध धर्म के माध्यम से ही दिया। बौद्ध धर्म में जिस अहिंसा एवं सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया उसका प्रभाव ही था कि अशोक ने युद्ध विजय की नीति का परित्याग कर धम्म विजय की नीति को अपनाया तथा सम्पूर्ण विश्व को 'जियो और जीने दो' का संदेश दिया। अशोक ने अनेक पशु-पक्षियों के वध पर रोक लगाया। अपने भोजनालय में भी उसने मांस पकाने पर प्रतिबन्ध लगाया। पर बौद्ध धर्म की अहिंसा जैनियों की तरह अतिवादी नहीं थी। यह माध्यम मार्ग से इसका अनुकरण करते थे। सामाजिक जीवन में शाकाहारी भोजन का प्रचलन भिक्षु नियमों के अनुसार हुआ। यह अहिंसा का ही प्रभाव था। छूट केवल तभी थी जब विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो जैसे संघ में बुद्ध की मौसी के सिर में पीड़ा होने पर बताया गया कि मांस खाने से यह पहले ठीक होता था, तो बुद्ध ने उस परिस्थिति में मांस खाने की छूट दे दी थी। इसी प्रकार भिक्षाटन में मिले मांस के भोजन की तथा सामाजिक उत्सवों में मिले मांस को खाने की छूट थी।

अहिंसा की नीति के पोषक होने के कारण ये मत तत्कालीन जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुए, विशेष रूप से व्यापारियों एवं कृषकों के बीच। क्योंकि युद्ध आदि से सर्वाधिक क्षति इन्हीं को होती थी। अहिंसा की नीति के कारण पशुपालन को भी बढ़ावा मिला। जोकि पशुओं की बढ़ती उपयोगिता को देखते हुए समय की मांग भी थी।

इस प्रकार जैन एवं बौद्ध परम्परा में अहिंसा के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे आज के वैज्ञानिक युग में भी अपनी प्रासंगिकता बनाये हुए हैं तथा विश्व के देश उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयास कर रहे हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य में महात्मा गांधी के अहिंसा के प्रयोग तथा पंचशील के सिद्धान्तों पर इनका प्रभाव देखा जा सकता है। आधुनिक संघर्षशील युग में

यदि हम जैन एवं बौद्ध परम्परा के अहिंसा के सिद्धान्तों का अनुसरण करें तो निःसंदेह शान्ति एवं सद्भाव स्थापित हो सकता है। इसके अलावा यह बात सामने आयी है कि मांसाहार से वैश्विक तापमान में वृद्धि हो रही है। अतः शाकाहार को अपनाकर कुछ हद तक इस विश्वव्यापी समस्या पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

संदर्भ

1. गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति एवं साधना।
2. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन।
3. नलिनाक्ष दत्त, स्प्रेड ऑफ बुद्धिज्म।
4. जे० एल० जैनी, जैनिज्म।
5. ए० पी० करमाकर, रिलिजन ऑफ इण्डिया।
6. शिव स्वरूप सहाय, प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन।

49
कलचुरि काल में बौद्ध धर्म

आशीष कुमार सिंह

महान व्यक्तित्वों और विचारधाराओं का एक गुण यह भी होता है कि वह न केवल अपने क्षेत्र अपितु समाज के अन्य क्षेत्रों पर भी अपना प्रभाव छोड़ते हैं। भगवान बुद्ध उन्हीं व्यक्तित्वों का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, जिन्होंने न केवल समकालीन परिवेश को प्रभावित किया बल्कि भविष्य हेतु भी अमिट छाप छोड़ी। भगवान बुद्ध ने जिस महान धर्म व चिंतन की नींव डाली, उससे विश्व आज तक लाभान्वित हो रहा है। जनता के बीच अधिकाधिक लोकप्रिय होने के कारण व्यापक स्तर पर बौद्ध धर्म के संदर्भ में अनेक राजवंशों व शासकों ने अपनी दरबारी नीतियों को बदला। बौद्ध धर्म को उसके अभ्युदय के बाद से प्रत्येक राजवंशों ने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अपनाया व उसका प्रचार-प्रसार किया। इन्हीं राजवंश में से एक कलचुरी राजवंश था।

कलचुरियों के शासन काल में ब्राह्मण धर्म मुख्य रूप से प्रचलित था, *परन्तु कलचुरि शासक असहिष्णु नहीं थे। अतः उनके राज्य में अन्य धर्म भी* फले-फूले, जिसमें बौद्ध धर्म भी एक था। यद्यपि कलचुरि काल के प्रारम्भिक शिलालेखों में बौद्ध धर्म की चर्चा तो नहीं है, किन्तु बाद के अभिलेखों में बौद्ध धर्म के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इन उल्लेखों से इस बात की पुष्टि होती है कि कलचुरि साम्राज्य में वैष्णव, शैव और जैन धर्म के साथ-साथ प्रजा में बौद्ध धर्म के भी अनुयायी थे, जिनकी आस्था बौद्ध धर्म की महायान शाखा में थी। इस पंथ से सम्बन्धित मूर्तियां कलचुरि कालीन क्षेत्रों में आज भी प्राप्त होती हैं।[1]

बौद्ध धर्म में सारनाथ का अपना विशेष महत्व है। भगवान बुद्ध ने यहाँ पर धर्मचक्र-प्रवर्तन नामक अपना प्रथम उपदेश दिया था। यही से प्राप्त संवत् 810 का कलचुरि शासक कर्ण का शिलालेख भी विशेष महत्व का है। इसमें एक बौद्ध धर्मावलम्बी धमेश्वर की पत्नी मामका का उल्लेख है, जो महायान संप्रदाय में दीक्षित थी।[2] मामका ने बौद्ध ग्रन्थ अष्टसहस्त्रिकाप्रज्ञा की एक प्रति लिखवाकर, यहाँ पर स्थित श्रीषडधर्मचक्रप्रवर्तन महाबोधिमहाविहार के भिक्षुओं को दान में दी थी। यह एक हीनयान संप्रदाय का ग्रंथ था। इसके अनुसार बुद्ध अन्य अर्हतों में श्रेष्ठ समझे गये हैं। इस ग्रंथ में विचार है कि मैं एक आत्मा का दमन करूं और एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊं। इस मत में जीवन का लक्ष्य, बुद्धत्व नहीं है, अपितु अर्हत पद की प्राप्ति है।[3] उसने यहाँ के भिक्षुओं से निवेदन किया था कि उसका विहार में नित्य प्रति पाठ होना चाहिये।[4] कलचुरि काल के कतिपय लेखों में बौद्ध धर्म के देवताओं का उल्लेख भी प्राप्त होता है, जैसे - विजय सिंह के संवत् 944 के रीवा अभिलेख में बौद्ध देवता मंजूघोष की प्रशंसा की गई है।[5] मंजूघोष का सम्बंध विद्या से है तथा ये बौद्धों के ज्ञान के देवता हैं।[6] बौद्ध धर्म में छः ध्यानी बुद्ध माने जाते हैं - अमिताभ, अक्षोभ्य, वैरोचन, अमोघसिद्ध, रत्नसंभव और वज्रसत्व।[7] यहाँ पर मंजूघोष को अक्षोभ्य से उत्पन्न बताया है, ये सिंहासन पर बैठे हुए हैं। इनके दाहिने हाथ में कमल पुष्प हैं, किन्तु दूसरे हाथ में पुस्तक नहीं है। इनका दूसरा हाथ व्याख्यान मुद्रा में दिखाया गया है। कहीं-कहीं इन्हें सिंहासन के स्थान पर सिंह पर ललितासन मुद्रा में आरूढ़ विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित बतलाया गया है।[8] सरयूपार के कलचुरियों में सोढ़देव का कहला नामक ताम्रपत्र भी बौद्ध धर्म से सम्बंधित है। यह भगवान बुद्ध की निर्वाण स्थली कुशीनगर से प्राप्त होने के कारण भी विशेष महत्व का है।[9] इस अभिलेख में बुद्ध की कृपा प्राप्ति की भी कामना की गयी है।[10] बौद्ध धर्म में तारा का वही स्थान है जो हिंदू धर्म में दुर्गा का है। यह अवलोकितेश्वर के साथ वैसे ही प्रदर्शित हैं जैसे कि शिव के साथ पार्वती।[11] बौद्ध धर्म में अनेक देवियों का उल्लेख है जो तारा नाम से जानी जाती हैं। जिनमें एक अमोघसिद्धि की शक्ति आर्यतारा है।[12] महाचीनतारा या उग्रतारा का भी उल्लेख प्राप्त होता है जो अक्षोभ्य की शक्ति है।[13] अमोघसिद्धि से उत्पन्न खादिरविनीतारा, वश्यतारा, षडभुजासिततारा, धनधतारा का भी उल्लेख

है।[14] कुछ अन्य तारा देवियों का भी उल्लेख है जो महतरितारा, वरदतारा, अष्टमहाभयतारा, हरिततारा, शुक्लतारा, पीततारा, कृष्णतारा, रक्ततारा, दुर्गोतारिणी तारा वज्रतारा आदि हैं।[15] द्वितीय पृथ्वीदेव के कोनी अभिलेख में बौद्धों के त्रिरत्न बुद्ध, धम्म एवं संघ का उल्लेख है।[16] इसके लेखक कासल कई शास्त्रों के ज्ञाता तथा आगमों के व्याख्याकार था।[17] (तंत्र साहित्य को आगम के नाम से जाना जाता है)। बौद्ध सम्प्रदाय के तीन सिद्धान्तों की चर्चा द्वितीय रत्नदेव के अकलतारा पाषाण अभिलेख में होती है।[18] प्रथम जाजल्लदेव के रत्नपुर अभिलेख में दिंड्नाग के ग्रंथ की चर्चा है।[19] दिंड्नाग ने प्रमाण सम्मुचय नामक ग्रन्थ लिखा था।[20] कलचुरिकालीन अनेक शिल्पकृतियां भी बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व करती हैं। कलचुरिकालीन कुछ ईंटें तथा सिक्कों पर अंकित त्रिरत्न चिन्ह उस समय प्रचलित बौद्ध धर्म का जीवंत प्रमाण है।[21] भेड़ाघाट से 05 कि० मी० दूर गोपालपुर नामक ग्राम से पांच प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जिनमें से चार बौद्धिसत्व अवलोकितेश्वर की है और एक तारा की है।[22] अवलोकितेश्वर की एक प्रतिमा वज्रपर्यंक (पलंग पर वज्रासन मुद्रा में) मुद्रा में मिली है। इसके दोनों ओर बुद्ध प्रतिमाएं प्रदर्शित हैं, जिनमें एक वैरोचन की है तथा दूसरी अमोघसिद्धि की है।[23] त्रिपुरी से भी बोद्धिसत्व की मूर्ति प्राप्त हुई है। बोद्धिसत्व का अर्थ है – बुद्ध का अवतार। बोद्धिसत्व को कमल पर योगासन में बैठे हुए दिखाया गया है। उनके सिर पर किरीट, गले में रत्नहार, बाहुओं में केयूर तथा हाथों में वलय है। मूर्ति बोधिसत्व और बुद्ध की मूर्ति का मिला जुला रूप है।[24] सिरपुर से भी उत्खनन के समय बुद्ध की कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो वरद मुद्रा (वरदान देने की स्थिति) में है।[25] कलचुरिकालीन एक मूर्ति त्रिपुरी से प्राप्त हुई है जो बौद्ध देवी तारा की है। यह प्राणियों को संसार से तारती हैं, इसीलिए इसे तारा कहते हैं। तारा बौद्धों की कल्याणकारी देवी है। इस मूर्ति के मुख पर दुनियादारी में फंसे हुए लोगों के प्रति अनुकंपा का भाव दिखाई देता है।[26] गांगेयदेव के राज्य काल के अंतिम समय में उनके पुत्र कर्ण ने मध पर आक्रमण किया। वहाँ पर युद्ध के समय अनेक बौद्ध मठ लूटे गये और चार भिक्षु और उपासक मार डाले गये। अंत में सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु अतिश दीपंकर के हस्तक्षेप के बाद युद्ध समाप्त हो गया।[27] यहाँ पर कर्ण ने बौद्धों के प्रति दमनात्मक नीति का अनुसरण किया, परन्तु अनेक संदर्भों से

ज्ञात होता है कलचुरिकालीन शासन व्यवस्था धार्मिक रूप से सहिष्णु थी। कसिया अभिलेख में विष्णु और शिव के साथ बुद्ध की भी स्तुति की गयी है।[28] कलचुरि नरेश कर्ण ने भी अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह पाल नरेश विग्रहपाल से किया था जो बौद्ध धर्म का अनुयायी था।[29] जाजल्लदेव के रत्नपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि उनके राजपुरोहित रुद्रराशि एक शैवाचार्य में परंतु वे दिड़नाग के बौद्ध दर्शन में भी पारंगत थे। इसी प्रकार कोनी के पाषाण अभिलेख का प्रशस्तिकार शैव होते हुए उसने बौद्ध वाङ्मय का गहन अध्ययन किया था।[30]

इस प्रकार कलचुरियों के राज्य में बौद्ध धर्म भी अन्य धर्मों के साथ पुष्पित व पल्लवित हुआ। जिसके साक्ष्य हमें अभिलेखों, मूर्तियों, सिक्कों, ईंटें आदि पर अंकित विवरणों तथा चिन्हों से प्राप्त होती है। कलचुरिकालीन समाज वेदकालीन वर्ण व्यवस्था तथा ब्राह्मण धर्म पर आधारित होने पर भी अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु नहीं था। कतिपय उदाहरणों को छोड़ कर बौद्ध धर्म के प्रति कोई भी असहिष्णुता के भाव दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। यद्यपि कलचुरि नरेश कर्ण जहाँ मगध में मठों का विध्वंस कर रहा था परन्तु यह धार्मिक विद्वेष न होकर अतिक्रमण तथा भ्रष्टाचार के कारण भी हो सकता है क्योंकि दूसरी ओर अतिशदीपंकर का सम्मान भी कर रहा है तथा अपनी पुत्री यौवनश्री का विवाह बौद्ध अनुयायी शासक विग्रहपाल से कर रहा है। अतः सारांश रूप में कह सकते हैं कि कलचुरिकाल में बौद्ध धर्म अन्य धर्मों के साथ सह अस्तित्वपूर्ण ढंग से स्थापित था।

संदर्भ

1. चौबे, महेश चन्द्र, धर्म और दर्शन, कलचुरि राजवंश और उनका युग, सम्पादक, राजकुमार शर्मा एवं सुशील कुमार सुलेरे पृ० 274
2. मिराशी, वा० वि०, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इंडीकेरम, इन्सक्रिप्शन्स ऑफ दि कलचुरि-चेदि ऐरा, (आगे इस ग्रंथ के लिए सकेत 'क० इ० इ०' का प्रयोग किया गया है।) भाग 4, द्वितीय, अभिलेख सं० 52, पंक्ति 9, 10
3. श्रीवास्तव बृजभूषण, प्राचीन भारतीय प्रतिमा विज्ञान एवं मूर्ति कला, पृ० 184
4. चौबे, महेश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० 278
5. मिराशी, वा० वा०, अभिलेख सं० 67, श्लोक 01

6. चौबे, महेश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० 275
7. श्रीवास्तव बृजभूषण, पूर्वोक्त, पृ० 197
8. वही, 202
9. चौबे, महेश चन्द्र पूर्वोक्त, पृ० 275
10. मिराशी, वा० वि०, क० इ० इ० पूर्वोक्त अभिलेख सं० 74, श्लोक - 1
11. चौबे, महेश चन्द्र पूर्वोक्त, पृ० 275
12. श्रीवास्तव बृजभूषण, पृ० 199
13. वही, 209
14. वही, 213
15. वही,0 217, 218
16. मिराशी, वा० वि०, क० इ० इ० पूर्वोक्त, अभिलेख सं० 90, श्लोक - 37
17. चौबे, महेश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० सं० 275
18. मिराशी, वा० वि०, क० इ० इ० पूर्वोक्त अभिलेख सं० 84, श्लोक - 25
19. मिराशी, वा० वि०, क० इ० इ० पूर्वोक्त अभिलेख सं० 77, श्लोक - 28
20. चौबे, महेश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० 275
21. वही
22. एपिग्राफिका इण्डिका, खण्ड- 28, पृ० 74
23. चौबे महेश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० 275
24. मिराशी, वा० वि०, कलचुरि नरेश और उनका काल, पृ० 180-181
25. चौबे महेश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० 275
26. मिराशी, वा० वि०, कलचुरि नरेश और उनका काल, पृ० 181
27. मिराशी, वा० वि०, कलचुरि नरेश और उनका काल, पृ० 22
28. मिरशी, वा० वि०, क० इ० इ० पूर्वोक्त अभिलेख सं० 73, श्लोक - 01
29. चौबे, महेश चन्द्र, पूर्वोक्त 312
30. वही

50

जैन परम्परा में श्रमण-चिन्तनधारा का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

रत्ना सिंह

योग तथा साधना की चिन्तनधारा श्रमण-चिन्तनधारा से संबंधित थी, जिसका सर्वप्राचीन उदाहरण सिन्धु सभ्यता की योगी प्रतिमा एवं नग्न युवक की प्रतिमा से स्पष्ट है। वैदिक वाङ्मय में दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों की सूचना उपलब्ध है - प्रथम ऋग्वैदिक आर्यों की लौकिक चिन्तनधारा जो लौकेषणा, पुत्रैषणा, एवं वित्तैषणा से सन्तुष्ट बाह्य संत्तात्मक बहुदेववाद में विश्वास करती थी, तो दूसरी व्यक्तिपरक, एकान्तिक, आत्मनिष्ठ चिन्तनधारा, जो त्याग को, तप को, अकिचंनता को जीवन का परम उद्देश्य स्वीकार करती थी। इन दोनों चिन्तन धाराओं में क्रमशः भोग व योग, लौकिक व पारलौकिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक, कामना एवं साधना की परस्पर विरोधी भावनाएं विद्यमान थीं। वैदिक ऋषि संस्कृत ऋचाओं के रचयिता एवं संस्कृति के उन्नायक थे, किन्तु इस श्रमण चिन्तनधारा के रचयिता तथा उन्नायक कौन थे? यह वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट नहीं है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि - श्रमण परम्परा वैदिक परम्परा के प्रतिस्पर्धिनी रही है, इसलिए संभवतः उसके नियामक का स्पष्ट उल्लेख वैदिक वाङ्मय में नहीं है। जैन साहित्य में स्पष्ट रूप से ऋषभदेव को इस श्रमण-परम्परा का उन्नायक स्वीकार किया गया है और इनकी प्राचीनता ऋग्वैदिक काल तक स्वीकार की गई है।[1]

ऋग्वेद में श्रमण-परम्परा के कुछ लक्षण लंछित हैं,[2] जिनका प्रमुख प्रसंग निम्नवत है - **'कैश्यग्निं केशो............मानीसो अभिपश्श्थ'** अर्थात्

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करते हैं, केशी समस्त विश्व के तत्व का दर्शन करते हैं व केशी ही प्रकाशमान व ज्ञान-ज्योति कहलाते हैं। अतिन्द्रीया अर्थ के दृष्टा वातरशना (वातवेष्ठनग्नव) मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिशंगा (पीत, पिंगल) वर्ण दिखते हैं, जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण करते हैं, तो वे अपनी तप की महिमा से दैदिप्यमान होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर हम (केशी) मौन वृत्ति से अन्तत्रवत् वायुभाव को प्राप्त होते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर को पाते हो, हमारे सच्चे स्वरूप को नहीं। इन वातरशना मुनियों का विवरण तैत्तिरीय आरण्यक्[3] में भी उपलब्ध है। यहाँ उल्लेख है कि - प्रजापति के मांस से अरुण केतु एवं वातरशना के नख से वैखानस तथा बाल से बालखिल्यों की उत्पत्ति हुई। आगे दूसरे प्रपाठक में वर्णित है[4] **'वातरशना ह वात्रऋषयः श्रमणा उर्ध्वमंथिनो'** अर्थात् वातरशना ऋषि श्रमण व उर्ध्वमंथिन् थे। सायण ने उर्ध्वमंथिन की व्याख्या उर्ध्वरेखा से की है, जो एक प्रकार की योग साधना है।

गौतमबुद्ध ने भी अपने आचारशास्त्र का उल्लेख करते हुए श्रमण - परम्परा को निर्दिष्ट किया था।[5] इस श्रमण परम्परा के सन्दर्भ में उल्लेखनीय प्रमाण पौराणिक साहित्य प्रस्तुत करते हैं। परम्पराओं की उचित व्याख्या के सम्बन्ध में महाभारत में उल्लेख है कि - इतिहास व पुराणों के माध्यम से ही वेदों का उपबृहंण किया जाय, क्योंकि अधूरे ज्ञान वालों से वेद बहुत डरते हैं - कहीं अर्थ का अनर्थ न कर डालें। **'इतिहास पुराणभ्यां ....प्रतरिष्यति[6]'** वेदार्थ की इस पौराणिक पद्धति का अनुकरण किया जाय तो हमें स्पष्टतः पौराणिक परम्परा में नाभि के पुत्र ऋषभ का उल्लेख मिलेगा। विष्णुपुराण में वर्णित है कि - महाराज नाभि एवं उनकी महारानी मेरू देवी से ऋषभ उत्पन्न हुए। उन्होंने कठोर तपस्या द्वारा शरीर 'कृशकाय' कर लिया था। अपने मुख में कंकड रखकर वे नग्न 'वीर स्थान' में रत हुए। विष्णुपुराण संभवतः प्राचीनतम पुराणों में एक है, इसमें ऋषभ की नग्नता, मुख में कंकड़ धारणकर मौनव्रत एवं अन्त में नग्न 'वीर' स्थान स्पष्ट रूप से उन्हें जैन परम्परा से सम्बन्धित करता है।[7] भागवत पुराण का विवरण ऋग्वेद के 'केशी - सूक्त' के वातरशना

मुनियों के विवरण से साम्य रखता है। इसमें वर्णित है कि - मेरू देवी से वातरशना श्रमण-ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से (ऋषभ ने) अवतार ग्रहण किया। '**मेरू देव्या........द्वातरशनांना उर्ध्वमन्थिमां शुक्ल या तन्वावतार।**'

इस श्रमण-परम्परा के परिपालक देवता व देवाराध्य के संबंध में उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि - ऋषभदेव इस श्रमण परम्परा के उन्नायक थे। ऋग्वेद में - '**त्रिधा बद्धों वृषभों रोखीति महादेवी मर्त्यानाविवेश**' - त्रिधा संभवतः ज्ञान, दर्शन, एवं चरित्र त्रयी की ओर संकेत कराता है। इस प्रकार श्रमण परम्परा के देवता त्रिशिर्ष देव हैं, तो उनके शिष्य एवं उनपर आचरण करने वाले यति हैं। यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट है। कि - यदि व मुनि वैदिक परम्परा से किसी प्रकार श्री सम्बन्धित नहीं है। उनका वेद विरूद्ध आधार ही इन्द्र के कोप के कारण हुआ। जैसा कि - ताड्य ब्राह्मण के भास्यकार ने यतियों का उल्लेख किया है - '**वेद विरूद्ध..........प्रकारन्तेण वर्तमान**[8]' अर्थात वेद विरोधी कर्म विरोधी ज्यातिष्टोम आदि के करने वाले नहीं थे। इस प्रकार ये श्रमण परम्परा से पृथक थे।

भारतीय संस्कृति के प्रत्येक काल में यह वेद-विरोधी परम्परा विद्यमान रही, किन्तु इसका नाम पृथक रहा। अर्थवेद में मगध के व्रात्यों का उल्लेख है, जो वैदिक विधि से अनभिज्ञ थे। जैनधर्म के महाव्रत, अणुव्रत, गुणव्रत व व्रतों को ग्रहण करने वाले मुनि महाव्रती तथा श्रावक कहलाए। सम्भवतः इन्हीं श्रमणी - व्रतियों को अर्थववेद में व्रात्य कहा गया है। इस प्रकार वैदिक साहित्य के पूर्व से उत्तर वैदिक काल तक श्रमण-परम्परा की अक्षुण परम्परा किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। ऋषभदेव के अतिरिक्त सुमतिनमि व नेमिनाथस के यत्र-तत्र प्रांग ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध हैं।[9]

पौराणिक वंशावलियों में सुमतिनमि को जनक का पूर्वज स्वीकार किया गया है। वे अनासक्त वृत्ति व अहिंसात्मक आचार के उन्नायक थे। सुमतिनमि से भी अधिक शक्तिशाली व्यक्ति 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का है, इनका सम्बन्ध महाभारत युग से है। 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता महावीर से पूर्व की है क्योंकि पार्श्वनाथ का महापरिनिर्वाण महावीर से 250 वर्ष पूर्व

स्वीकार किया जाता है। महावीर स्वामी का परिनिर्वाण ई० पू० छठी शताब्दी स्वीकार किया जाए तो, पार्श्वनाथ को ई० पू० आठवीं शताब्दी में रख सकते हैं।[10]

अतः उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा संभवतः भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व प्रचलित थी, जिसे ब्राह्मण समन्यवादी प्रवृत्ति ने अपनी धार्मिक परम्परा में आत्मसात् करने का प्रयास किया। इस प्रयास का प्रथम चरण महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय 125-128) है। इसमें ऋषभ को एक ऋषि कहा गया है, जो आशा आदि विकारों एवं शरीर के स्थूल तत्त्वों को 'कृशकाय' करने का उपदेश देते थे। दूसरा चरण प्राचीन पुराणों का है, जिसमें उन्हें नाभिराज का पुत्र चक्रवर्ती भरत के पिता हिमालवर्ण के राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तीसरा चरण शिव महापुराण है, जिसमें ऋषभ को शिव के 28वें योगावतारों में से एक कहा गया है। अन्तिम चरण भागवत पुराण कहा है, जिसमें ऋषभ परम्परा स्वरूप वातरशना उर्ध्वमथिंन श्रमण-ऋषियों के धर्म उन्नायक के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

सन्दर्भ

1. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० 109-110
2. ऋग्वेद, 10/136
3. तैत्तिरीय आरण्यक, 1/23
4. वही, 2/7
5. मज्झिमनिकाय - अध्याय 40
6. महाभारत आदिपर्व, 1/127
7. *एम० एस० विल्सन, अनूदित विष्णुपुराण, पृ० 133*
8. ताड्य ब्राह्मण 1/27
9. सकंठा प्रासाद- बौद्ध एवं जैन धर्म दर्शन, पृ० 10
10. वही, पृ० 11

51

श्रमण धर्म दर्शन की अहिंसा का परवर्ती प्रभाव

एच० एन० सिंह, अरविन्द कुमार

श्रमण के लिए प्राकृत साहित्य में 'श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रमण शब्द का सामान्य अर्थ जैन सूत्रों में साधु अर्थ प्रयोग किया गया है। श्रमण शब्द के समान और रूप प्राप्त होते हैं। श्रमण शब्द 'श्रम' धातु से बनता है। श्रम का अर्थ होता है परिश्रम करना। तपस्या का दूसरा नाम परिश्रम भी है।[1] जो व्यक्ति अपने ही श्रम से उत्कर्ष की प्राप्ति करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। समन का अर्थ होता है समानता और शमन का अर्थ होता है शान्त करना अर्थात् जो भी प्राणियों को समान दृष्टि से देखते हैं और सभी विकारों को शान्त करता है वह श्रमण कहा जाता है। जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में श्रमण शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रोफेसर लासेन, प्रो० वेबर तथा प्रो० याकोबी आदि ने जैन और बौद्ध धर्मों को समान मानते हुए भी जैन धर्म को प्राचीन माना है।[2]

जैन आचार्य की मूलभित्ति अहिंसा है। मन से भी हिंसा का विचार करना जैन धर्म में निषिद्ध है।[3] जैन धर्म में अहिंसा की व्याख्या पंच महाव्रत और पंच अणुव्रत में कठोरतम रूप से की गई है।[4] परन्तु बौद्ध धर्म मध्यम वर्ग का निर्देश देता है जिसमें कठोर अहिंसा की व्याख्या नहीं की गई है। श्रमण धर्म में प्रचलित अहिंसा का परवर्ती प्रभाव भारत के विभिन्न धार्मिक चिन्तनों पर दिखाई देता है। मनु ने धर्म के दस लक्षणों का उल्लेख किया है –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचनिन्द्रिय निगहः।
धीविद्या सत्यम क्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[5]

धर्म की लक्षणों का प्रभाव अहिंसा के रूप में परवर्ती साहित्य और समाज पर जितना पड़ा वह अधिक ध्यातव्य है –

1. **महाभारत** – अहिंसा परमो धर्मः इति अर्थात् व्यास का कथन है कि सभी धर्मों में अहिंसा प्रथम धर्म है।[6]
2. **गीता** – श्रीमद् भागवत गीता के दैविय सम्पदा का वर्णन करते हुए भगवान कृष्ण अहिंसा के सम्बन्ध में कहा है कि –

   अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिर पैशुनम्।[7]
3. **अष्टांग योग** – योग दर्शन में जिन आठ अंगों का उल्लेख किया गया है उसमें अहिंसा का प्रथम स्थान उल्लिखित है –

   अहिंसा सत्यम अस्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहाः यमा इति।[8]
4. **मनु स्मृति** – मनुस्मृति में उल्लेख है कि स्वार्थ की सिद्धि के लिए निरपराध प्राणियों पर हिंसा नहीं करनी चाहिये –

   योऽहिं सकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
   स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते।।[9]
5. **पुराण** – व्यास ने अष्टादश पुराणों का सार तत्व प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि –

   अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।[10]
   परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।
6. **महात्मा गांधी** – जैन बौद्ध श्रमण परम्परा का अहिंसा तत्प प्रभाव आधुनिक भारत के स्वतंत्रता प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन अहिंसा को महात्मा गांधी ने चरितार्थ कर दिया कि –

   दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल।
   साबरमती के संत तुने कर दिया कमाल।।

यह भारत की अहिंसा प्रयोग की महानतम उपलब्धि थी आज सम्पूर्ण विश्व विनाशक, विध्वंसक, संहारक, अस्त्रों, शस्त्रों के निर्माण में लगा हुआ है और सम्पूर्ण मानवता भयभीत है कि कोई भी पागल परमाणुविक हथियारों में आग न लगा दे और मनुष्य जाति हमेशा के लिए समाप्त हो जाय। इसलिए आज के युग में अहिंसा सबसे अधिक अनिवार्य और अपरिहार्य मानव धर्म बन गया है।

सन्दर्भ

1. दश वैकालिक वृत्ति 1/3 श्राम्यन्ती श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः।
2. Sacred Books of East, Vol. XXII Introduction, pp. 18-19
3. आचारांग 1/1/6
4. आचारांग 2/3
5. मनुस्मृति 6/92
6. महाभारत 13/116/25
7. गीता 16/2
8. मा० पा० डेग्वेकर, धर्मो रक्षति रक्षितः पृ० 26
9. मनुस्मृति 5/45
10. डॉ० बलदेव उपाध्याय, पुराण विमर्श, पृ० 123

52
अहिंसा का सिद्धान्त और उसकी वर्तमान प्रासंगिकता

राजेश कुमार शर्मा

भारतीय संस्कृति के उदय और अस्तित्व के मूल में धर्म सदाशय रूप से निहित है। भारतीय संस्कृति में मानवीय आदर्शों का समावेश धर्म के सम्पर्क से ही हुआ। सर्वप्रथम 5वीं – 6ठी शताब्दी ई० पू० और तत्पश्चात् औपनिवेशिक काल में भारत का सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन अतीत की विभिषिकाओं से संत्रस्त होकर सुव्यवस्था की आकांक्षा में था जिसके द्वारा स्थायी शान्ति के माध्यम से राष्ट्रव्यापी आधार निर्मित हो सके। वस्तुतः यह भारत के बौद्धिक चिन्तन का काल था, जिनके मस्तिष्क में सृष्टि की अन्तिम सत्य क पहुंचने की उत्कृष्ट अभिलाषा थी। इस परिप्रेक्ष्य में भारत में समय समय पर बौद्धिक एवं वैचारिक संघर्षों के परिणामस्वरूप गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों का जन्म हुआ जिनके अक्षुण्ण ज्ञान रूपी निर्मल प्रकाश ने भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा को एक नवीन दिशा प्रदान की।

अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारत में अहिंसा को महत्व दिया जाता रहा है। यूं तो अहिंसा भारतीय संस्कृति का आधारभूत स्तम्भ है और भारतीय संस्कृति के मूल में जितने भी धर्म है उन सभी में किसी न किसी रूप में अहिंसा को प्रसय दिया गया है। लेकिन स्पष्ट रूप से पहली बार छठीं शताब्दी ई० पू० जैन धर्म के प्रतिपादक महावीर स्वामी ने अपने सिद्धान्तों के रूप में इसे स्वीकार किया। अहिंसा जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है जिसमें सभी प्रकार

के अहिंसा के पालन पर बल दिया गया है। जैन धर्म में अहिंसा के पालन के लिए निम्नलिखित आचारों का निर्देश दिया गया है[1] -

1. संयम से चलना ताकि मार्ग में कीट पतंगों के कुचलने से कोई हिंसा न हो।
2. संयम से बोलना ताकि कटु वचन से किसी को कोई कष्ट न पहुंचे।
3. संयम से भोजन ग्रहण करना जिससे किसी प्रकार की कीड़े मकोड़े की हत्या न हो सके।
4. किसी वस्तु को उठाने तथा रखने के समय विशेष सावधानी बरतना जिसेस किसी जीव की हत्या न हो सके।
5. मल मूत्र का त्याग ऐसे स्थान पर करना जहाँ किसी जीव की हिंसा होने की आशंका न रहे।

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ हिंसा या हत्या न करना है। हिंसा का अर्थ किसी भी जीव को स्वार्थ वश, क्रोध वश या दुःख देने की इच्छा से कष्ट पहुंचाना या मारना है। इस प्रकार हिंसा के मूल में स्वार्थ, क्रोध या विद्वेष की भावना है। अहिंसा के उपासक को इन सभी पर विजय पाते हुए प्राणीमात्र के प्रति अपने घोरतम शत्रु के प्रति भी अगाध प्रेम और मैत्री की भावना रखनी चाहिये। इसी को अहिंसा कहते हैं। सामान्य रूप से हिंसा को पाप समझा जाता है किन्तु गांधी जी जीवन निर्वाह के लिए की जाने वाली हिंसा को पाप नहीं मानते हैं। स्पष्ट है कि जैन ने अहिंसा और सदाचार का प्रचार किया और संयमित जीवन व्यतीत करने का संदेश दिया। जैन धर्म का स्यादवाद् का सिद्धान्त विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायों के बीच भेदभाव मिटाकर समन्यवादी दृष्टिकोण अपनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है।[2] ऐसा करके उसने समन्वय एवं सहिष्णुता के भारतीय दृष्टिकोण को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है।

कालान्तर में अहिंसा के इस सिद्धान्त को विश्वव्यापी बनाने का श्रेय महात्मा गांधी को जाता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा के साथ-साथ सत्याग्रह के सिद्धान्तों को अपनाकर 1920 से 1947 तक भारत के स्वतंत्रता आंदोलन का

नेतृत्व किया। गांधीजी के दार्शनिक सिद्धान्त सभी धर्मों में समान रूप से पाये जाते हैं और उनमें सत्य और अहिंसा को विशेष महत्व प्राप्त है।

गांधी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का सिद्धान्त

अहिंसा गांधीवादी दर्शन का मूल आधार है। यद्यपि महात्मा गांधी ने अहिंसा के मौलिक सिद्धान्त को प्रतिपादित नहीं किया लेकिन इसे एक सक्रिय जीवन पद्धति के रूप में स्वयं के जीवन के रूप में उतारा। अपने जीवन के प्रयोगों के साथ साथ गांधी जी ने अहिंसा के सामाजिक पक्ष को भी व्यवहारिक रूप दिया।

महात्मा गांधी की दृष्टि में अहिंसा के दो पक्ष हैं - सकारात्मक और नकारात्मक।[3] किसी प्राणी को काम, क्रोध तथा विद्वेष के अधीन होकर हिंसा न पहुंचाना इसका नकारात्मक रूप है, इससे अहिंसा के पूरे स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसका यथार्थ रूप तो इसके सकारात्मक रूप से पता चलता है। भाव पक्ष वाली अहिंसा को सार्वभौम प्रेम और करुणा की भावना कहा जाता है। स्वयं महात्मा गांधी के शब्दों में –'यदि कायरता और हिंसा में से किसी एक को चुनना हो तो मैं हिंसा को ही पसन्द करुंगा। दूसरों को न मारकर स्वयं ही मरने का जो धीरता पूर्ण साहस है मैं उसी की साधना करता हूँ। लेकिन जिसमें ऐसा साहस नहीं है वह भी भागते हुए लज्जाजनक मृत्यु का वरण न करें - मैं तो कहूंगा, बल्कि वह तो मरने के साथ मारने की भी कोशिश करें क्योंकि जो इस तरह भागता है वह अपने मन पर अन्याय करता है। वह इसलिए भागता है कि मारते मारते उसमें मरने का साहस नहीं है। एक समूची जाति के निस्तेज होने की अपेक्षा मैं हिंसा को हजार बार अच्छा समझूंगा। भारत स्वयं ही अपने अपमान का पंगु साक्षी बनकर बैठा रहे इसके बदले अपने हाथों में हथियार उठा लेने को तैयार हो तो इसे मैं बहुत अधिक पसन्द करूंगा।[4]'

बेशक बाद में गांधी ने इतना और जोड़ दिया - 'मैं जानता हूँ कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसा कई गुनी अच्छी है। मैं जानता हूँ कि मैं आग से खेल रहा हूँ फिर भी मैंने यह खतरा लिया - अहिंसा मेरे विश्वास और नीति की पहली और आखिरी शर्त है - यह भी जानता हूँ कि दण्ड की अपेक्षा क्षमा अधिक

शक्तिशाली है। क्षमा सैनिक की शोभा है – लेकिन क्षमा तभी सार्थक है जब शक्ति होते हुए भी दण्ड नहीं दिया जाता। जो कमजोर है, उसकी क्षमा बेमानी है। मैं भारत को कमजोर नहीं मानता। तीस करोड़ भारतीय एक लाख अंग्रेजों के डर से हिम्मत नहीं हारेंगे। इसके अलावा वास्तविक शक्ति शरीर बल में नहीं होती, होती है अदम्य मन में। अन्याय के प्रति भले आदमी की तरह आत्मसमर्पण का नाम अहिंसा नहीं है। अत्याचारी की प्रबल इच्छा के विरूद्ध अहिंसा केवल आत्मिक शक्ति से टिकती है। इसी तरह केवल एक मनुष्य के लिए भी समूचे साम्राज्य का विरोध करना और उसको गिराना संभव हो सकता है।'

लेकिन किस कीमत पर? अपनी यंत्रणा की। यंत्रणा की शाश्वत रीति है – 'वहीं मनुष्य जाति का चिन्ह है। वह आत्मा का आवश्यक गुण है। मृत्यु से ही जीवन का जन्म होता है। बीज जब तक नष्ट नहीं होता, वृक्ष नहीं बन पाता है। जो यंत्रणा की आग से होकर नहीं गुजरता वह बढ़ेगा कैसे? इस नियती से किसी को छुटकारा नहीं है। दूसरों को पीड़ा न देकर अपनी ही पीड़ा को पवित्र करने की चेष्टा में प्रगति सार्थक होती है। वह व्यक्तिगत पीड़ा जितनी पवित्र होगी, प्रगति उतनी ही महान होगी। अहिंसा ही विवेक की वह पीड़ा है। आत्मत्याग और यंत्रणा की उस पुरानी नीति को ही भारत के सामने प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी मैंने ली है। चरम हिंसा के बीच भी जिन ऋषियों ने अहिंसा नीति का अविष्कार किया, वे प्रतिभा में न्यूटन से बहुत बड़े थे, योद्धा के रूप में भी वे वेलिंगटन से और अधिक बड़े थे। उन्होंने हथियारों को पहचाना था, इसलिए उनकी निस्सारता भी जान ली थी। फिर भी अहिंसा का अस्त्र सबके लिए हैं, केवल ऋषियों के लिए नहीं। हम मनुष्य हैं इसी से वह रीति हमारी है, जैसे हिंसा की रीति पशु स्वभाव वालों की है। महिमामय मनुष्य के लिए आत्मिक शक्ति जैसी उच्चतर रीति ही तो चाहिये। इसलिए मैं भी चाहता हूँ कि भारत उस रीति के व्यवहार में मतवाला हो उठे, उसकी शक्ति जाने। भारत की एक आत्मा है और इसलिए उसका विनाश संभव नहीं है – उस आत्मा में सारे संसार की समस्त जड़ शक्ति के विरोध करने की क्षमता है।'

वह आगे कहते हैं – 'भारत यदि हिंसा में ही विश्वास करे तो मैं यहाँ न रहना चाहूंगा – तब वह किसी गर्व की भावना से मुझे उदीप्त न कर सकेगा।

देशप्रेम को मैं अपने धर्म के अन्तर्गत मानता हूँ। मां की गोद के बच्चे की तरह मैंने उसे जकड़ रखा है, क्योंकि जिसकी मुझे जरूरत है आत्मा का वही पुष्टिकर खाद वह मुझे दे रहा है। जिस दिन मैं वह खाद न पाऊँगा, अनाथ हो जाऊँगा। तब मैं निर्जन हिमालय में चला जाउंगा। अपनी रक्त रंजित आत्मा की रक्षा के लिए।[5]'

महात्मा गांधी इतिहास के आधार पर अहिंसा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। गांधी जी की अहिंसा की दो बड़ी विशिष्टताएं हैं[6] -

1. गांधीजी से पहले अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी जीव का प्राण न लेना तथा इसे खान पान के विषय तक सीमित रखना था। गांधीजी ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि यह खाद्याखाद्य के विषय से परे है। मांसाहारी अहिंसक हो सकता है, फलाहारी या अन्नाहारी घोर हिंसा करते देखे जाते हैं। एक व्यापारी झूठ बोलता है, ग्राहकों को ठगता है, कम तौलता है किन्तु यह व्यापारी चींटी को आटा डालता है। फिर भी यह व्यापारी उस मांसाहारी व्यापारी की अपेक्षा अधिक हिंसक है, जो मांसाहार करते हुए भी ईमानदार है और किसी को धोखा नहीं देता। इस प्रकार गांधीजी ने जीव हिंसा की विवेचना करते हुए अहिंसा की परम्परागत परिभाषा और सीमा में नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन और विस्तार किया।
2. महात्मा गांधी ने अहिंसा को व्यक्तिगत और कौटुम्बिक क्षेत्र की संकीर्ण परिधि से निकालकर इसे सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी हर प्रकार के अन्यायों का प्रतिकार करने का शस्त्र बनाया। अहिंसा के विषय में महात्मा गांधी की यह सबसे बड़ी मौलिक देन थी। भारत की स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा के सफल प्रयोग से उन्होंने अपने उपरोक्त दावों को सत्यसिद्ध किया। उन्होंने अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध अहिंसा का प्रयोग सत्याग्रह के रूप में भी किया।

संक्षेप में गांधीजी का अहिंसा से यह अभिप्राय था - सृष्टि पर सब प्राणियों को मन, वाणी और कर्म से किसी प्रकार की कोई हानी न पहुंचाई

जाय।[7] गांधीजी की दृष्टि में अहिंसा का यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य चुपचाप बुराई को सहन करता रहे। बल्कि अहिंसा का यह अर्थ है कि बुराई करने वाले व्यक्ति से प्रेम न किया जाय और उसका कोई साथ न दिया जाय चाहे वह उससे अप्रसन्न होता हो या उसको चोट पहुंचती हो। इस तरह से यदि पुत्र लज्जा का जीवन बिताता हो तो मुझे उसका समर्थन जारी नहीं रखना चाहिये और न ही उसकी कोई सहायता करनी चाहिये। लेकिन यदि वह पश्चाताप करता है तो मेरा कर्तव्य उससे प्रेम करना हो जाता है परन्तु मुझे उसे अच्छा बनाने के लिए शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिये।[8] महात्मा गांधी के अनुसार सत्य और अहिंसा दोनों एक दूसरे से इस तरह सम्बन्धित है जैसे एक सिक्के के दो पहलू। इतना होते हुए भी अहिंसा एक साधन है और सत्य एक लक्ष्य। यदि हम साधनों की परवाह करते हैं तो हम शीघ्र या देरी से अपने उद्देश्य तक पहुंच जायेंगे। जब हम इस बात को ग्रहण कर लेंगे तो अन्तिम विजय निश्चित है। चाहे हमें कितनी भी कठिनाईयों का सामना करना पड़े, चाहे हमें कितनी बार भी पराजय का मुंह देखना पड़े परन्तु हमें सत्य की खोज नहीं छोड़नी चाहिये जो कि स्वयं परमात्मा है।[9]

महात्मा गांधी का मानना है कि सत्य और अहिंसा इस देश में इतनी ही पुरानी है जितनी की पहाड़ियों। मैंने केवल उनके प्रयोग इतने व्यापक रूप से किये हैं जितना कि मैं कर सकता था। ऐसा करने में मेरे से कई बार गलतियां हुई हैं और उनसे मैंने काफी कुछ सीखा है। इस तरह से जीवन और उसकी समस्याएं सत्य और अहिंसा में प्रयोग बन गये हैं।[10] महात्मा गांधी की दृष्टि में सच्चा लोकतंत्र या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्य या हिंसात्मक तरीके से नहीं आ सकता है। इसका कारण यह है कि जो स्वराज्य हिंसात्मक ढंग से आता है, उसमें विरोधी विचारधारा तथा दलों का सफाया कर दिया जाता है। उसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं रहती है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता तो केवल पूर्ण अहिंसात्मक राज्य में ही रह सकती है। लार्ड लोथियन को प्रेषित एक पत्र में गांधीजी ने लिखा कि वैद्यानिक या जनतांत्रिक सरकार तब तक दूर का स्वप्न है जब तक अहिंसा केवल एक व्यवहारिक नीति की तरह नहीं बल्कि एक अटल सिद्धान्त की तरह, एक जीवित शक्ति की तरह मान ली जाती है।[11]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि अहिंसा का सिद्धान्त जो भारतीय संस्कृति का मूलाधार है उसे आधुनिक युग में वैश्विक धरातल पर स्थापित करने का श्रेय महात्मा गांधी को जाता है। गांधीजी ने अहिंसा के सिद्धान्त के माध्यम से विश्व को मानववाद का संदेश दिया। उनके द्वारा प्रतिपादित साध्य और साधनों की पवित्रता के सिद्धान्त का महत्व आज भी बरकरार है। इससे वर्तमान अनैतिक राजनीति को नियंत्रित किया जा सकता है और परमाणु विनाशकारी शस्त्रों के ढेर पर खड़े संत्रस्त विश्व के दूषित वातावरण को शुद्ध किया जा सकता है। भारत और विश्व के सामने वर्तमान चुनौतियों के सन्दर्भ में गांधी के विचारों का नवीन अर्थ एवं उनके नवीन सन्दर्भों में उपयोगिता उभरकर सामने आती है। यही गांधी चिन्तन का रहस्य भी है। नैतिक पतन, अनास्था, असंतुलन, संकीर्णता और वैमन्सय के इस वातावरण में महात्मा गांधी के विचारों की प्रासंगिकता और अधिक है। यदि आज भी हम उनके द्वारा बताए गये सिद्धान्तों का पालन करें तो आपसी भेदभव और कलह बहुत सीमा तक दूर हो जाएगा और सम्पूर्ण विश्व में शान्ति, बन्धुत्व, प्रेम और सहिष्णुता का साम्राज्य स्थापित होगा।

संदर्भ

1. के० सी० श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ० 842
2. ए० एल० बाशम, ए वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृ० 256
3. डॉ० ऋषिकेश सिंह, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, पृ० 522
4. रोमां रोलॉ, महात्मा गांधी की जीवनी से अनुवादक पी० सी० ओझा, पृ० 26
5. रोमां रोलॉ, ला-इण्डे (फ्रेन्च डायरी), अनुवादक-लोकभारती प्रकाशन, द्वारा प्रकाशित
6. डॉ० ऋषिकेश सिंह, प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक, पृ० 523
7. महात्मा गांधी, यंग इण्डिया, वाल्यूम दो, पृ० 970
8. महात्मा गांधी, यंग इण्डिया, 25-08-1920, पृ० 02
9. फ्राम यर्वदा मंदिर बाई एम० के० गांधी, नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद, द्वितीय संस्करण 1935, पृ० 13
10. महात्मा गांधी, हरिजन 28-03-1936, पृ० 49
11. महात्मा गांधी, हरिजन 11-02-1939, पृ० 08

53
अशोक के अभिलेखों की भाषा पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

सरिता कुमारी

महात्मा बुद्ध ने धर्म प्रचार की नई शैली को जन्म दिया, उपदेश तथा प्रश्न उत्तर द्वारा जन साधारण के मन-मस्तिष्क को प्रभावित करने के साथ-साथ धर्म प्रचार के नये आयाम बनाये। इसके पूर्व धर्म प्रचार शैली, पारस्परिक वाद-विवाद द्वारा विरोधी को परास्त कर देना मात्र था।

बौद्ध धर्म ने भारतीय साहित्य को नया जीवन प्रदान किया। अपनी साहित्यिक उपलब्धियों द्वारा इस धर्म ने विद्या तथा ज्ञान का प्रसार सामान्य जनमानस में किया। पालि भाषा में त्रिपिटक ग्रन्थों की रचना करके बौद्ध साहित्यकारों ने भारतीय साहित्य को धनी बना दिया। बौद्ध साहित्य की जातक कथायें विश्व भर में प्रचलित हैं। उस समय की प्रचलित जन भाषा, जिसमें समय-समय पर अनेक बौद्ध धर्म ग्रन्थों की रचनाएं विशेषकर पालि में की गयी हैं, जिसने भारतीय संस्कृति को एक विशाल साहित्य प्रदान किया।

अशोक को अपने पिता से एक विशाल साम्राज्य मिला था। राजगद्दी पर बैठने के बाद उनसे आरम्भ में करीब 10 साल शासन को व्यवस्थित करने में गुजारे। 261 ई० पू० में कलिंग विजय के उपरान्त उसने धर्म विजय का मार्ग अपनाया। उस समय से अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। बौद्ध धर्म को राजाश्रय प्रदान किया। देश-विदेश में बौद्ध धर्म का तेजी से प्रसार होने लगा। अशोक ने पाटलि-पुत्र में बौद्धों का एक महासम्मेलन आयोजित किया। अशोक के बारे में ठोस जानकारी हमें अशोक के अपने अभिलेखों से मिलती

है। अशोक ने ये लेख शासन व्यवस्था एवं धार्मिक व्यवस्था की जानकारी देने के लिए पूरे साम्राज्य में खुदवाया। अशोक के लेख सीधे-सादे हैं। उसके केवल दो लेखों में उसका नाम अशोक मिलता है। इसके अधिकांश लेखों में उसके लिये 'देवानप्रियम् प्रियदशिनो राजा' का ही प्रयोग हुआ है। अशोक का पूरा नाम सम्भवत: अशोकवर्द्धन था। राज्याभिषेक के 12 वर्षों बाद उसने लेख खुदवाने का कार्य प्रारम्भ किया। सबसे पहले उसने शिला लेख खुदवाये और बाद में स्तम्भ लेख। ये सारे लेख करीब 25 वर्ष के अरसे में खोदे गये। अशोक के अभिलेख मुख्यत: दो प्रकार के हैं - लघु शिला लेख और चतुदर्श शिलालेख। ब्रह्मगिरी, सिद्धापुर, जटिंग रामेश्वर, रूपनाथ, सहसाराम आदि स्थानों के लेख और बैराट से भी लघु शिलालेख मिला है। धौली, जौगढ़, भलि के लेख के ऊपर चट्टान को काटकर एक हाथी की आकृति तैयार की गयी है और इसी पर चतुर्दश शिलालेख खुदे हैं। गिरनार, कलसी, मानसेहरा, शहबाजगढ़ी, ऐर्रागुड्डी में भी चतुर्दश शिलालेख मिले हैं। कलसी की चट्टान पर भी हाथी की आकृति है और उसके पैरों के बीच में ब्राह्मी लिपि में 'गज तमे' शब्द खुदा है। बराबर पहाड़ी पर चार कृत्रिम गुफायें हैं। तीन पर अशोक के लघु शिलालेख हैं।

अशोक ने कई स्तम्भ खड़े करके उन पर लेख खुदवाया है। ये स्तम्भ लेख एक ही शिलाखण्ड के हैं और इन पर बढ़िया पालिश की गयी है, ये चुनार के बलुआ पत्थर से बने हैं। कुछ 16-17 मीटर लम्बे, भार करीब 50 टन है।

दिल्ली टोपरा स्तम्भ, दिल्ली मेरठ स्तम्भ, लुम्बिनी स्तम्भ लेख में अशोक के लेख हैं। निगाली सागर (नेपाल), चम्पारण में तीन, लौरिया अरराज, लौरिया नन्दनगढ़ और रामपुरवा स्तम्भ लेख है। सांची, सारनाथ में भी अशोक स्तम्भ खड़े किये गये हैं। कुछ ऐसे स्तम्भ भी हैं, जिन पर लेख नहीं है। भुवनेश्वर के भाष्करेश्वर मन्दिर में खण्डित अशोक स्तम्भ की शिवलिंग के रूप में पूजा होती है। पूरे देश में अशोक के अभिलेख मिले हैं परन्तु पाटलिपुत्र से एक भी शिलालेख नहीं मिला है।

अशोक के लेखों की भाषा प्राकृत है और लिपि ब्राह्मी। यह वही भाषा है, जिसमें महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश दिये हैं। खरोष्ठि भाषा में लिखे गये

लेख भी प्राकृत भाषा में ही है। आम जनता की भाषा साहित्य एवं शासन की भाषा के कुछ अवश्य ही भिन्न रही होंगी। व्याकरण के नियमों में कसकर बांध दी गयी संस्कृत भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही होगी। इसलिए गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश जनता की भाषा में दिये और उसका संकलन भी (बुद्ध के वचनों का संकलन) प्राकृत (पालि) में हुआ। अशोक के लेखों की प्राकृत, कुछ विकसित भाषा है। अशोक के लेख की भाषा आम जनता की भाषा के निकट रही होगी।

अशोक ने अपने लेखों की लिपि को धम्मलिपि नाम दिया है, जिसे आज ब्राह्मी लिपि के नाम से जानते हैं। अशोक ने 14वें शिलालेख में स्पष्ट किया है कि 'इन लेखों में जो कुछ अपूर्ण लिखा गया, उसका कारण देय, भेद, वेष-भाव या लिखने वाले का अपराध समझना चाहिये।' अशोक के लेख बड़ी सावधानी से खोले गये हैं। शिलालेख की अपेक्षा स्तम्भ लेख अधिक सुन्दर हैं। देवनागरी लिपि की तरह इन अक्षरों के सिरों पर आड़ी लकीरे नहीं हैं।

मौर्य काल में आर्य वाणी देश की सामान्य वाणी थी। स्थान-स्थान की बोलियों में कुछ विभिन्नताएं अवश्य हैं। यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि बुद्ध के समय तक प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (ऋग्वेद) मिलती है। बोलचाल की आर्य भाषा में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे और इनमें तीन विशिष्ट बोलियां विकसित हो चुकी थीं। उत्तरी अथवा पश्चिमी, उत्तरी, मध्यदेशीय, पूर्वी। अशोक के अभिलेख तीन विभिन्न स्थानीय बोलियों में हैं। इन्हें भारत का भाषा विषयक प्रथम सर्वेक्षण कहा जाता है। अशोक के लेखों में हमें तीन प्राकृतों के दर्शन होते हैं। उत्तरी, पश्चिमी, प्राकृत अथवा पश्चिमी आर्येत्तर भाषा। मान सेहरा, शहबाजगढ़ी, के लेख इसी में लिखे गये। पूर्वी-प्राकृत का एक रूप पूर्वी है, जो अशोक के पूर्वी अभिलेखों में और अन्यत्र भी मिलता है। ऐसा सम्भव है कि यही पूर्वी प्राकृत पाटलिपुत्र में अशोक के राज दरबार की भाषा थी। अशोक के आदेश सम्भवतः पहले इसी प्राकृत में पाटलिपुत्र में लिखे गये। फिर अन्य प्रान्तों में प्रमुख स्थानों पर पत्थर पर खुदवाकर इनका प्रचार करने के लिए भेजे गये। जब इन स्थानों की बोली राजभाषा से इतनी भिन्न होती थी कि आसानी से समझ में न आ सके। (शहबाजगढ़ी, मानसेहरा,

गिरनार) तो इन आदेशों को वहाँ की बोली में रूपान्तरित कर दिया जाता था। परन्तु यह रूपान्तर बहुत सावधानी से नहीं हुआ है। जहाँ पर दरबारी भाषा या राजभाषा में अन्तर नहीं है, वहाँ पूर्वी में लेख लिखे गये। जैसे-कलसी, प्रयाग, सारनाथ, लौरिया, रूमिनदेयी, बराबर पहाड़ी इत्यादि।

भगवान बुद्ध जो अपने को कौशल खत्तिय कहते थे, उनकी भी भाषा पूर्वी थी। कोशल, काशी की मगध की भाषा भी यही पूर्वी थी। अशोक, चन्द्रगुप्त की भाषा भी पूर्वी ही थी। सिल्वा लेबी ने सिद्ध किया है कि प्राचीनतम् बौद्ध आगमों की रचना पूर्वी प्राकृत में हुयी थी, न कि पूर्वी पालि में। अशोक जब बौद्ध ग्रन्थों को उद्धृत करता है, तो वह उसी पूर्वी प्राकृत के संस्करण के उदाहरण देता है, न कि पालि संस्करण के। अशोक के समय में तीसरी प्राकृत दक्षिण पश्चिम की है, जो गिरनार में मिली है। मौर्य काल में आर्य भूमि के बोलचाल की भाषाओं की मोटे तौर पर ऐसी ही स्थिति थी। अशोक के पूर्व ही प्राकृत को बौद्ध आगमों में इसके रूपान्तरण से साहित्यिक रूप मिल चुका था। अतः अशोक ने अपने अभिलेखों में उसी का प्रयोग किया। छठी शताब्दी ईसा पूर्व जब बुद्ध ने पूर्वी प्राकृत में अपने उपदेश दिये। तबसे यह धार्मिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गयी। यद्यपि यह प्राचीन भाषा का ही एक विकसित रूप थी। मौर्यो के काल में बौद्ध व जैन धर्म, दोनों धर्म व दरबार अथवा साम्राज्य की सरकारी भाषा के रूप में इसकी प्रधानता हो गयी। परन्तु मौर्य समाज के पतन के साथ-साथ इसकी प्रधानता का अन्त हो गया।

बुद्ध ने यह कहकर कि सभी जातियां अपनी-अपनी भाषाओं में मेरे उपदेश को धारण करें, विश्व की सभी भाषाओं को प्रतिष्ठा प्रदान की। उनकी यह घोषणा भाषाओं के लिए महान अधिकार पात्र हैं। किसी भी भाषा का विकास उसकी रचनाओं को लिपिबद्ध होने के बाद ही होता है। जो बौद्ध ग्रन्थ आरम्भिक काल में कोशल व मगध में रचे गये थे, उसकी भाषा प्राकृत थी। यह अशोक के आदेश लेखों तक ही सीमित है।

सन्दर्भ

1. भारतीय लिपियों की कहानी, गुणाकर मूले, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

2. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, गोविन्द चन्द पाण्डेय, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
3. नन्दमौर्य युगीन भारत, ए० एन० नीलकण्ठ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
4. प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक इतिहास। सत्यकेतु विद्यालंकार श्री सरस्वती सदन, मंसूरी।
5. प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन, डॉ० ईश्वरी प्रसाद, शैलेन्द्र शर्मा, मीनू पब्लिकेशन, इलाहाबाद।
6. आर्य मंजूश्री मूल कल्प, राहुल सांस्कृत्यायन, जायसवाल की एन एंपीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 1934, बौद्धायन धर्म सूत्र।
7. इण्डियन पेलियोग्राफी, ब्यूलर, अशोक इंस्क्रिपशन्स, आई० आई० सी० आई० आई०।

54

जैन धर्म में अहिंसा सिद्धान्त एवं उसकी प्रासंगिकता

ममता पाण्डेय

जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का अप्रतिम योगदान जैनधर्म के विकास में विश्वप्रसिद्ध है महावीर के पूर्ववर्ती जैन तीर्थंकरों के मूल तत्वों का ज्ञान तत्वार्थसूत्र की सिद्धिसेन की टीका से होती है महावीर ने अपने संशोधित, परिवर्तित एवं परिवर्द्धित धर्म में ऋषभनाथ की सर्वस्व त्याग रूप अकिंचन, मुनोवृत्ति, नीरीहिता, नेमिनाथ की अहिंसा तथा पार्श्वनाथ के चातुर्याम को स्वीकार करते हुए अपने ब्रह्मचर्य तत्व को जोड़कर जैनधर्म का महत्वपूर्ण विकास किया जैन धर्म एक ओर अतिव्यापक तथा दूसरी ओर गाम्भीरता से युक्त है इस दर्शन में जहाँ एक व्यक्ति की उन्नति की ओर ध्यान दिया गया है वहीं पर दूसरी ओर समष्टि के कल्याण की कामना भी की गयी है जैन ईश्वर को नहीं मानते। वे तीर्थंकरों अर्थात् जैनमत के प्रवर्तकों की ही उपासना करते हैं।

जैन दार्शनिक दृष्टि से वस्तुवादी तथा बहुसत्तावादी हैं इसके अनुसार जितने द्रव्यों को हम देखते हैं वे सभी सत्य हैं। संसार में दो तरह के द्रव्य हैं जीव और अजीव। प्रत्येक सजीव द्रव्य में, चाहे उसका शरीर किसी भी श्रेणी में क्यों न हो जीव अवश्य रहता है इसलिए जैन अहिंसा सिद्धान्त को अधिक महत्व देते हैं जैन धर्म में अहिंसा का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक बताया गया है जैन धर्म का अहिंसा सिद्धान्त नवीन सिद्धान्त नहीं है परन्तु इस मार्ग में वैदिक धर्म की अपेक्षा अहिंसा पर अधिक बल दिया गया है महावीर स्वामी का सिद्धान्त

किसी जीव को कष्ट न देना रहा है। जैन धर्म के इस अहिंसा के सिद्धान्त का प्रचार हुआ। कालान्तर में वैदिक कर्मकाण्डों और यज्ञों में बलि देना समाप्त कर दिया गया। वैदिक धर्म में अहिंसा पर अधिक जोर दिया गया आधुनिक युग में कोई वैदिक धर्म का उपासक किसी जैनी से कम अहिंसा प्रेमी नहीं था इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि अहिंसा के क्षेत्र में कुछ सीखा ही है। अहिंसा का प्रसार जितना जैन धर्म के कारण हुआ, उतना किसी अन्य धर्म के कारण नहीं हुआ। जैन धर्म एवं दर्शन में परिलक्षित सामायिक (समता) भाव का जैन अहिंसा का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा जैन मुनियों एवं यतियों के लिए अहिंसा के कठोर परिपालन का विधान किया गया है जैन आचार में इस विषय पर विशेष बल दिया गया है कि किसी भी जीव को चाहे वह कीट पतंग ही क्यों न हो मनसा, वाचा, कर्मणा से किसी को कष्ट नहीं देना चाहिये इसके परिपालन के लिए जैन यति आचार के कुछ उपनियम समीति बनाई गयी।

ईर्या समिति विशेष रूप से यतियों के आवागमन के निर्देश के निमित्त बनायी गयी है। यतियों का निर्देश है कि मार्ग में आते जाते, जाने-अनजाने जीव हिंसा की सम्भावना है अतः मुनियों को चाहिये कि वे सामान्यतः दिन में ही आवागमन को प्राथमिकता दें तथा उसी पथ का अनुगमन करें जो जीव-जन्तु विहीन हो। सम्भव हो तो चलते समय मयूर पंख से पथ-प्रक्षालन करते हुए चले। भाषा समिति का विशेष सम्बन्ध मुनियों के सम्भाषण को हिंसा रहित बनाना है। विधान है कि मुनि को मृदु वचन बोलना चाहिये। परुष वचन का निषेध करना चाहिये निन्दा, मृषावाद, प्रलाप रंजन नहीं करना चाहिये। सम्भाषण में आत्मप्रशंसा, नारी विषयक प्रसंग, राजा विषयक प्रसंग, चोर विषयक प्रसंग एवं भोजन सम्बन्धी प्रसंग नहीं लाना चाहिये एषणा समिति का सम्बन्ध मुनि भोजन विधान से है। मुनि को भिक्षा या भोजन में जो कुछ मिल जाए उसी से सन्तोष करना चाहिये और अधिक की कामना नहीं करना चाहिये साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि भोजन में जीव हिंसा या किसी अन्य प्राणी के प्रति हिंसा तो नहीं हो रही है। आदान-निक्षेपण समिति के अन्तर्गत उसके दैनिक व्यवहार में लायी जाने वाली वस्तुओं के प्रयोग का विधान है। उदाहरणस्वरूप उसके जलपात्र या भिक्षापात्र को इस प्रकार रखना चाहिये कि

उनसे किसी प्रकार की जीव हिंसा न हो सके। उत्सर्ग समिति में मुनि के शौचादि दैनिक कर्मों का निर्देश है। विधान है कि मुनि मल-मूत्र त्याग आदि में भी इस बात का ध्यान रखे कि किसी प्रकार की जीव-हिंसा न हो जाए या किसी कीट पतंग के हिंसा की सम्भावना न हो। अतः जैन धर्म व दर्शन के सभी कृत्य सूक्ष्म या स्थूल आन्तरिक या बाह्य अहिंसा को केन्द्र मानकर व्यवस्थित किये गये। अहिंसक आचार विचार आध्यात्मिक प्रगति एवं अन्ततः मोक्ष के साधन माने गये हैं विश्व के सभी धर्म व दर्शनों में अहिंसा को श्रेष्ठ आचार के रूप में स्वीकार किया गया। भारत में सभी धार्मिक व दार्शनिक पक्ष इसकी संपुष्टि करते हैं। कर्म बन्ध के परिहारार्थ संवर एवं संग्रहित कषायों को जीव से पृथक करने के लिए निर्जरा आदि में अहिंसा ही आचार का प्राण है। वनस्पति सदृश तत्वों की एकेन्द्रिय मान्यता जैन-अहिंसा की परिधि में लता-पुष्प से लेकर मानव देव तक आ जाते हैं। यही नही वरन् उसके वस्तुवादी विश्लेषण में अणु-परमाणु भी जीवयुक्त हैं। अतः मुंह ढककर सांस लेना, पानी छानकर पीना, धरती साफ करते हुए गमन करना जीव हिंसा के भय से दातुन न करना आदि कुछ अहिंसक आधार हैं जो हास्यपद से प्रतीक होते हैं।

जैन धर्म की अवधारणा है कि मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों से अहिंसा व्रत का पालन होना चाहिये, जैन अहिंसा व्रत का पालन होना चाहिये। जैन अहिंसा व्रत का पालन छोटे-छोटे कार्यों में भी करते हैं यहाँ तक कि वे जीव की हिंसा नहीं करना ही पर्याप्त नहीं बल्कि हिंसा के सम्बन्ध में सोचना, बोलना या दूसरों को हिंसा करने की अनुमति या प्रोत्साहन देना भी उनके लिए अधर्म है जब तक मन वचन तथा कर्म से अहिंसा व्रत का पालन न किया जाए तब तक अहिंसा पूर्ण नहीं मानी जाती।

भारतीय संस्कृति में अगर हम इस ओर ध्यान दें तो हमें पूर्ण रूप से निराशा ही हाथ लगेगी आज समाज में चारों तरफ हिंसा हो रही है आतंकवाद का कहर व्याप्त है। कहीं आतंकवाद तो कहीं मजहब के नाम पर खून की होलियां खेली जा रही हैं। वहीं जैन धर्म में कहा गया है कि दिन में ही आवागमन को प्राथमिकता दे उस पथ का अनुगमन करे जो जीव जन्तुओं से विहिन हो जिसमें जीव, हिंसा ना हो और आज के परिवेश में लोग अपने स्वार्थ

के लिए लोगों की बलि चढ़ाने में नहीं हिचकते लोगों में हिंसात्मक प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं।

यद्यपि अहिंसा एवं सदाचार का समावेश भारतीय संस्कृति एवं अन्य धर्म ग्रन्थों में भी निहित है परन्तु वह केवल सैद्धान्तिक रूप में दिखता है क्योंकि यज्ञ या अन्य कर्मकाण्डों में पशुबलि की प्रथा का संकेत अनेक ग्रन्थों में परिलक्षित है। भारतीय संस्कृति में अहिंसा का प्रसार जैन धर्म के माध्यम से होकर वह व्यवहारिक रूप में व्यवहृत हुआ तथा राष्ट्रीय सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

जैन धर्म चूंकि ईश्वर या स्रष्टा में विश्वास नहीं करता अतः मनुष्य दुःख से मुक्ति भी इस प्रकार की किसी शक्ति की कृपा पर निर्भर नहीं करती। मनुष्य स्वयं अपना भाग्य निर्माता एवं कर्ता है वह कठोर आचार व्रत एवं परीषह जनित जीवन जीकर वह स्वयं दुःखपूर्ण जीवन से मुक्ति पा सकता है। मनुष्यों के अन्तर मानवता है तो वह कहाँ से आयी हैं इन विषयों का समावेश अन्ततः जैन धर्म के कारण ही हुआ है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जैन भारत में अधिक प्रभुत्वशाली धर्म नहीं रहा तथापि देश में एक सशक्त सम्प्रदाय अवश्य ही बना रहा। जैन धर्म की रूढ़िवादिता, ब्राह्मण धर्म से इसकी सादृश्यता, धर्म प्रचार की उग्र भावना का अभाव तथा अन्य धर्मों में विरोधाभाष का दुर्भाव होने से जैन धर्म देश के विभिन्न भागों में आज भी विद्यमान है।

संदर्भ

1. प्राचीन भारतीय धर्म और दर्शन (एक सर्वेक्षण) डॉ० अजय पाण्डेय, डॉ० कुंवर बहादुर कौशिक।
2. संकटा प्रसाद (जैन धर्म और दर्शन)।
3. दत्ता एवं चटर्जी (भारतीय दर्शन)।
4. अभिनव सत्यदेव (प्राचीन भारतीय धर्म और दर्शन)।

55

बौद्ध वास्तु-कला पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

चन्द्रकला राय

भारतीय कला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। विश्व में एशिया महादेश ही एक ऐसा भौगोलिक परिक्षेत्र है जहाँ कई धर्मों एवं संप्रदायों का उद्‌भव हुआ और समय के साथ विकास एवं प्रसार हुआ। ई० पू० छठी शताब्दी से नगर-जीवन धनिक वर्ग तथा दरबारों के अभ्युदय के साथ वास्तुकला तथा विविध शिल्पियों का पुनरुज्जीवन स्वाभाविक रूप से हुआ।

वास्तु कला में बौद्ध वास्तु की महत्वपूर्ण देन है। यह देन वास्तुकला की दोनों विद्याओं गुहा वास्तु व स्वतन्त्र वास्तु में समान रूप से परिलक्षित होती है। बौद्ध स्वतन्त्र वास्तु का प्रमुख उदाहरण स्तूप है। जिनमें विदित होता है। कि वेदिकाओं एवं तोरणों की प्रेरणा वैदिक वेदिकाओं व तोरण द्वारों से ग्रहण की गयी थी।

सामान्यतः स्तूप का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से माना जाता है। किन्तु इसका उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में हुआ है। यहाँ अग्नि की उठती हुई ज्वालाओं को 'स्तूप' कहा गया है। वितान लेकर फैले हुए वृक्ष के साथ स्तूप की तुलना की गयी है। ऋग्वेद में ही सूर्य के लिए हिरण्य स्तूप कहा गया है। जिसका शाब्दिक अर्थ है सोने का थूरा या ढेर। भगवान बुद्ध अपने ज्ञानमय प्रकाश के कारण अग्नि स्कन्ध बन गये थे। और स्तूप के रूप में उनकी स्मृति या पूजा को उचित समझा जाता था।

मृत व्यक्ति की शव अथवा चिता के ऊपर स्मारक बनाने की परम्परा

बौद्ध धर्म के पहले से ही विद्यमान थी। वैदिक साहित्य ऋग्वेद में अग्निदग्ध एवं अनगनिदग्ध शब्दों का उल्लेख मिलता है जो शव को जलाने, शव को जमीन में गाड़ने एवं उस पर स्मारक बनाने के अर्थ में प्रयोग किया गया है। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि जिस प्रकार चक्रवती राजाओं की समाधि पर स्तूप अथवा समाधि बनायी जाती है। उसी प्रकार उनके अस्थि अवशेष पर स्मारक बनाया जाय। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की परम्परा को बौद्ध धर्म में अपनाया गया, 'स्तूप' शब्द पालि भाषा के 'थूप' शब्द से निर्मित है। जिसका अर्थ होता है, किसी वस्तु का ढेर अथवा मिट्टी का चबूतरा। स्तूप की एक संज्ञा चैत्य भी है। अस्थि लेखों में स्तूप को चेतीय या महाचेतीय कहा गया है। 'चैत्य' शब्द संस्कृत के 'ची' धातु से बना है। जिसका अर्थ है चयन करना, एकत्र करना, चुनना अस्थियों को चुनने के कारण स्तूप स्मारक को चैत्य कहा गया है।

बौद्ध ग्रन्थ 'महापरिनिब्बान सुत्त' में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि अब मैं 80 वर्ष की अवस्था पूर्ण कर चुका हूँ और मेरा परिनिर्वाण निश्चित है। बुद्ध की मृत्यु के बाद अन्त्येष्टि क्रिया को लेकर विवाद उत्पन्न हुआ। उस समय के शासकों ने आपसी सम्मति से अन्त्येष्टि क्रिया किया। और उनकी अस्थि को ले जाकर अपने-अपने राज्य में स्तूप निर्माण करवाया, जिन्हें प्रारम्भिक स्तूप कहा गया है।

ऐसा प्रमाण मिलता है कि सम्राट अशोक ने 84, 000 स्तूपों का निर्माण कराया। चीनी यात्रियों ने भी भारत के विभिन्न स्थानों में अशोक द्वारा बनवाये गये स्तूपों का उल्लेख किया है।

अशोक के समय के सारनाथ का धमेख तथा सांची के महास्तूप का निर्माण ईंटों से हुआ है। सांची तथा भरहुत के स्तूप लगभग एक ही काल में निर्मित हुए इसलिए इनकी कला में अत्यधिक समानता है। भरहुत की वेदिका पर अनेक प्रकार का चित्रण है तथा अंकित चित्रों को वृत्तर के अन्दर दर्शाया गया है। इस वेदिका पर लगभग 20 जातक कथाओं का अंकन है जिस पर उनका नाम अंकित है।

प्राचीन भारत में शैलकृत वास्तु की परम्परा मौर्य काल से प्रारम्भ होती

है। शैलकृत वास्तुकला के दो रूप प्राप्त होते हैं। चैत्यगृह एवं विहार। शैलकृत वास्तु कला पर्वतों को काटकर गुफाओं के निर्माण की परम्परा मौर्य युग से ही प्रचलित थी। बरावर एवं नागार्जुनी की पहाड़ियों में मौर्ययुगीन शैलोत्खनित गुफाएं प्राप्त होती हैं। शुंग सातवाहन युग में बौद्धों ने जब इस कला को आत्मसात किया तो गुफावास्तु बौद्धकला की एक अनिवार्य परम्परा बन गयी। 'पर्सीब्राउन' के अनुसार मिस्त्र, असीरिया लीसिया, पेट्रा, नक्श–ए–रूस्तम में भी अनेक शैलोत्खनित वास्तु–अवशेष उपलब्ध होते हैं। किन्तु भारतीय कलाकारों *ने इस क्षेत्र में जिस कल्पनात्मक मौलिक प्रतिमा, अदम्य शक्ति का परिचय* दिया वह अत्यन्त दुर्लभ है। पर्वतों को काटकर कन्दराओं का निर्माण करने के कारण इसे गुफा नाम से सम्बोधित किया गया।

चैत्यगृह वे शैलकृत वास्तुकला है, जहाँ भिक्षु पूजा करते थे। इसे चैत्य गृह की संज्ञा इस लिए दी जाती है क्योंकि इसमें भिक्षुओं की पूजा के लिए स्तूप निर्मित हैं। चैत्यगृह वस्तुतः एक बौद्ध मन्दिर था। चैत्य की आकृति वृतायत अर्थात् घोड़े की नाल जैसी होती है। इसका आरम्भिक भाग आयताकार व अन्तिम भाग अर्धवृत्ताकार होता था। अर्धवृत्ताकार भाग को छत के नीचे ठीक मध्य में चट्टान को काटकर ठोस अण्डाकार स्तूप का निर्माण किया जाता था। बीच के लम्बे आयताकार भाग में पूजा और सभा करने के लिए भिक्षु एकत्र होते थे जिसे मंडप कहते हैं।

हीनयुग के आठ चैत्यगृह प्रसिद्ध हैं। भाषा, कोण्डाने, पतिलरवोरा, अजन्ता, बेडरना, नासिक और कार्ले। चैत्य गृह की तुलना यदि हिन्दु देवालय के विभिन्न भागों से की जाय तो और अधिक उपर्युक्त होगा, चैत्य गृह में जो स्थान चैत्य या स्तूप का था। वही देवालय के गर्भ गृह में देवमूर्ति का था।

विहार में बौद्ध भिक्षु पूजा के उपरान्त रहते थे। विहार का टकसाली रूप यह था उसके एक बड़ा मण्डप चतुशशाला के आंगन की भांति था। विहार भिक्षुओं का आवास गृह था। एक भिक्षु के रहने के लिए एक कोठरी या गर्भ गृह पर्याप्त था तीन के लिए त्रिगर्भ शालाएं बनाई जाती थीं। जहाँ बहुत से भिक्षुओं के बड़े आकार के आवास के स्थान भी विहार कहलाए। विहारों की साक्षी तो अब केवल शैल गुफाओं में ही बची है। क्योंकि उससे पूववर्ती काष्ठ निर्मित विहार अब कोई नहीं बचा।

अशोककालीन मौर्य वास्तु की चरम परिणति सारनाथ के सिंह स्तम्भ में दृष्टिगत होती है। सारनाथ का स्तम्भ अशोक ने उस स्थान पर खड़ा किया जहाँ बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश या धर्मचक्र प्रवर्तन किया स्तम्भ का मूल भाग तो पूर्ववर्ती स्तम्भों की भांति है। पर शीर्ष भाग अपने लालित्य के लिए विश्व विख्यात है।

डॉ० अग्रवाल ने सारनाथ स्तम्भ के निर्माण स्तोत्रों का विशद् विवेचन किया है जो अशोक के सार्वभौम व्यक्तित्व को परिलक्षित करने में पूर्णतः समर्थ हैं। अशोक ने सारनाथ में अपना जीवन दर्शन भी आरोपित किया है। धर्मचक्र अशोक की धम्म विजय का स्मरण दिलाता है। पर स्तम्भ की परम्परा वैदिक युग से ही ज्ञात होती है।

वैदिक साहित्य में स्थूण, थूण, स्कम्भ, यूप इत्यादि। शब्द स्तम्भ के ही द्योतक हैं। यज्ञीय यूपों से लेकर आवासीय स्तम्भों तक का व्यापक प्रचलन था। स्तम्भ मानव महत्वाकांक्षा के प्रतीक थे। अवाङ्मुख पद्म पुरुष पूर्णघट का प्रतिरूप है। जो मंगल कलश के रूप में ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्म के शुभ का सूचक है।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय कला के विकास का मूलभूत कारण यही था कि इसका स्तोत्र और प्रेरणा धार्मिक मूल्यों से प्राप्त होता था। बौद्ध धर्म की प्रेरणा से ही कई सौ वर्षों एवं विभिन्न राजवंशों के शासन काल में एक नवीन कला शैली का विकास एवं विस्तार हुआ। बौद्ध वास्तुकला में ही सर्वप्रथम पत्थरों को काटकर निर्माण किया गया अशोक के समय भारतीय कला में पाषाण का प्रयोग व्यापक रूप में हुआ है जिसमें बौद्ध स्तूपों एवं गुफाओं का निर्माण हुआ।

स्तूपों की वेदिकाओं एवं तोरणों पर प्रतीकों के माध्यम से भगवान बुद्ध से सम्बन्धित घटनाओं तथा कथाओं को सर्वप्रथम उत्कीर्ण किया गया। सम्भवतः यही कारण है कि अशोककालीन कला के उदाहरण लगभग सत्पूर्ण भारत में प्राप्त होते हैं। शुंग-सातवाहन काल में भरहुत, सांची, अमरावती के स्तूपों का निर्माण हुआ इसी काल में कार्ले, नासिक, भाजा, अजन्ता इत्यादि स्थानों पर शैल्यकृत वास्तुकला के अन्तर्गत चैत्य एवं विहार बनाये गये यह विदित है कि

शुंग-सातवाहन सम्राट यद्यपि ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे। तथापि उनके समय भी पश्चिम एवं पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म न केवल उन्नति हुई बल्कि उनके वास्तुकला का भी विस्तार एवं विकास हुआ। गुप्तकाल तक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित स्तूप, चैत्य एवं मन्दिरों का निर्माण होता रहा।

अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध वास्तु-कला पर प्राचीन भारतीय संस्कृति का पूर्ण प्रभाव रहा है।

संदर्भ

1. रोनाल्ड, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इण्डिया।
2. ऋग्वेद 7.2.11।
3. ऋग्वेद 1.24.7।
4. अंगुत्तर निकाय, जिल्दी 2, पृ० 38-39।
5. इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० 24।
6. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० 30।
7. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला।

56
भारतीय संस्कृति एवं जैन धर्म

दिव्या पाण्डेय

बुद्ध के समकालीन अनेक अरूढ़िवादी धर्मोपदेशकों में एक थे वर्धमान जो अनुयायियों में महावीर के नाम से प्रसिद्ध थे। बौद्ध धर्म के इतिहास में जैन धर्म का इतिहास (विजेताओं का धर्म) जिसकी उन्होंने स्थापना की थी, नितान्त भिन्न है। वैसे तो जैन धर्म अपनी सुदृढ़ स्थापना में सफल रहा और कुछ स्थानों में तो अत्यधिक प्रभाव पूर्ण भी रहा किन्तु इसका प्रसार भारत से बाहर न हो सका। यद्यपि जैन धर्म का इतिहास बौद्ध धर्म के इतिहास की भाँति रोचक नहीं है और यह उतना महत्वपूर्ण भी नहीं था किन्तु वह अपनी जन्मभूमि में अति जीवित रहा जहाँ आज भी उसके 2 करोड़ अनुयायी हैं जिसमें ज्यादातर धन सम्पन्न व्यापारी वर्ग विशेष रूप से समाहित हैं। जैन पुराणों तथा जैन साहित्यों में 24 तीर्थंकरों के जन्म सम्बन्धी जो कथायें प्राप्त होती हैं वे बुद्ध सम्बन्धी कथाओं की अपेक्षा कम आकर्षण हैं तथा अधिक आडम्बर पूर्ण और अविश्वसनीय भी हैं परन्तु उनकी ऐतिहासिकता सन्देह की सीमा से परे है।

किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि जैन पुराणों में एवं जैन साहित्यों में इन 24 तीर्थंकरों के विषय में जो वृत्तान्त पाया जाता है उसका आदिमकाल क्या है? इस सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों ने भाषा, विषय आदि के आधार पर भारतीय साहित्य का जो कालक्रम निश्चित किया है उसमें सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद ठहराता है जिसकी रचना 1500-900 के मध्य हुई तथा जिसके पूर्व की कोई साहित्यिक रचना प्राप्त नहीं होती है। जैन पुराणों की दृष्टि से ऋग्वेद का वह सूक्त बहुत महत्वपूर्ण है जिसमें वातरशना मुनियों की स्तुति की गयी है जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये मुनि नग्न रहते थे तथा जटा भी धारण करते थे।

स्नान न करने से मलिन शरीर व मौन इन मुनियों में केशी प्रधान थे। एक अन्य स्थान केशी और वृषभ विशेषण- विशेष्य रूप में प्रयुक्त हुए हैं जिससे संदेह नहीं रहता कि वातरशना ऋषियों के नायक केशी वृषभ थे। यदि इस बात में कुछ संदेह रहता है तो उसका परिहार भागवत पुराण से हो जाता है जहाँ नाभि एवं मरुदेवी के पुत्र ऋषभ के चरित्र व तप का विस्तार से वर्णन किया गया है और यह भी कह दिया गया है कि ये विष्णु के भक्त थे तथा वातरशना ऋषियों की परम्परा में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार वैदिक परम्परानुसार यह सिद्ध हो जाता है कि श्रमण मुनि उस समय भी विद्यमान थे जब वेदों की रचना हुई थी।

परम्परा के अनुसार एक पवित्र मौखिक साहित्य महावीर के समय से चला आ रहा है जो लगभग 540 वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे, किन्तु इस मौखिक साहित्य के पूर्ण ज्ञाता भद्रबाहु थे। उनकी मृत्यु के पश्चात स्थूलभद्र ने पाटलि-पुत्र में एक विशाल सभा बुलाई और यथा सम्भव सर्वश्रेष्ठ 12 अंगों तथा धाराओं में धर्म - सिद्धान्तों की पुनः रचना की जिसमें से कुछ आज प्रकाशित भी हो चुके हैं।

जहाँ तक भारतीय संस्कृति में जैन परम्परा के प्रभाव का तथ्य है तो सम्भवतः मौर्य एवं गुप्त कालों के मध्य जैन धर्म एवं जैन संस्कृति के अवशेष पूर्व में उड़ीसा से लंका एवं पश्चिम में मथुरा तक प्राप्त हो सकते हैं किन्तु उत्तरवर्ती कालों में यह धर्म प्रधानता काठियावाड़, गुजरात तथा राजस्थान के भागों में जहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय की बहुलता थी तथा प्रायद्वीप के मध्य भाग आधुनिक मैसूर और दक्षिणी हैदराबाद जहाँ दिगम्बर का आधिपत्य था दो क्षेत्रों में केन्द्रित हो गया था, किन्तु जैनियों की जन्म भूमि गंगा घाटी पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा।

यद्यपि जैन दार्शनिकों ने अपने धर्मादेशों का विकास किया और अतिसूक्ष्म ज्ञानशास्त्र के सिद्धान्त की सृष्टि की, किन्तु यह मूल शिक्षाएं निश्चित रूप से अपरिवर्तित रही। जैन धर्म में 24 तीर्थंकरों की स्तुति उसी भांति होती थी जैसे बौद्ध धर्म में बुद्ध की एवं हिन्दू धर्म में हिन्दू देवताओं की। जैन धर्म के विशेष सामाजिक धर्मादेश नहीं थे। एक जनसाधारण के पारिवारिक संस्कार - यथा

जन्म, विवाह एवं मृत्यु वही थे जो हिन्दुओं के थे। प्रारम्भ में जैन धर्म में स्तूपों की उपासनापद्धति प्रचलित थी किन्तु इस्वी युग के प्रारम्भ में तीर्थंकरों को मंदिरों में मूर्तिरूप में प्रतिष्ठित किया जाने लगा तथा मध्य युग के लगभग हिन्दू पूजा पद्धति के समकक्ष पहुंच गयी उसमें पुष्प, दीप, गंध आदि समर्पित किये जाने लगे तथा हिन्दुओं के मुख्य देवता उपाश्रित स्थित में जैनियों के मन्दिर तक पहुंच गये। यद्यपि यह आस्तिकवाद से कोई वास्तविक समझौता नहीं था तदापि जैन सम्प्रदाय हिन्दू धर्म व्यवस्था में सरलता से खप गया और इसके सदस्य अपनी - अपनी पृथक जातियां बनाये रहे। जैनियों का धार्मिक साहित्य रोचक नहीं है और वह बहुधा पाण्डित्य पूर्ण है। जैन ग्रन्थ अहिंसा, प्रेम तथा मानवीय सहानुभूति प्रकट करतें हैं जैसा कि महावीर द्वारा गौतम नामक शिष्य से कही गयी ये पंक्तियां सिद्ध करती हैं -

जिस प्रकार पका हुआ पत्ता
जब उसका समय हो जाता है वृक्ष से गिर पड़ता है
ऐसे ही मनुष्य का जीवन है
गौतम, तुम सदैव सावधान रहना।।

उत्तराध्ययन सूत्र

57
बौद्ध परम्परा में प्रतीकवाद

चन्दन विश्वकर्मा

ई० पू० छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गंगा के मैदानों में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। इनमें से बौद्ध धर्म, जिसका उदय भगवान बुद्ध के द्वारा हुआ था यह एक धार्मिक सुधार के परम शक्तिशाली आन्दोलन के रूप में उभरा। वस्तुतः बौद्ध धर्म के उदय ने भारत के धर्मों के इतिहास में क्रान्ति का सूत्रपात किया। बुद्ध बड़े व्यवहारवादी सुधारक थे, उन्होंने अपने समय की वास्तविकताओं को खुली आँखों से देखा। वे उन निरर्थक वाद-विवादों में नहीं उलझे, जो उनके समय में आत्मा एवं परमात्मा के बारे में जोरों से चल रहे थे उन्होंने अपने को सांसारिक समस्याओं में लगाया। उन्होंने चार आर्य सत्य, आष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के माध्यम से सामान्य जनता में अपने मत का व्यापक प्रचार-प्रसार किया।[1] बौद्ध धर्म की अतिसय उदारता से बौद्ध धर्म को सम्पूर्ण विश्व में फैलाया।

बुद्ध ने स्वयं ही कहा है कि निर्वाण के लिए प्रत्येक को प्रयास करना होगा, अपना दीपक स्वयं बनना होगा। बुद्ध ने अपने जीवन काल में ही अपने अनुयायियों के मध्य अन्यतम् प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी और बुद्धत्व को देवत्व माना जाने लगा, अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म के राजाश्रय प्रदान कर देने से बौद्ध धर्म चर्मोत्कर्ष पर पहुंच गया।

भारत और भारत के बाहर विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार उसकी सरलता, सहजता और मानवीय गुणों के कारण हुआ। इसकी मानवतावादी अभिव्यक्तियों के कारण ही विभिन्न वर्गों के लोगों ने इसे अपनाया और इसके

प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दिया। यह धर्म भारत एवं वृहत्तर भारत जैसे-श्रीलंका, वर्मा, तिब्बत, चीन, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, चम्पा, स्याम आदि अनेक देशों में फैला।

महात्मा बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्त इतने सरल और सुबोध थे कि लोग उनके प्रति अपने आप आकृष्ट होते थे। जीवन से सम्बन्धित उनकी अभिव्यक्तियों और निर्देश अत्यन्त बोधगम्य और सहज थे। इसमें न किसी पण्डित की आवश्यकता पड़ती थी न पुरोहित की। इस धर्म को सरलता पूर्वक आत्मसात् करके अनुपालन किया जा सकता था।

बौद्ध धर्म का चिन्तन और दर्शन पक्ष जटिलताओं और कर्मकाण्डीय व्यवस्था से दूर सरल और सुगम था अतः लोग जनभाषा के माध्यम से इस नये धर्म को समझ सकने में समर्थ हुए। उस समय जनभाषा पालि थी, जिसमें महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश दिये। इसके विपरीत संस्कृत क्लिष्ट और साहित्यिक भाषा थी, उसे साधारण जनता समझ सकने में असमर्थ थी। अतः भाषा की सहजता भी एक कारण था कि लोग बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए।[2]

बौद्ध धर्म में जात-पात और ऊंच-नीच का अभाव था। इसमें न कोई जाति-भेद था, न वर्ग-भेद। सभी मनुष्य बराबर थे। सभी जातियों के लोग इस धर्म को ग्रहण कर सकते थे। दलित और निम्न जाति के लोगों के लिए तो यह सुनहरा अवसर था, जहाँ बिना किसी भेद-भाव के लोग इस धर्म में दीक्षित और अनुग्रहित किये जा सकते थे। इस धर्म में नैतिकता और आचरण पर अधिक बल दिया गया था। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों ने इस धर्म को निर्द्वन्द्व होकर स्वीकार किया।[3]

ब्राह्मण धर्म की क्रियाएं और कर्मकाण्डीय व्यवस्थाएं अत्यन्त व्ययसाध्य थीं तथा छोटे-छोटे सभी धार्मिक कार्यों में धन व्यय होता था। निर्धन और निम्न जाति के लोग अधिक धन खर्च नहीं कर सकते थे अतः उन जातियों ने बौद्ध धर्म के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया, जो व्ययसाध्य धर्म नहीं था। वहाँ केवल व्यक्ति की नैतिकता और सच्चरित्रता पर बल दिया जाता था, जिसके कारण विद्रोही और क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के लोगों ने बौद्ध धर्म का अनुसरण किया और इसका प्रसार किया।

बौद्ध धर्म के प्रसार में स्वयं बुद्ध का आकर्षण और सर्वप्रिय व्यक्तित्व मुख्य कारण थे। वे सम्बोधि के पश्चात् निरन्तर अपने धर्म का प्रचार करते रहे तथा जनसाधारण को उपदेश देते रहे। तथागत के उपदेश और वाणी का श्रवण करने के लिए लोग एकत्रित हो जाते थे। उनके तर्कों को सुनकर लोग स्तब्ध हो जाते थे। उनके सरल और सम्यक् उपदेश में तत्कालीन उत्तरी भारत आप्लावित था। शास्ता के तर्कपूर्ण विचारों और संवेदनशील आख्यानों को सुनकर लोगों के विचार परिवर्तित हो जाते थे और वे उनके अनुयायी बन जाते थे।

बौद्ध धर्म के प्रसार में राजकीय संरक्षण का भी शीर्षस्थ स्थान रहा है। बुद्ध के जीवन काल में ही मगध सम्राट बिम्बिसार और कालान्तर में अजातशत्रु, कोशल नरेश प्रसेनजित, वत्स का शासक उदयन तथा अवन्ति के राजा प्रद्योत की सहानुभूति बौद्ध धर्म के प्रति अभिव्यक्ति हो चुकी थी। किन्तु इसे पूर्ण राजकीय संरक्षण सम्राट अशोक के समय प्राप्त हुआ। उन्होंने इसको अपना कर इसका प्रचार-प्रसार किया। इसके पश्चात् कुषाण सम्राट कनिष्क ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया तथा उत्तर भारत में पुर्नस्थापित किया। राजपूत-युग में बंगाल के पाल सम्राटों ने इस धर्म को अपना संरक्षण प्रदान किया तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालय को बौद्ध धर्म और शिक्षा के लिए देश विख्यात किया।[4]

ब्राह्मण, जैन जैसे विपक्षी धर्मों की रूढ़िवादिता के कारण इस धर्म को विकसित और प्रसारित होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। फलतः यह धर्म निर्विरोध फैलता गया और अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाता गया।

बौद्ध धर्म के लचीलेपन, सुबोधता और सर्वांगीणता के कारण इसके प्रति लोगों की अभिरूचि बढ़ गयी। समयानुसार इसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होते रहे। धीरे-धीरे इसकी अनेक शाखाएं हो गयीं, जो संयुक्त होकर बौद्ध धर्म के प्रचार में लगी थीं। ब्राह्मण धर्म के अभाव के कारण इस धर्म में मूर्ति-पूजा और आचार का निवेश हुआ।

साधारण जन-जीवन में लोगों ने बुद्ध को देवत्व, बुद्ध के जीवन की घटनाओं आदि का अनुकरण किया। प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर भी बुद्ध के धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ा। परिणामतः कला के क्षेत्र में बौद्ध धर्म में प्रभाव से कैसे अछूता रह जाता।

भारतीय कला के विकास का मूल हेतु यही था कि इसका स्रोत और प्रेरणा धार्मिक एवं भद्रात्मक है। यही कारण है कि प्राचीन मानव ने अपने विकासक्रम में अपने उपास्य के प्रति कुछ चिन्हों या प्रतीकों का अंकन किया। धार्मिक विचारों और कर्मकाण्डों के रूप में मंगल प्रतीक समाज के हर स्तर पर व्याप्त थे।[5] किसी भी धर्म और कला में प्रतीकत्व अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं। मूलतः बिना इसके कोई भी कला पूर्णतः अस्तित्वविहीन और भावविहीन कही जा सकती है। कभी-कभी कला और धर्म में विद्यमान प्रतीक एक या एक से अधिक सन्दर्भों की ओर संकेत करते पाये गए हैं। कला और धर्म के प्रतीक वैसे ही हैं जैसे मानव शरीर में रीढ़। सामान्यतः प्रतीक से तात्पर्य यह होता है कि कोई चिन्ह, संकेत विशेष, अर्थ विशेष आदि। प्रतिमा के अनुपलब्धता में ये प्रतीक उपासकों के मन को असीम शांति व सुख प्रदान करते थे। प्रत्येक प्रतीकों के अपने अलग-अलग सन्दर्भ अर्थात् तात्पर्य भी होते थे।

बौद्ध धर्म में प्रतीकों का कलात्मक विकास

बौद्ध धर्म में प्रतीकों के निर्माण के सन्दर्भ में परिनिर्वाण सूक्त[6] में स्पष्ट होता है कि अपने महापरिनिर्वाण से पूर्व शिष्य आनन्द से उनकी अन्तिम क्रिया के सन्दर्भ में पूछे जाने पर बुद्ध ने चक्रवर्ती राजाओं के समान अपने अवशेषों पर स्तूप बनाने की आज्ञा दी थी।

चातुम्महापथे रज्जे चक्कवत्तिस्स थूपं करोन्ति।
चातुम्महापथं तथागतस्स थूपों कातव्वों।।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में प्रतीक पूजन का आरम्भ स्तूप और चैत्यों के साथ हुआ।

दूसरी सदी ई० पू० में आते-आते बुद्ध के प्रतीकों की संख्या बढ़ गयी। बौद्ध धर्म में लोक धर्म की अनेक धाराएं जोड़ी गयी। उनकी अनेक विशेषताओं को बौद्ध धर्म में प्रविष्ट कर लिया गया। ऐसी स्थिति में उसका प्रभाव पड़ ही रहा था। अतः भरहुत और सांची के स्तूपों एवं चैत्यों का जब निर्माण हुआ तो उसमें बुद्ध से सम्बन्धित कथानकों का अंकन होने लगा। उस समय यह

समस्या उत्पन्न हुई की मानव रूप में उनका अंकन कैसे हुआ। स्तूप एवं चैत्यों के रूप में उनको पहले से ही स्वीकृत कर दिया गया था। अतः अन्य प्रतीकों के द्वारा उन्हें प्रदर्शित करने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी। अतः शुंग सातवाहन कला में बुद्ध का चित्रण अन्यान्य प्रतीकों के माध्यम से किया गया। प्रतीकों का निर्धारण उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं के आधार पर किया गया। जन्म के लिए गज, कमल, वृषभ को स्वीकार किया गया। महाभिनिष्क्रमण का प्रतीक अश्व अथवा हार बन गया। बौद्ध धर्म में बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित जिन पशुओं का प्रतीक रूप में अंकन किया गया उनकी मौलिकता की परम्परा बहुत पुरानी है। सिन्धु घाटी सभ्यता से ही इन पशुओं का महत्वपूर्ण अंकन पाया जाता है। इन्हें बुद्ध के जन्म, कुल निष्क्रमण और राशि का प्रतीक माना जाता है ये पशु चार दिशाओं के प्रतीक हैं गज पूर्व दिशा का, वृषभ पश्चिम का, सिंह उत्तर का और अश्व दक्षिण दिशा का। इन चारों आकृतियों के बीच एक-एक धर्म चक्र की आकृति भी है जो चार दिशाओं के प्रतीक हैं और इन्हीं से चक्रवर्ती सम्राट के चक्र का भाव प्रकट होता है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में जो प्रतीक चिन्ह लिए गये वे पूर्ववर्ती प्राचीन भारतीय परम्परा में विद्यमान थे। बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् इन प्रतीकों को परिष्कृत रूप में स्वीकार कर लिया गया। सम्बोधि को प्रदर्शित करने हेतु बोधि-वृक्ष को प्रतीक माना गया। धर्मचक्र प्रवर्तन की घटना चक्र द्वारा अंकित की गयी और निर्वाण के लिए स्तूप और चैत्य पहले से ही प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिये गये थे।[7] अतः इस काल की कला में जहाँ भी बुद्ध की उपस्थिति प्रदर्शित करनी थी। इनमें से किसी प्रतीक का सहारा लिया गया! साथ ही लोक धर्मों में व्याप्त गन्ध, पुष्प आदि के अर्चन करने की क्रिया भी बौद्ध धर्म में प्रविष्ट की गयी थी। अतः इस काल कला में अनेक स्थानों पर इन प्रतीकों की इस विधि से अर्चना करते हुए प्रदर्शित किया गया। ये प्रतीक देवता की उपस्थिति का आभास कराते थे। अतः इस प्रकार बौद्ध धर्म में प्रतीकों का विशिष्ट योगदान रहा है।

सन्दर्भ

1. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत, पृ० संख्या-105।

2. डॉ० जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० सं० 843।
3. डॉ० जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० सं० 844।
4. डॉ० जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० सं० 844।
5. डॉ० जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० सं० 845।
6. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला (प्रारम्भिक युग से तीसरी शती ई० तक) पृ० सं० 336।
7. वासुवेद शरण ग्रवाल, भारतीय कला।

58

वैदिक संस्कृति पर बौद्धादि धर्म एवं दर्शन का प्रभाव

दीनानाथ राय

वैदिक संस्कृति पर बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव पर विचार करते समय यह आवश्यक है कि हम इन दोनों की धर्मों के उद्‌भव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखें। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि इन दोनों ही धर्मों ने वैदिक संस्कृति के प्रमुख तत्वों की आलोचना की और उसका खण्डन भी किया। इन दोनों धर्मों का अभ्युदय जिस परिवेश में हुआ उसका प्रभाव इन धर्मों के संस्थापकों पर स्पष्ट दिखाई देता है। ये दोनों ही धर्म इस अंचल में विकसित हुए वह गणतंत्रात्मक पद्धति से प्रभवित था। इस परिवेश की विशेषता और उसके आदर्श को इन दोनों ही संस्थापकों ने आत्मसात् किया तथा उसी का प्रचार और प्रसार किया। यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म या जैन धर्म के संस्थापकों ने जो विचार प्रकट किये वह इनके मौलिक नहीं थे। वह गणतंत्रात्मक पद्धति में सर्वदा से ही विद्यमान रहे और उन्हीं को स्वीकार कर इनके संस्थापकों ने जो सिद्धान्त या आदर्श समाज के समक्ष रखा वह वैदिक संस्कृति से सर्वथा भिन्न था।

ज्ञातव्य है कि छठी शताब्दी ई० पू० तक उत्तर भारत में राजतंत्रात्मक और गणतंत्रात्मक दोनों ही प्रकार की पद्धतियां विद्यमान थीं। अवदानशतक[1] में एक कथा आती है जिसके अनुसार मध्यदेश के व्यापारी जब दक्षिण में पहुंचे तो उनके राजा ने इन व्यापारियों से पूछा कि आप कहाँ से आये हो वहाँ किस प्रकार का शासन व्यवस्था है। इन व्यापारियों ने कहा 'देव, केचित् देशाः गणाः धिनाः, केचित् राजाः धिनाः इति।' अर्थात् उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में

राजतंत्रात्मक और कुछ में गणतंत्रात्मक प्रणाली विद्यमान है। इस पृष्ठभूमि में ही इन धर्मों के प्रभाव का मूल्यांकन करना उचित होगा।

'गण' शब्द भारोपिय है।[2] यूनानी जेनास (Genos) और वैदिक 'जन' समानार्थी और सगोत्री हैं। इस शब्द में रक्त सम्बन्ध का भाव निहित है। इस शब्द से ही जनक, जननी, जनता या अंग्रेजी का जीन आदि शब्द जुड़े हुए हैं। ज का ग संस्कृति साहित्य में परिवर्ती होता है जिसके उदाहरण अनेकश: है। 'भज' धातु से निर्मित 'भग' या 'भाग' मात्र एक उदाहरण है। आरम्भ का जन शब्द बाद में गण बना और गणों के अन्तर्गत सभी व्यक्ति एक ही रक्त से सम्बन्धित माने गये और इसीलिए गणों में किनशिप (Kinship) का द्योतक करता है। इसी पृष्ठभूमि में इन दोनों धर्मों के प्रमुख सिद्धान्तों और उनके प्रभाव का अध्ययन करना समीचीन होगा।

छठी शताब्दी ई० पू० व्यापक संक्रमण का काल था। लोहे के प्रयोग ने अतिरिक्त उत्पादन को सम्भव किया। एन०बी०पी० (N.B.P.) इस समय का प्रमुख मृदभाण्ड परम्परा है इसका लोहे से सम्बन्ध होना पुरातत्व से उजागर है। अतिरिक्त उत्पादन से स्पष्ट है कि समाज में सम्पन्नता और विपन्नता का विभाजन होने लगा था। एक वर्ग जो उत्पादन के स्रोत का स्वामी था कुलीन वर्ग बना तो दूसरा जो इस प्रकार के स्रोत से वंचित था दास वर्ग में परिगणित हुआ। यह स्वाभाविक था कि दूसरा निम्न वर्ग संख्या में अधिक था। उत्पादन के स्रोत से वंचित होने के कारण यह वर्ग मात्र श्रम करके जीविकोपार्जन करता था। जातक कथाओं से इनमें विद्यमान असंतोष और नैराश्य का भाव दिखाई देता है। उल्लेखनीय है कि मात्र गौतम बुद्ध या महावीर ने ही नहीं बल्कि इस काल के दार्शनिक जिनका उद्भव इस क्षेत्र में हुआ, उनके दर्शन में इस वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखाई देती है। इन दो विचारकों के अतिरिक्त पूरण कश्यप, संजय बेलट्ठिपुत्त, पक्कुधक्रच्चायन, अजितकेशकम्बलिन, मसकरीपुत्त गोशाल आदि के दर्शन इस नैराश्य को व्यक्त करता है। इस पृष्ठभूमि में ही बुद्ध द्वारा कर्म की प्रधानता को महत्व देना दिखाई देता है। वैदिक धर्म जहाँ समाज के वर्गीकरण का आधार 'जन्म' को मानता है वहीं बौद्ध या जैन 'कर्म' को। व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में सुधार कर्मों से होता है। जन्म इसमें बाधक नहीं होता। यह सर्वथा वैदिक संस्कृति के विरूद्ध था।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता इस धर्म की यह थी कि इन्होंने गणतंत्रात्मक पद्धति को स्वीकार किया। उल्लेखनीय है कि वैदिक संस्कृति राजतंत्र की पोषक रही है उसमें गणतंत्र का कोई स्थान नहीं है। गणतंत्रात्मक पद्धति वैदिक संस्कृति में 'अरट्ट' या 'अराष्ट्र' कही गयी है। जहाँ राजा नहीं होता उसे अराष्ट्र की संज्ञा दी गयी है और गणों का छूआ पानी पीना आपस्तम्ब, विष्णु आदि के धर्मसूत्रों में वर्जित है।[3] गणों के विरोध का कारण यह था कि इनमें जाति व्यवस्था नहीं होती, जबकि वैदिक समाज जातिओं में विभक्त होता है। गणों में व्यक्तिगत साम्पत्तिक अधिकार नहीं होता जब कि वैदिक समाज में व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकृति मिली है। वैदिक समाज में नारी को साम्पत्तिक अधिकार से वंचित किया गया है और विशेष परिस्थितियों में ही उसे सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त था।[4] जब कि गणों में नारी को सम्पत्ति से वंचित नहीं किया गया है। गणों में यज्ञों का प्राविधान नहीं है क्योंकि यज्ञों में हिंसा होती है जबकि वैदिक संस्कृति यज्ञ प्रधान है और बिना पशु बलि या नर बलि के यज्ञों का सम्पादन सम्भव नहीं होता। कर्म को प्रधान मानने के कारण गणों में ईश्वर अप्रासंगिक थे, और मोक्ष प्राप्ति सद्कर्म से ही माना गया जबकि मोक्ष प्राप्ति के लिए वैदिक संस्कृति में जो पशु बलि को अपरिहार्य मानता था हिंसा अपरिहार्य थी।

प्रभाव की दृष्टि से स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति पर बौद्ध, जैन आदि धर्मों का निश्चय ही प्रभाव परवर्ती काल में दिखाई देता है। वैदिक समाज में कात्यायन आदि की स्मृतियों में स्त्री धर्म की जो अवधारणा मिलती है वह बौद्ध एवं जैन धर्म का ही परिणाम थी।[5] निम्न वर्ण को जो स्थान वैदिक समाज में और उसकी अर्थव्यवस्था में दिखाइ देता है उसका कारण भी उपर्युक्त दोनों धर्म थे, क्योंकि इन धर्मों में निम्न वर्ण को प्रमुखता से स्वीकार किया गया। जिस काल में बौद्ध या जैन धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ उसमें अर्थव्यवस्था में शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि कृषि का महत्व बढ़ा। कृषि के महत्व ने तत्कालीन आर्थिक जीवन में पशुओं के संरक्षण (गोरक्खा) को महत्व दिया।[6] इन दो धर्मों ने इसीलिए अहिंसा पर बल दिया अहिंसा के सिद्धान्त ने वैदिक धर्म में भी बाद में चलकर महत्व दिया।

नि:सन्देह कला और भाषा पर इन दोनों धर्मों का प्रभूत प्रभाव दिखायी देता है। इन दोनों ही धर्मों के संस्थापकों ने अपने उपदेश उस भाषा में दिये,

जिसे लोक भाषा कहा जा सकता है। जिस क्षेत्र में उपदेश दिये गये, वह उस भाषा में थे, जो उसी क्षेत्र की भाषा थी। यदि प्राकृत गौतम बुद्ध ने उपदेश का माध्यम बनाया तो उसका कारण यह था कि मगध और निकट के क्षेत्रों में संस्कृति का स्थान इसने ले लिया था। 'अर्द्धमागधी' को जो महत्व इसने दिया, उसी कारण है कि बाद में अपभ्रंश का विकास हुआ। जैन धर्म ने मराठी, गुजराती, राजस्थानी, भाषाओं को समृद्ध किया। दक्षिण भारत के शासकों ने जिसमें राष्ट्रकूट प्रमुख थे, जैन धर्म को राजाश्रय दिया। बौद्ध धर्म के महायान और जैन धर्म एवं दर्शन में कला को जो समृद्ध प्रदान की वह निर्विवाद है। भारत में ही नहीं मध्य एशिया से लेकर दक्षिण पूर्वी एशिया तक ये धर्म कला के वाहक बने। अन्त में यह भी उल्लेखनीय है कि भारत के प्रमुख शिक्षा केन्द्र के विकास में इन धर्मो की महती भूमिका थी, जिसके उदाहरण नालन्दा, विक्रमशीला, इत्यादि अर्न्तराष्ट्रीय ख्यातिलब्ध शिक्षा केन्द्र है।[7]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति में जाति व्यवस्था की कठोरता को शिथिल करने, नारी को साम्पत्तिक अधिकार देने, जन्म के स्थान पर कर्म को महत्व देने, हिंसा के त्याग और उसके स्थान पर पशु संरक्षण पर बल देने इत्यादि के साथ शिक्षा और कला के उत्थान में इन धर्मों ने न केवल योगदान दिया अपितु वैदिक धर्म एवं दर्शन में उसको महत्व देने का भी ये कारण बने। उल्लेखनीय है कि इस महत्व का ही यह कारण था कि बुद्ध को वैदिक संस्कृति ने एक अवतार मान लिया।

संदर्भ

1. इनसाइक्लोपिडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स जिल्द, 08 पृ० 88
2. सी०डी० वक, ए डिक्शनेरी ऑफ सेलेक्टेड सिनानिम्स इन द प्रिन्सिपल इन्डो-यूरोपियन लेंग्वेजेज।
3. मनु 4.209, विष्णु 51.7, गौतम 17.17, वशिष्ठ 14.10, याज्ञवल्क्य, 1.161, आपस्तम्ब 1.6.18.16।
4. द्रष्टव्य, हिस्ट्री ऑफ धर्म शास्त्र वाल्यूम 3, पृ० 606, 712।
5. कात्यायन स्मृति सारोद्धार, सम्पादक पी० वी० काणे, श्लोक संख्या 894 से 932 तक।
6. आर० एस० शर्मा, मेटेरियल कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन्स पृ० 121, 122।
7. द्रष्टव्य, ए० एस० अल्तेकर, एजुकेशन इन एन्शियेन्ट इण्डिया, अध्याय 8।

59
बौद्ध धर्म का वैश्विक अवदान

संजीव कुमार मिश्र

वर्तमान विश्व जिस द्रुत गति से भौतिकता की ओर अग्रसर हो रहा है, उसका कोई छोर नहीं है। विज्ञान, तकनीकी-प्रौद्योगिकी, आर्थिक विकास, नगरीकरण, औद्योगिकरण आदि ने वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन स्तर में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं, जिससे लोगों की जीवन शैली का भी उन्नयन हुआ है। परन्तु इसके साथ ही साथ अनेक नवीन समस्यायें भी वर्तमान परिस्थितियों एवं सामाजिक परिवर्तनों ने उत्पन्न की हैं। मानवता की भावना का ह्रास, हिंसा, सौम्य शक्ति का प्रसार, आतंकवाद, उग्रवाद, अलगाववाद, वैश्विक स्तर पर विभिन्न देशों के बीच बढ़ती हुई वैमनस्यता तथा तनाव आदि ऐसी समस्यायें हैं जो वर्तमान वैश्विक समाज को अन्दर ही अन्दर खोखला कर रही है। अन्धे आधुनिकीकरण के इस युग में शान्ति एवं तनाव से इस द्वन्द्व का निराकरण मानव-सम्यता की रक्षा करने तथा उसके विकास को आगे ले जाने की महत्वपूर्ण शर्त है धर्म। धर्म सामाजिक स्तरीकरण के सोपानीय रूपी भारतीय विरासत का प्रमुख तत्व है, जिसके संरूपण एवं स्थायित्व के सोपानीय रूपी भारतीय विरासत का प्रमुख तत्व है, जिसके संरूपण एवं स्थायित्व की डोर सदैव सुदृढ़ बनी रही।[1] जब सृष्टि की संरचना के मूल तत्व के रूप में जीवन एवं जगत् के अस्तित्व को प्रधान माना गया तब जीवन जगत् के अन्तिम कारण पर विचार मन्थन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। फलस्वरूप मानव समुदाय को महत्वपूर्ण मान्यता प्राप्त हुई और एक मानव द्वारा दूसरे मानव के हितों की सुरक्षा के निमित्त मानवता की परिकल्पना

समृद्ध हुई।[2] मानवता के इस अरुणोदय पर वैदिक ऋषियों ने जीवन की अव्यवस्था को दूर करने के निमित्त सामाजिक मान्यतायें स्थापित की तथा अनेक धार्मिक उपचार निश्चित किये। इन्हीं उपचारों के अन्तर्गत मानव का मानव पर नियन्त्रण धार्मिक मान्यता पर आधारित किया गया ताकि उनके पारस्परिक अधिकार एवं उत्तरदायित्व एक दूसरे से बाधित न हों।[3]

ध्यातव्य है कि बौद्ध धर्म भारतीय आत्मा एवं गरिमा का प्रतिनिधि धर्म है। भारतीय परम्परा में अन्तस्थ आध्यात्मवादी एवं मानवतावादी चेतनायें बौद्ध धर्म की मानवतावादी अवधारणा के मूल स्तम्भ बिन्दु हैं। सत्य यह है कि इन्हीं चेतनाओं के आलम्बन पर यह धर्म मानव-धर्म के रूप का संधारण करने में सफल हो सका है। यही मानव धर्म अथवा कर्तव्य एक ओर अधिकार के लिये मानव की पात्रता सुनिश्चित करता है तो दूसरी ओर मानव को मानवीय अधिकार देने के लिए समाज को दायित्व बोध भी कराता है।[4] मानव धर्म के अभाव में मानवाधिकार भी एक छद्म ही है। बौद्ध धर्म मानव को उसके कर्तव्यों के प्रति सचेत करता हुआ उसे स्वावलम्बी होने का उपदेश देता है। जब शुद्ध हृदय एवं दयाभाव एक ही व्यक्ति में निहित हो जाते हैं तो वह व्यक्ति व्यक्तित्व की विराटता के कारण श्रद्धा का पात्र बनकर आराध्य बन जाता है अर्थात् परम पुण्य तत्व के अन्तर्निहित हो जाने के कारण ईश्वरीय पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है क्योंकि ईश्वर कल्पनातीत सत्ता न होकर मानवता के उच्चतम् शिखर पर सहअस्तित्व के परिवेश में सृजित मानवाधिकारों से युक्त के कारण मानव का चरम विकास ही है। बौद्ध धर्म की विचारधारा में यह आदर्श नैतिकवाद के आधार पर उन सिद्धान्तों को लेकर उठा था जो समग्र मानवता हेतु कल्याणकारी था।[5] बुद्ध का समानव धर्म किसी एक देश या एक काल की वस्तु नहीं है वह तो सार्वकालिक व सार्वदेशिक मानव-धर्म है जो संसार के सभी मनुष्यों में नैतिकता और आचार के नियमों के रूप में सदैव से मान्य रहा है और जिससे व्यक्ति शील-सम्पन्न बनता है तथा समाज भी व्यवस्थित रूप से विकास के पथ पर अग्रसर रहता है।

महात्मा बुद्ध का दर्शन सार्वकालिक है जो बुद्ध के पूर्व भी भारतीय धर्म ग्रन्थों में उपस्थित था, और उसके बाद के धर्म-ग्रन्थों तथा आज के जीवन में

भी किसी न किसी रूप में जैसे कि मानवता, सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सेवा आदि के रूप में विद्यमान है। इस दृष्टि से यह सनातन मानव-धर्म है।

वर्तमान समय में भी इसका व्यवहार आवश्यक है। आज के इस आधुनिक एवं संघर्षशील परिवेश में यदि हम बुद्ध के आदर्शों एवं सिद्धान्तों का सही-सही ढंग से पालन करें तो निःसन्देह विश्व में शान्ति व सद्भाव स्थापित हो सकता है और समस्त वैश्विक मनुष्यों के मानवाधिकारों की सुरक्षा भी हो सकती है।

संदर्भ

1. मजूमदार, आर० सी० राय चौधरी तथा के० के० दत्त, एन० एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1970, पृ० सं० 21-25।
2. मजूमदार, एस० के० चटर्जी, कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खण्ड प्रथम 1970, पृ० सं० 95-110।
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी, भारती सांस्कृतिक परम्परा, अमृत प्रभात, 7 जनवरी 1993।
4. मित्तल, ए० के० भारत का सांस्कृतिक इतिहास, खण्ड प्रथम, पृ० सं० 64।
5. तत्रैव।

60

वर्तमान युग में बुद्ध के मानव धर्म की उपादेयता

पंकज कुमार श्रीवास्तव

बौद्ध धर्म न केवल एक धर्म दर्शन है, अपितु राजनीतिक-सामाजिक संदर्भों से जुड़ने वाला यथार्थधर्मी विचार है। एक ऐसा विचार जहाँ से परिवर्तनकारी आलोचना के विवेक का निर्माण होता है। यद्यपि यह धर्म भारतीय परम्परा और संस्कृति के बीच उन कठिन समस्याओं से टकराकर बना था, जो पुरोहिती - सामंती गठजोड़ के परिणाम थे। कर्मकांड, यज्ञादि में बलिप्रथा, दान-प्रथा, जात-पात, ऊँच-नीच, भेद-भाव और अंधविश्वास के खिलाफ यह एक चुनौती भरा आह्वान था, जिसने भारतीय भूगोल का अतिक्रमण कर पूरे वैश्विक भूगोल पर अपना गहरा प्रभाव बनाते हुए सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूपान्तरण में अपनी महती भूमिका निभाई। कार्य-कारण के सिद्धान्त (प्रतीत्य समुत्पाद) और 'द्वादश निदान' एक वैज्ञानिक जीवन दशाष्टि है। बुद्ध ने मानव-दु:खों से पूर्ण निवृत्ति को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। मनुष्यों के दु:ख के कारणों एवं उनको दूर करने के उपायों के प्रचार-प्रसार में सर्वस्व समर्पित कर दिया। गौतम बुद्ध का विलक्षण व्यक्तित्व प्राणिमात्र के लिए करुणा, शान्ति तथा मृत्यु पर विजय पाने की दृष्टि से हृदय को स्पन्दित ही नहीं करता। बुद्ध का संदेश आज भी न केवल भारत में वरन् सम्पूर्ण विश्व में उतना ही सार्थक है जितना बुद्धकाल में।[1] उनके इस दृष्टिकोण ने ही बौद्ध धर्म को लोकप्रियता प्रदान की। बुद्ध का हृदय अत्यन्त उदार था। वे अजातशत्रु थे। बुद्ध सच्चे अर्थों में समदर्शी थे।[2] मानव जाति के लिए उनके हृदय में असीम

सहिष्णुता थी। उनका आचरण किंचित व्यंग्यमिश्रित सद्भावना विनय की अखण्ड अभिव्यक्ति था।[3] पाश्चात्य विद्वान बार्थ के अनुसार - 'बुद्ध का व्यक्तित्व शास्त्र एवं माधुर्य का सम्पूर्ण आदर्श है। वह अनन्त कोमलता, नैतिकता, स्वतंत्रता एवं पाप-साहित्य की मूर्ति है।[4]'

बौद्ध धर्म ने ही सर्वप्रथम विश्व को एक सरल तथा आडम्बररहित धर्म प्रदान किया। धर्म के क्षेत्र में उन्होंने सम्यक अहिंसा एवं सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। अशोक, कनिष्क हर्ष आदि राजाओं में जो धार्मिक सहिष्णुता देखने को मिलती है वह बौद्ध धर्म के प्रभाव का ही परिणाम था। अशोक ने युद्ध विजय की नीति का परित्याग कर धम्मविजय की नीति को अपनाया तथा लोक कल्याण का आदर्श समस्त विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। अशोक ने बौध धर्म की शिक्षाओं से ही प्रेरित होकर धम्म की विशद् व्याख्या की तथा प्रजा के नैतिक उत्थान एवं सभी प्रकार से उनके कल्याण के लिए तत्पर रहने का आदर्श प्रस्तुत किया। अशोक द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक कार्य बौद्ध धर्म से प्रभावित तथा मध्यमार्गी प्रतीत होते हैं।

बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक सम्पर्क विश्व के विभिन्न देशों के साथ स्थापित हुआ। भारत के भिक्षुओं ने विश्व के विभिन्न भागों में जाकर अपने सिद्धान्तों का प्रसार किया। महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से आकर्षित होकर शक, पार्थियन, कुषाण आदि विदेशी जातियों ने बौद्धधर्म को ग्रहण कर लिया। यवन शासक मिनेण्डर तथा कुषाण शासक कनिष्क ने इसे राजधर्म बनाया और अपने साम्राज्य के साधनों को इसके प्रचार में लगा दिया। अनेक विदेशी यात्री तथा विद्वान बौद्धधर्म का अध्ययन करने तथा पवित्र बौद्ध स्थलों को देखने की लालसा से भारत आये। फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग जैसे चीनी यात्रियों ने भारत में वर्षों तक निवास कर इस धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया। आज भी विश्व की एक तिहाई जनता बौद्धधर्म तथा उसके आदर्शों में अपनी श्रद्धा रखती है।

वर्तमान युग में आवश्यकता है कि विश्व को बौद्धधर्म के माध्यम से मैत्री, करुणा, बंधुत्व, समता, जीओ और जीने दो के अनुरूप शिक्षा दी जाये,

जिससे स्वार्थपरक राष्ट्रों और आतंकवादियों को शान्ति, अहिंसा और विश्व बन्धुत्व के मार्ग पर लाया जा सके।

संदर्भ

1. डॉ० रामवृक्ष वेनीपुरी, 'तथागत' (दो शब्द)।
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय, 'बौद्ध दर्शन मीमांसा'।
3. डॉ० राधाकृष्णन, गौतमबुद्ध, जीवन रूप दर्शन।
4. बार्थ, द रीलिजन ऑफ इण्डिया।

61
भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

संदीप कुमार सिंह

भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों पर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव दिखाई देता है जिनमें राजनीति, समाज तथा धर्म प्रमुख है।

सामाजिक जीवन में शाकाहारी भोजन का प्रचलन भिक्षु नियमों के अनुसार हुआ, जो अहिंसा को बल देता था। विशेष परिस्थितियों में बुद्ध के द्वारा मांस खाने में छूट प्रदान की गयी थी। ऐसा माना जाता है कि बुद्ध की मौसी के सर में पीड़ा होने पर, उन्होंने स्पष्ट किया कि यह पहले मांस खाने से ठीक होता था, बुद्ध ने उस परिस्थिति में मांस खाने की छूट दे दी थी। वर्तमान समय की भांति सामाजिक उत्सवों पर यदि मांस परोसा जाता था, तो वहाँ खाने की छूट थी।

जाति-पाति के बन्धन को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था क्योंकि बुद्ध के द्वारा अपने धर्म में भिक्षुओं के लिए इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। अतः जातीय भेदभाव जो समाज में अनेक बुराईयों की जड़ था, बौद्ध में उस पर अंकुश लगाने का प्रयास किया।

समाज में नारियों को विशेष दर्जा दिया जाने लगा। जिस प्रकार से बौद्ध धर्म की भिक्षुणियों को समाज में घूमने तथा संघ में सम्मिलित होने की छूट थी, ठीक उसी प्रकार नारियों का भी संघ बनने लगा था।

बौद्ध धर्म का प्रभाव हिन्दू धर्म पर भी विशेष रूप से पड़ा। हिन्दू धर्म में प्रचलित पुरोहितवाद का बोलबाला घटने लगा। यज्ञ और बलि व्यवस्था भी कम होने लगी। जीव हिंसा के प्रति घृणा लोगों में बौद्धों की अहिंसा नीति के कारण उत्पन्न हुई। बौद्ध धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव इस प्रकार पड़ा कि भगवान बुद्ध को विष्णु के दशावतारों में नौवां अवतार माना गया। हिन्दू मंदिरों

का निर्माण चैत्यों के आधार पर हुआ माना जाता है। मंदिर के चौखटें को स्तूप के तोरणद्वार पर अंकित प्रतीक चिह्नों के सहारे, देवांकन से सजाया जाने लगा। जिस प्रकार से चैत्यों के द्वार पर स्तम्भ निर्मित होते थे, उसी प्रकार हिन्दू मंदिरों के प्रवेश द्वार पर देव - ध्वज लगा मिलता है। जिस प्रकार से भारतीय संस्कृति में मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य तथा मृत्यु को सत्य माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी इसी मान्यता को स्वीकार किया जाता है।

भारतीय राजनीति पर भी बौद्ध धर्म के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। बौद्ध धर्म में गणराज्यों की शासन व्यवस्था निर्धारित की गयी। संघ की बैठक के समान ही गणराज्यों की बैठक बुलायी जाती थी। जिस प्रकार से गणमुख्य अनुशासन रखता था ठीक उसी प्रकार संघमुख्य भी अनुशासन को महत्व देता था। संघ में प्रत्येक व्यक्ति को बोलने की स्वतंत्रता थी। प्रत्येक व्यक्ति अपना विचार प्रस्तुत करने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र होता था। गणपरिषदों में भी यह स्तंत्रता विद्यमान थी।

जीवों पर दया (अहिंसा) बौद्ध धर्म का प्रमुख अंग था तथा भारतीय संस्कृति में भी इसे महत्व दिया जाता है। जिस प्रकार से सत्य, दया, करुणा, श्रद्धा, अहिंसा, नैतिकता आदि को भारतीय संस्कृति की आत्मा कहा जाता है उसी प्रकार बौद्ध धर्म में इसे विशेष स्थान प्रदान किया गया तथा इसके विकास के लिए निरंतर प्रयास किया गया। समाज में किसी भी व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी जाति से नहीं अपितु उसके आचरण से किया जाता है। बौद्ध धर्म की भी यही मान्यता है। इस धर्म में जाति-पाति, भेद-भाव न था, तभी बुद्ध ने कहा है कि '**जाति मत पूछो आचरण पूछो**'। बौद्ध धर्म में प्रतीक चिह्नों की पूजा के आधार पर ही हिन्दू धर्म में मूर्ति पूजा को बल मिला।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है।

सन्दर्भ

1. रीज डेविस, बुद्धिज्म।
2. ननिनाक्ष दन्त, स्प्रैड आफ बुद्धिज्म।
3. भरत सिंह, बौद्ध तथा अन्य भारतीय दर्शन।
5. डॉ० शिव स्वरूप सहाय, प्रा० भारतीय धर्म एवं दर्शन।

62
पालि निकायों में व्यापार
संचालन एवं संगठन

प्रीति तिवारी

पालि निकायों में व्यापार को जीविका के सभी साधनों से श्रेष्ठ माना गया है। इसमें बहुत कम काम करने और अनुशासन की विकट समस्याओं से प्राय: मुक्त होने से प्रचुर लाभ होता था।[1] स्वाभाविक है, इस ओर समाज के बहुसंख्यक प्राणी आकृष्ट हों, पर जैसा कि कई संदर्भों से स्पष्ट है, व्यापार उन लोगों के लिए लाभप्रद था जिनमें इसके अनुकूल आचरण करने और सूझबूझ की अपार क्षमता होती थी। साथ ही, व्यापार में पूँजी निवेश की क्षमता तथा महाजनों के बीच साख ऐसी होनी चाहिए कि व्यापार के लिए माल समय पर मिलने में कोई कठिनाई ना हो। व्यापार की सफलता के ये ही मूलमंत्र हैं जिनकी मीमांसा पालि निकायों के अनेक संदर्भों में की गई है। खरीद-बिक्री व्यापार के आधारभूत तत्त्वों में एक था और इसमें लगे लोग लाभ की कामना करते थे।[2] दूसरी ओर, यह व्यापार सभी के लिए वरदान बन कर नहीं आता। यह व्यापार किसी के लिए अधिक लाभप्रद, किसी के लिए संतुलित तथा किसी के लिए घाटे का सौदा होता है। फिर भी, शीघ्र समृद्ध होने की चाह सभी के मन में बनी रहती है और यही मनोदशा बुद्धकालीन उन व्यापारियों की है जो देश-देशान्तर में जाकर विभिन्न वस्तुओं का व्यापार करते थे।

पूंजी निवेश की क्षमता तथा व्यापारिक रूझान के कारण वैविध्यपूर्ण व्यापार प्रचलित था। कोई हथियार का व्यापार तो कोई सुंगधित द्रव, मांस, मदिरा और तरह के व्यापार समाज विरोधी मनोवृत्ति वाले हैं, अतः इन्हें त्याज्य

समझना चाहिए। व्यापार की सफलता के लिए कतिपय अर्हताएँ निश्चित की गई थीं। अंगुत्तरनिकाय इस क्षेत्र में उस व्यक्ति को सफल मानता है जिसमें तीन विशेषताएँ एक साथ परिलक्षित होती हैं– दृष्टि सम्पन्नता अर्थात किस वस्तु की कितने मूल्य में खरीद एवं बिक्री की जाये, क्षमता सम्पन्नता अर्थात *प्रत्येक खरीदी और बेची जाने वाली वस्तु में लाभ के प्रतिशत का ठीक-ठीक* पूर्वानुमान कर लेना तथा दृढ़ विश्वासी होना व्यापारी का अंतिम और सबसे विशिष्ट गुण होता था। व्यापारिक लेन-देन से उपजी साख, सफलता के लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार करती है। जब कोई व्यापारी किसी दूसरे को माल देते समय उसकी साख का विश्वास कर सके और जब वह कोई वस्तु किसी से लेता है तो उसी साख का विश्वास सभी करें।[4]

व्यापार के संचालन के लिए कोई एक निश्चित केन्द्र नहीं होता था। व्यापारियों का कर्त्तव्य है कि जिस प्रदेश में लाभ की संभावना हो वहाँ जाकर लाभ कमायें। वहाँ क्षेत्र की भौगोलिक अनुकूलता-प्रतिकूलता की परिभाषायें मिट जाती हैं, व्यापार का उद्देश्य लाभार्जन मात्र ही रह जाता है।[5] 'दीघनिकाय से ज्ञात होता है कि गाँव के बाजार (गामपट्ट) में भी जब व्यवसायिक बुद्धिवाला व्यापारी जाता था तो किसी वस्तु की खरीद बिक्री में लाभांश कितना है, इसका आपस में गहराई से विमर्श करता था।[6] एक अन्य जातक से यह विदित होता है कि जब फेरी लगाने वाले किसी नगर में प्रविष्ट होते थे तो अपना माल बेचने के लिए आपस में नगर की गलियों को बाँट लेते थे। इससे दोनों को समान रूप से लाभ होते थे।[7] इससे प्रतीत होता है कि व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता की भावना होते हुए भी आपस में भाईचारे एवं सहयोग की भावना का लोप नहीं हुआ था। व्यवसायिक बुद्धिवाला व्यक्ति मामूली वस्तु को बेचते हुए भी धीरे-धीरे सम्पन्न हो जाता है। किसी वस्तु को बेचने के क्रम में हुए लाभांश से उत्साहित हो कर पुनः किसी दूसरी वस्तु को बेचने का निरन्तर प्रयास करता है तथा इसकी जब पुनरावृत्ति होती है तो उसमें लाभांश सुरक्षित करता है। यही क्रम यदि कुछ दिनों तक चला तो व्यक्ति को समृद्ध होने में कोई अड़चन नहीं आती।[8]

व्यापार के समुचित संचालन के लिए व्यावसायिको में एक सीमा तक

नैतिकता का होना आवश्यक है। व्यापारिक माल की खरीद के लिए होड़ में यदि किसी व्यापारी द्वारा पूर्व में ही अग्रिम दिया गया हो तो उस समझौते के विरूद्ध कोई अन्य व्यापारी अपन दावा प्रस्तुत नही कर सकता था। प्राय: इस व्यापारिक आचरण का सभी समर्थन करते थे।[9] सेट्ठि वणिज जातक से हमें सूचना मिलती है कि उस समय स्थानीय उत्पादनों को बड़े-बड़े शहरों में भेज दिया जाता था या उन्हें बाजार तथा कस्बों में थोक विक्रेता खरीद लिया करते थे। वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण मांग और पूर्ति के आधार पर किया जाता था।[10] जातकों के अनुसार राजा किसी भी वस्तु को क्रय करने के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करता था, जिसे 'अंगरखा' कहा जाता था। मूल्य निर्धारण कर यह कार्य आर्थिक स्थिरता बनाये रखने के लिए किया जाता था। जातकों के अनुसार उक्त राज्याधिकारी (अंगरखा) विभिन्न वस्तुओं पर 'लेवी' लगाने का भी कार्य करता था।[11] व्यापारिक घराने अधिकारी को भ्रष्ट करने से नहीं चूकते थे तथा भाँति-भाँति के उपहार दे कर अन्य व्यापारियों के माल की तुलना में अपने मान की कीमत ज्यादा बढ़ावा देते थे। इस प्रकार, व्यापारिक लेन-देन में कतिपय उच्च्व आदर्शों के होते हुए भी व्यापक पैमाने पर भ्रष्यचार फैला हुआ था।[12]

विनिमय व्यापार की परम्परा बुद्ध युग में मुद्राओं की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ सिमटने लगी। राइस डेविड्स के अनुसार सोने के सिक्कों का भी प्रचलन इस समय तक न था। विनिमय में सोने-चाँदी की सिक्कों के रूप में नहीं किन्तु विनिमय माध्यम के रूप में अवश्य प्रयोग किया जाता रहा है।[12] व्यापार विनिमय में वस्तु की कीमत का समान होना आवश्यक है। एक जातक में शराब के बदले स्वर्णाभूषणों को लेने की चर्चा की गई है जो समान्य विनिमय का एक प्रकार हेते हुए भी विपरीत व्यवहार को दर्शाता है।[13] यदि किसी व्यापारी का कोई विश्वासपात्र मित्र होता तो वह उसके पास सैकड़ो गाड़ियों में माल भरकर भेजता था और उसके बदले अपनी बिक्री के लिए दूसरा माल मंगवा लिया करता था।[14] अत: विनिमय व्यापार में जहाँ वस्तु की कीमत में समानता का होना आवश्यक था, वहीं उसमें परस्पर विश्वास और साख का होना भी एक अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत था।

बुद्धकालीन अर्थव्यवस्था में साझा व्यापार का अपना एक विशिष्ट महत्त्व था। पूँजी समान मात्रा में लगाना और लाभ एवं हानि में साथ-साथ रहना इस प्रकार के व्यापार की पहली मुख्य शर्त हुआ करती थी। यह किन्तु, कभी एक पक्ष दूसरे पक्ष से कहीं ज्यादा मुनाफे का अंश हड़प लेना चाहता था। इस व्यापार के प्रतिकूल आचरण का धोतक था और इसी से इसका अन्त भी होता था।[15]

बुद्धकालीन अर्थव्यवस्थ में दूसरों को कर्ज देने की एक व्यावसायिक परम्परा का पता चलता है। यद्यपि, कर्ज देने सम्बन्धी किन्ही शर्तों का उल्लेख तो नहीं मिलता, पर ब्याज पर रूपयों के लेन-देन के प्रमाण मिलते हैं। यद्यपि कितना ब्याज दिया जाता था, इसका सही तथ्य प्राप्त नहीं होता, किन्तु 18 प्रतिशत की दर पर धन दिया गया था ऐसा उल्लेख मिला है।[16] कर्ज का क्षेत्र बहुत व्यापक था। नगरों में रहने वाले समृद्ध सेठों का यह एक पारम्परिक व्यवसाय बन गया था। गाँवों में बसने वाले अनेक लोग इनसे बतौर कर्ज एक निश्चित धनराशी लेते थे, जिसकी उगाही के लिए वे बराबर गाँवों का दौरा किया करते थे।[17] इससे इस बात का संकेत मिलता है कि कर्ज का लेन-देन सदा सुरक्षित नहीं था। यदि कर्जदाता पिता धन की उगाही किये बगैर मर गया था तो माता अपने पुत्र को इसकी उगाही के लिए प्रेरित करती थी जिससे कर्जदार व्यक्ति बेईमानी न कर सके।[18] एक अन्य उल्लेख के अनुसार पिता की मृत्यु हो जाती तो उसका पुत्र उस व्यवसाय को संभालता था, पर किसी भी सूरत में पिता द्वारा दिये गए कर्जों की उगाही के लिए वह प्रयास करता रहता।[19] प्राप्त विवरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि व्यापार में प्रथम चरण में पूँजी लगाने के लिए व्यापारी को कर्ज देने वाली कोई सरकारी संस्था अभी तक अस्तित्व में नहीं आयी थी। ऋण की पूँजी प्रथम चरण में जहाँ उत्साहवर्द्धन का कार्य करती है, वहीं समय पर नहीं लौटाने पर यह स्थायी दु:ख का और मानसिक वेदना का कारण भी बनती है।[20]

पालि निकायों में सार्थवाह की बड़ी रोचक सूचनायें प्राप्त होती हैं। यह व्यापारियों का वह समूह था जो देश-देशान्तर की यात्रा करके अपना माल बेचा करता था। जिस समूह में पाँच सौ व्यापारियों की संख्या रहती उसे

'महासकट सत्थो' कहा जाता और ये सारी यात्राएँ सुरक्षा की दृष्टि से समूह रूप में की जाती थीं। पालि निकायों में सार्थवाहों के ऐसे छः परिवारों का उल्लेख है जो समूह में व्यापार करते थे और अपने-अपने दल के नेता होते थे[21] जिनका व्यापारिक समुदाय में विशेष सम्मान था। इनमें व्यापारिक लाभ की तीव्र भावना होती जिससे वे मरूभूमि के दुरूह मार्ग को भी पार करने के लिए उत्साहित रहते थे।[22] जब अपने लक्ष्य पर सार्थवाह पहुँचता तो सामान को दुगने-तिगुने दाम पर बेचकर भी मुनाफा कमाते थे और अपने घर को *खुशी-खुशी लौटते थे।[23] सार्थवाहों के दल का मुखिया पथ-प्रदर्शक का कार्य* करता था।[24] वह जंगल से गुजरते समय सभी व्यापारियों को जंगल की विषैली वनस्पतियों की जानकारी देता था तथा यह निर्देश देता था कि उसकी अनुमति के बिना दल का कोई आदमी किसी फल को नहीं खाये।[25]

बुद्ध के युग में व्यापारिक एवं व्यवसायिक दृष्टि से काफी उन्नति हो चुकी थी। जातकों में विभिन्न प्रकार के व्यापारिक मार्गों का उल्लेख किया गया है, उत्तर-दक्षिण-दक्षिण, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण-पूर्व, पूर्व पश्चिमी आदि अनेक मार्गों का विवरण प्राप्त होता है जिनसे स्पष्ट होता है कि व्यापारिक समृद्धि के लिये यातायात-साधनों का पर्याप्त प्रबन्ध था।[26] व्यापारी बड़ी भवों में बिक्री हेतु वस्तुओं को भरकर प्रस्थान करते थे तथा साथ में लिया गया एक तटरक्षक पक्षी (तीरदस्सि सकुणं, उनके सामुद्रिक मार्गों का पथ-प्रदर्शन करता था।[27] कभी-कभी इस पक्षी (दिशा काक) द्वारा उनहें तट की भ्रामक सूचना मिलती थी जिससे उनके जहाज डूब जाते और वे अकाल मृत्यु को प्राप्त होते थे।[28] जल परिवहन के लिए उपयुक्त नदियों में गंगा-यमुना, अचिरवती, सरयु, मही आदि का उल्लेख हुआ है और इन्हीं के क्रम में समुद्र की भी चर्चा करके समुद्र व्यापार की पूरी संभावनाओं पर विचार किया गया है।[29] जातकों में भारूकच्छ (भड़ौच) की यात्रा करने वाले व्यापारियों का उल्लेख हुआ है जो धन कमाने की इच्छा से इन खतरनाक सामुद्रिक मार्गों को तय करते थे। जिन व्यापारियों की नावें मकरों की शिकार हो जाती उनके धन कमाने के सपने चूर-चूर हो जाते थे।[30] एक जातक के अनुसार, माता द्वारा दी गई एक हजार की चैली से पुत्र ने कुछ ही दिनों में लाख रुपए आसानी से कमा लिये

तथा अपनी सफलता से उत्साहित होकर वह समुद्र व्यापार योजना लेता जिसका उसकी माता इसलिए विरोध करतीं थी कि सामुद्रिक व्यापार करना सदा असुरक्षित होता था।[31] फिर भी, इसमें क्षेत्रीय व्यापार की तुलना में अधिक लाभ होता था। इसलिए, कुछ साहसी व्यापारी अपनी नावों को माल से भरकर स्वर्णभूमि की यात्रा करते थे।[32] सामुद्रिक व्यापार के लिए प्रस्थान करने वाले व्यापारियों के दल में पाँच सौ व्यापारियों का झुंड रहता था जिसे कभी-कभी लगातार सात दिनों तक यात्रा करने के पश्चात् भी किनारा दिखायी नहीं देता। उनकी नौकायें टूट जाती और सभी मगरमच्छों द्वारा लील लिये जाते थे।[33] पिता के मरने के बाद ज्येष्ठ पुत्र नाविक बनकर सामुद्रिक मार्ग में अपने दल का नेतृत्व करता था।[34] प्रतीत होता है कि समुद्र व्यापार करने वाले नाविकों की एक स्थायी परम्परा विकसित हो चुकी थी जो इस व्यापार में अपनी परिवारिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर गहरी अभिरूचि का परिचय देते थे। अनेक कष्ट उठाते हुए जो धन कमाने में सफल होते थे वे वापस लौटकर सुखी जीवन व्यतीत करते थे।[35]

सामुद्रिक व्यापार की तुलना में स्थल व्यापार को अधिक सुविधाजनक, हानिरहित और लोकप्रिय माना गया था। नगरों को जोड़ने वाले अनेक राजपथ थे। व्यापारियों द्वारा चिरकाल से इन राजपथों का उपयोग हाता था। ये राजपथ सभी के आवागमन के लिए उपयोगी थे।[36] दीघनिकाय स्पष्ट रूप से पाटलिपुत्र का उल्लेख 'वणिकपथ' के रूप में करते हुए इसे सभी नगरों में श्रेष्ठ कहता है।[37] स्थल मार्गों से पाँच-पाँच माल से लदी गाड़ियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती रहती थीं।[38] कभी इस संख्या में वृद्धि होती और यह करीब एक हजार तक पहुँच कर पूर्वी जनपद से पश्चिमी जनपद की ओर प्रस्थान करती थीं। काफिले को मार्ग में बड़ी असुविधाओं का सामना करना होता।[39] जब पाँच सौ माल से लदी गाड़ियाँ राजपथ होकर गुजरती तो किसी स्थान पर सभी गाड़ियाँ फंसकर जाम हो जाती थीं। यह व्यापारियों के लिए बहुत घाटे का सौदा होता था और माल को मजबूरन उतारक सस्ते-सस्ते दामों पर बेचना पड़ता था।[40] विनयप्टिक में राजपथ से गुजरने वाले व्यापारियों के साथ यात्रा करना निरापद माना गया था।[41] देश के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में दैनिक

उपभोग की वस्तुओं का व्यापार मुख्य रूप से स्थल मार्ग के जरिये ही किया जाता था। जातकों में स्थल मार्ग से व्यापार करने सम्बन्धी सूचनायें बहुत ज्यादा हैं। वाराणसी तत्कालीन व्यापारिक जगत का एक आकर्षक केन्द्र माना जाता था। प्रत्येक दिशा के व्यापारिक मार्ग यहाँ से होकर गुजरते थे।[42] पूरब से पश्चिम जाने वाले मार्ग को जातकों में 'पुत्बन्ता अपरान्तं' कहा गया है।[43] पूर्वी भारत का चम्पा एक महान व्यापारिक केन्द्र था और यहीं से व्यापारियों का दल सुवर्ण भूमि के लिए प्रस्थान करता था।[44] एक स्थल मार्ग इसे मिथिला से जोड़ता था।[45] वाराणसी को एक व्यापारी का नाम कप्पट था जो मिट्टी के बर्तनों को खच्चर पर लादकर तक्षशिला जाता था।[46] स्थल मार्ग से वाराणसी अपने समकालीन प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों से जुड़ी हुई थी।[47] विदेह से गान्धार प्रदेश जाने वाला मार्ग भी था।[48] यह मार्ग अधिकतर नदी मार्ग से होकर गुजरता था और वाराणसी होकर आगे जाता था। जातको में उत्तरापथ से तक्षशिला होकर एक लम्बा मार्ग जाता था जो मध्येशिया और पश्चिमेशिया के साथ भारत का संपर्क स्थापित करता था।[49] यह मार्ग राजपूताने की मरूभूमि (कन्धार) से होकर गुजरता था तथा 60 योजन चौड़ा था।[50]

बुद्धकालीन अर्थव्यवस्था में औद्योगिक क्षेत्र में न्यूनायिक रूप में संगठन की एक स्थायी प्रवृत्ति का विकास हो चुका था, पर व्यापारियों एवं सौदागरों के समूह में इस प्रकार की संगठनात्मक प्रवृत्ति का प्रायः आभास ही दीखता है।[51] इस काल में व्यापारियों के संगठन के मूल में वंश-परंपरा और व्यापारिक संस्थाओं में जेट्ठक परम्परा की सूचना प्राप्त होती है।[52] महाबणिज जातक से इस आशय की सूचना प्राप्त होती है कि अनके देशों के व्यापारी अपनी एक समिति जो संगठन का एक अस्थायी विकल्प है, बनाकर व्यापार करते थे। दुरूह मरूस्थल को पार करते समय बिना पानी के असीम कष्टों को झेलते हुए जब किसी महावृक्ष की छाया में आते थे तो अपनी थकान मिटाकर फिर आगे की यात्रा आरम्भ करते थे।[53] संस्था या सगंठन का दायित्व उससे जुड़े व्यक्तियों के हितों की रक्षा करना होता है। पालि निकायों में ऐसे किसी भी संगठन का पता नहीं चलता।[54] ऐसी स्थिति में व्यापार में लाभ अपनी क्षमता एवं परिस्थितियों पर निर्भर था। अपने माल का मूल्य भी व्यापारी स्वयं निश्चित करता था।[55]

उपयुर्क्त संदर्भ में संकेत दिया गया है कि किसी क्षेत्र के लिए प्रस्थान करने वाले व्यापारी आपसी तालमेल के आधार पर भावी संकटों से जूझने हेतु एक समिति का गठन करते थे जिसकी वैधता यात्रा की समाप्ति काल तक बनी रहती थी। ऐसी भावना से तात्कालिक उद्देश्य तो सफल होता था, किन्तु किसी स्थायी संगठन की पृष्ठभूमि नहीं बन पाती थी।[56] प्राचीन पालि निकायों एवं जातकों में जिन सार्थवाहों का उल्लेख है, उनमें व्यापरी वर्ग अपने वरिष्ठतम एवं अनुभवी सदस्थ को सुरक्षा की जिम्मेदारी सौंपते थे और उसके प्रत्येक आदेश को तब तक मानते थे जबतक यात्रा सम्पन्न न होती थी। इसे आपसी तालमेल पर आधारित एक अथायी संगठन से ज्यादा कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[57] विनय पिटक तथा पालि निकायों के कतिपय संदर्भो में असुरक्षित राजमार्गों में जान-माल की सुरक्षा हेतु तात्कालिक संगठन पर बल दिया गया है। इसप्रकार व्यापारियों में संगठन या अन्य किसी भी प्रकार के तालमेल की स्थिति अवसर प्रधान हुआ करती थी।[58]

वस्तुत: बौद्धकालीन भारत एक आर्थिक समृद्धि का युग था तथा व्यापार उसका मूलाधार। व्यापार एवं वाणिज्य के इतने विकसित रूप के पीछे केवल कालक्रम ही उत्तरदायी नही था। बौद्ध धर्म अपने आविर्भाव के साथ व्यापार के क्षेत्र में भी नवीन विचार लेकर पैदा हुआ था। बौद्ध परम्परा में व्यापार एवं वाणिज्य को वूर्णत: धर्मेत्तर कार्य माना गया है जिसका उद्देश्य लौकिक परिप्रेक्ष्य को अधिक पुष्ट करता है तथा अर्थ को सामाजिक एवं राजनैतिक प्रगति के प्रमुख आधार के रूप में उल्लिखित करता है। जहाँ प्राचीन वैदिक कालीन (ब्राह्मणीय) ऋण एवं सामुद्रिक यात्रा सम्बधी वर्णनाएं नहीं थी। तत्कालीन प्रभावस्वरूप ही गौतम जैसे विचारकों ने जहाँ धर्म की व्याख्या की है वहीं अर्थ को भी छोड़ा नहीं। उसे समाज का एक अंग मानकर संबंधित विचारों को नई दिशा देते रहे। आचार्य पाणिनी की अष्ट्यध्यायी में भी व्यापार की महत्ता व्याख्यायित है। बौद्ध साहितय में हमे व्यापार के नियमों से संबंधित परिष्कृट विचार देखने को मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथों एवं जातकों में वर्णित ये आर्थिक विचार प्रगति की महान भूमिका अदा करते हैं तथा सांस्कृतिक प्रगति की पुष्ट आधारशिला प्रदान करते है। आगे चलकर यही विचार स्मृतियों में नियम के रूप में परिणत हो गये। कालान्तर में, कौटिल्य जैसे विचारकों ने इस आर्थिक

-व्यापारिक नियमों एवं निर्देशों को साम्राज्य की प्रगति के एक प्रमुख आधार के रूप स्थापित किया।

सन्दर्भ

1. म० नि० द्वि०, पृ० 470।
2. दी० नि० प्र०, पृ० 71।
3. अं० नि० दि०, पृ० 434।
4. अं० नि० प्र०, पृ० 107।
5. म० नि० वृ०, पृ० 24।
6. दी० नि० द्वि०, पृ० 260।
7. जा० प्र० खं० सारिवाणीज जा० पृ० 190।
8. वही चुल्लसेट्ठी जाप०, पृ० 203 और आगे।
9. जा० प्र० खं० चुल्लसेट्ठी जा० पृ० 204।
10. सट्टिपणिज जातकं-जातकट्ठकथा पृ० 78।
11. रिज् डविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० 100-101।
12. वही, पृ० 100।
13. जा० प्र० एवं वारुणी जा०, पृ० 373 और आगे।
14. वही अलत जा० पृ० 534 और आगे।
15. जा० प्र० खं० कूत्त्वाणिज जा पृ० 570।
16. रिज० डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डियाप, पृ० 101।
17. जा० तृ० खं० कक्कटल जा० पृ० 65 और आगे।
18. जा० तृ० खं० सत्तपत्त जा०, पृ० 108।
19. वही मच्छुद्दान जा० पृ० 143।
20. दी० नि० प्र०, पृ० 63।
21. अं० नि० तृ०, पृ० 83।
22. जा० प्र० खं० अपण्णक जा० पृ० 176 और आगे।
23. वही, वृ० 181।
24. वही वण्णुपथ जा० पृ० 186 और आगे।
25. वही क० जा०, पृ० 398।
26. दिज् डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 103, 104।
27. दी० नि० प्र० पृ० 189 विस्तार प्रवीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 318 और आगे।
28. देखिये किक रिचर्ड द सोशल आर्नोनाइजेशन इन नार्थ इंडिया बुद्धज टाइम, पृ० 269
29. अं० नि० तृ०, पृ० 307।

30. भरुकच्छा पलाचानं बणिजानं धनेसिलं, मकरेहीवभदा नावा फलफेलाहमत्लणि ना० तृ० सुसान्धि जा० पृ० 350।
31. जा० चतुर्थ चतुद्वार, जा०, पृ० 204।
32. वही, सड्रष जा० पृ० 218।
33. जा० पंचम पण्डर, जा० पृ० 218।
34. जा० चतुर्थ, सुत्पारक जा० पृ० 337 और आगे।
35. जा० पंचम, सुधा भोजन जा०, पृ० 485, जा० 53।
36. वागले नरेन्द्र : सोसाइटी एट दी टाइम आफ दि बुद्ध।
37. दी० नि० द्वि०, पृ० 70, 71।
38. वही, पृ० 100।
39. दी० नि० द्वि०, पृ० 255।
40. जा० प्र० खं० कण्ड जा० पृ० 301।
41. प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 322 और आगे।
42. मेहता : प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 225।
43. प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 324।
44. जा० षष्ट, पृ० 34 और आगे।
45. वही, पृ० 32।
46. बुद्धिस्ट लीजेंट्स, पार्ट, 1, पृ० 77।
47. प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, अध्याय नवम, संदर्भ पथपरिवहन।
48. जा० तृ०, पृ० 365।
49. जा० पंचम, पृ० 290।
50. मेहता, प्री० बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० 226।
51. वही, पृ० 216।
52. प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 332।
53. जा० चतुर्थ, महावाणिज जा०, पृ० 558।
54. प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 332।
55. वही।
56. प्राचीन पालि साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 333।
57. वही, पृ० 333।
58. वही, पृ० 334।

63

शुंग-सातवाहन काल में श्रमण परम्परा का सातत्य

स्तुति श्रीवास्तव

ध्यातव्य है कि शुंग सम्राट ब्राह्मण परम्परा के पोषक थे तथापि उन्होंने बौद्ध तथा जैन धर्म के साथ उदारता की नीति अपनायी। मौर्यों के शासन काल में बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में हुआ।[1] यद्यपि शुंग काल में वैदिक आदर्शों एवं यज्ञ विहित मान्यताओं को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया, तथापि वैदिक युग का जीवन एवं संस्कृति अपने पहले रूप में कभी वापस नहीं आ सकते थे और न ही बौद्ध एवं जैन विचार जड़ से मिट सकते थे।[1]

पुनरूद्धार युग के पौराणिक, बौद्ध तथा जैन सभी मार्गों में एक नयी प्रेरणा और नये आदर्श दिखलायी देते हैं। उस नयी प्रेरणा में पुराने वैदिक और बौद्ध आदर्शों की परम्परा प्राप्त होती है। शुंग काल में यदि एक ओर शास्त्रों द्वारा दिग्विजय कर बड़े राज्य स्थापित करने के आदर्श का पुनरूद्धार हुआ तो दूसरी ओर अशोक के धम्म विजय की नीति अर्थात् शान्ति द्वारा एकता स्थापित करने की प्रेरणा भी अपना काम कर रही थी। प्रसिद्ध भरहुत स्तूप का तोरण शुंगों के राज्यकाल में ही बना था।[2] बौद्ध धर्म में इस समय अनेक प्रकार की पूजा प्रचलित थी। बुद्ध की पूजा, चैत्यगृह, धर्मचक्र, शरीर अवशेष की पूजा इत्यादि। भरहुत स्तूप पर अनेक प्रकार के वृक्षों का अंकन पाया जाता है।[3] किन्तु उनमें प्रायः वे ही वृक्षदर्शित किये गये हैं, जिनका संबंध ध्यानी बुद्धों[4] से था। साँची तथा अमरावती में भी चैत्यवृक्षों की पूजा के प्रभाव उपलब्ध होते है।[5] भरहुत में भी शरीर अवशेष की पूजा अंकित दिखायी देती है।[6] धर्मचक्र

की पूजा का भी प्रचलन ज्ञात होता है।[7] शुंगों के समय में सर्वास्तिवादी, महासांधिक आदि सम्प्रदाय बहुत उन्नति पर थे।[8] डॉ० अजय मित्र शास्त्री के अनुसार अशोक के समय में ही बौद्धों के अट्ठारह सम्प्रदाय हो चुके थे।[9] शुंगकाल में इनका प्रभाव स्वाभाविक था। बौद्ध धर्म की ही तरह जैन धर्म भी इस समय विकसित हो रहा था। कलिंग नरेश खारवेल परम जैनी था। उसने उदयगिरि पर जैन भिक्षुओं ने निवास के लिए एक विशाल गुहा का निर्माण कराया था।[10] इस काल में उज्जैन तथा मथुरा जैन धर्म के प्रधान केन्द्र थे। **उज्जैनाधिपति गर्दभिल्ल** जैन धर्म का अनुयायी था। इसी प्रकार मथुरा के जैन संघ अपना स्वतंत्र संगठन बनाकर जैनमत का प्रचार करते थे। बौद्धों की तरह ये स्तूपों का निर्माण करते थे तथा उनकी पूजा भी करते थे। इस परम्परा में एक जैनमूर्ति का निर्माण मगध में हुआ, जिसे कलिंग नरेश खारवेल उठाकर अपनी राजधानी ले गया।[11]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि यद्यपि शुंगकाल में भागवत धर्म का प्रभुत्व था, तथापि अनेक स्थानों पर जैन धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे। खारवेल का हाथी गुफा अभिलेख[12] **'नमो अरहतान'** से प्रारम्भ होता है। उसकी पटरानी के मंचपुरी मुहालेख से विदित होता है कि उदयगिरि की पहाड़ियों पर कलिंग देश के जैन भिक्षुओं के लिए गुहाओं का निर्माण कराया गया था। अभिलेख से प्रमाणित होता है कि ईस्वी सन् के आरम्भ से मथुरा में जैन धर्म का अधिक प्रचार हुआ। मथुरा के कंकाली टीला तथा अन्य स्थलों से बहुसंख्यक जैन प्रतिमाएं मिली हैं। **मथुरा के आयागपट्ट[13] तथा जैनमूर्ति लेख[14] प्रायः नमो अरहतो वर्धमानस से प्रारम्भ होते हैं।** रूद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख में जरामरण से युक्त होकर कैवल्य ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है।[15]

इसी क्रम में **इक्क्षवाकुवंशी-नरेश श्री वीर पुरुष दत्त का नागार्जुनी कोण्ड अभिलेख (वर्ष 18)** विवेच्य काल खण्ड का एक ऐसा अभिलेख है जिसमें एक ही परिवार में बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म दोनों को समान रूप से प्रतिष्ठित दिखाया गया है। वीर पुरुष दत्त के पिता श्री चन्तिमूल जहाँ एक और अग्निष्टोम, अग्निहोत्र, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञों को सम्पादित कर रहे हैं, साथ ही हिरण्य, शतसहस्त्र गाय, शतसहस्त्र हल भी प्रदान कर रहे हैं, (हल प्रदान

करने का यह प्रथम साक्ष्य है, जो तत्कालीन समाज में कृषि की प्रधानता द्योतित करता है) वहीं दूसरी ओर वीर पुरूष दत्त की भार्या वघी श्री (जो उसकी सगी फुफेरी बहन थी) ने नागार्जुनीकोण्ड स्थित स्तूप की मरम्मत करवायी और शैल स्तम्भ स्थापित करवाया।[16]

इससे ज्ञात होता है कि वहाँ अपर महावन शैल नामक कोई बौद्ध सम्प्रदाय था; उसके आचार्य वहाँ पंचमात्रकों अर्थात् बौद्ध-निकायों को पढ़ते-पढ़ाते थे।

इन अभिलेखिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म के उत्थान के साथ ही श्रमण धर्म को नकार पाना राजाओं के लिए सम्भव न था, क्योंकि बौद्ध एवं जैन धर्म की जड़ें इतनी गहरी थीं कि प्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण परम्परा का सम्वाहक होने का दावा करने वाले सातवाहन भी श्रमण धर्म के भी उन्नायक दिखाई देते हैं। गौतमी पुत्र शतकर्णी तथा वाशिष्ठी पुत्र पुलुमावी के अभिलेख भी राजमाता गौतमी बल श्री द्वारा बौद्ध भिक्षुओं के निमित्त भूमिदान एवं गुहादान का उल्लेख करते हैं।[17] सातवाहनों का बौद्धों के प्रति सम्मान एवं अनुग्रह का भाव अनुवर्ती अभिलेखों से भी प्रमाणित है।[18]

वस्तुतः धर्म के क्षेत्र में व्याप्त सैद्धान्तिक मतभेद तथा तज्जनित साम्प्रदायिक विरोध के होते हुए भी प्राचीन भारतीय संस्कृति अधिकांशतः धर्म-सहिष्णु और सर्व-धर्म-सम्वर्धक ही रही है।

सन्दर्भ

1. त्रिपाठी सच्चिदानंद, शुंगकालीन भारत, पृ० 126.
2. हुल्ज, भरहुत इंस्क्रिप्शंस, इण्डियन एण्टिक्वेरी 21, पृ० 27.
3. कनिंघम, स्तूप ऑफ भरहुत, पृ० 13, चित्र 1-4.
4. फर्गुसन, ट्री एण्ड सरपेट वर्शिप, फलक, 25-26, 27-28.
5. वही, फलक 98.
6. कनिघंम, स्तूप ऑफ भरहुत, फलक 16.
7. वही पृ० 4, फलक 31-35.
8. विद्यालंकार, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग-1, पृ० 382-83.
9. शास्त्री अजय मित्र, बुद्धिस्ट स्कूल ऐज नोन फ्रामअर्ली इण्डियन इंस्क्रिप्शन, भारती, अंक-2, पृ० 27.

10. जायसवाल, के०पी० एवं बनर्जी, द० हाथी गुम्फा इं० ऑफ खारवेल, एपि० ई० 20, पृ० 72.
11. विद्यालंकार, भा० इति० की रूपरेखा, भाग-2, पृ० 72-44.
12. सरकार डी० सी०, सलेक्ट ई०, खंण्ड-1, पृ० 213.
13. एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड-2, पृ० 199; वही खण्ड-9, पृ० 243-44.
14. वही, खण्ड-1, पृ० 396; वही खण्ड-2, पृ० 199.
15. सरकार डी० सी०, सलेक्ट इं०, खण्ड-1, पृ० 183.
16. गोयल श्रीराम, प्रा० मा० अभि० सं० भाग-1, पृ० 466.
17. सरकार स० ई०, पृ० 197-202.
18. वही, पृ० 21.

64

बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्यों का चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्ध

माधवेन्द्र तिवारी

ज्ञान - प्राप्ति के पश्चात् गौतम बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश ऋषिपत्तन (सारनाथ) में दिया। इस प्रथम उपदेश को 'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' (धम्मचक्कापवत्तन) की संज्ञा दी जाती है। यह प्रथम उपदेश दु:ख, दु:ख के कारणों तथा उनके समाधान से सम्बन्धित था। इसे 'चार आर्य सत्य' (चतारि आरिय सच्चानि) कहा जाता है। जिसके सम्बन्ध में कर्न महोदय ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि चार आर्य सत्यों का सिद्धान्त बौद्ध धर्म के अन्तर्गत चिकित्सा विज्ञान से ग्रहण किया गया है। अभिधम्म कोष व्याख्या के व्याधि सूत्र में तथागत की तुलना भिषक से की गयी है और आर्य सत्यों को वैद्यक के चार अंगों से ये चार अंगों से ये चार आर्य सत्य चिकित्सा के इन चार अवस्थाओं के समतुल्य कहा गया है।

1. रोग, 2. निदान, 3. स्वस्थता, 4. उपचार

डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने भी इस आशय का विचार व्यक्त किया है।[1] स्पष्ट है कि बुद्ध ने जिन्हें कहीं-कहीं महावैद्य कहा गया है, दु:खमय जीवन को एक व्याधि के रूप देखा और उनकी प्रणाली स्वभावत: इस व्याधि का उपचार करने वाले वैद्य की हो गई -

(1) दु:ख - प्रथम आर्य सत्य दु:ख का सम्बन्ध चिकित्सा विज्ञान में रोग से किया गया है। इस प्रकार बुद्ध ने सर्वं दु:खं, दु:खं के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जन्म भी दु:ख है, जरा भी दु:ख है, व्याधि भी दु:ख है, मृत्यु

भी दुःख है, अप्रिय मिलन एवं प्रिय वियोग भी दुःख है, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति और अनिच्छित वस्तु की प्राप्ति भी दुःख है।[2] डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने इस प्रथम आर्य सत्य दुःख का बुद्ध के उपदेशों में महत्वपूर्ण स्थान बताया है।[3]

(2) दुःखसमुदाय - द्वितीय आर्य सत्य को चिकित्सा विज्ञान में निदान से सम्बन्धित किया गया है। इसमें बुद्ध ने दुःख के मूल कारणों का उपदेश दिया है। इसमें बुद्ध ने स्पष्ट किया है कि दुःख का उदय कैसे होता है तथा सारा संसार दुःख से किस प्रकार पीड़ित है प्राचीन पालि ग्रन्थों में दुःख के समुदाय की विविध छोटी-बड़ी सूचियां दी गयी हैं, जिनमें दुःख के कारणों का निर्देश है।

डॉ० पाण्डेय के अनुसार प्राचीनतम् निर्देश अल्पाकार है और उनमें तृष्णा, कर्म, अहंकारदृष्टि अथवा उपादान को दुःख का कारण बताया गया है।[4] तृष्णा और इच्छा दोनों साथ - साथ रहते हैं। तृष्णा पुर्नभव को करने वाली, आसक्ति और राग के साथ चलने वाली और यत्र-तत्र रमण करने वाली है, जैसे कि काम-तृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा।[5] तृष्णा के साथ अविद्या की स्थिति में मानव चेतन युक्त होते हुए विवेक शून्यता की स्थिति में संचरण करता है।

(3) दुःख निरोध - तृतीय आर्य सत्य दुःख निरोध है जिसका सम्बन्ध चिकित्सा विज्ञान में स्वस्थता से किया गया है। दुःख के मूल कारण तृष्णा और अविद्या का निर्मूलन ही दुःख निरोध है।

बुद्ध का स्वयं का कथन है - 'हे भिक्षुओं। दुःख निरोध आर्य सत्य जो इस तृष्णा ही अविशेष विराम, निरोध, त्याग, प्रतिनिस्सर्ग और छोड़ना है।[6]' इस प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, और विज्ञानादि का निरोध ही दुःख निरोध है।[7]

(4) दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा - दुःख निरोध किस मार्ग के अनुसरण से किया जाए इसे बुद्ध ने चतुर्थ आर्य-सत्य, दुःख - निरोध गामिनी प्रतिपदा के अन्तर्गत बताया गया है। इसका सम्बद्ध चिकित्सा विज्ञान में उपचार से किया गया है। इसमें दुःखनिरोध का मार्ग बताया था। दुःख के मूल

कारणों क्रमशः अविद्या, तृष्णा और कर्म का निरोध मार्ग इन्हीं के अनुसार होना चाहिये। शील अर्थात् अहिंसा, मैत्री, करुणा और नैतिक आचरणों से कर्म नियन्त्रित होता है, समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता से चित्त एकाग्र होता है और इसका परिणाम यह होता है कि तृष्णा समाप्त हो जाती है। एकाग्रचित्त में प्रज्ञा अथवा अलौकिक ज्ञान की आभा प्रस्फुटि होती है। जिससे अन्धकार स्वरूपा अविद्या तिरोहित हो जाती है और तत्पश्चात् चरम लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ

1. डॉ० ए० के० कुमारस्वामी, बुद्धा एण्ड दि गास्पल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० 81।
2. संयुक्तनिकाय, धम्म चक्कपवत्तन सुत्त 2/9।
3. दि स्टडी इन दि ओरिजिन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० 400।
4. दि स्टडी इन दि ओरिजिन ऑफ बुद्धिज्म, पृ० 434-35।
5. संयुक्तनिकाय, धम्म चक्कप्रवतन सुत्त।
6. प्राचीन भारतीय धर्मः (अभिनव सत्यदेव, डॉ० बांके बिहारीमणि त्रिपाठी), पृ० 80।
7. धम्मचक्कपत्तन सुत्त।

65
बौद्ध धर्म का वैश्विकरण

इन्द्रजीत सिंह

छठीं शताब्द्वी ई० पू० धार्मिक दृष्टि से क्रान्ति अथवा परिवर्तन का काल माना जाता है। इसी समय पहली बार वैदिक धर्म एवं समाज में व्याप्त कुरीतियों, कुप्रथाओं, छुआ-छूत, ऊँच-नीच आदि के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। यह आन्दोलन कोई आकस्मिक घटना नहीं थी वरन यह चिरकाल से संचित हो रहे असन्तोष की चरम् परिणति थी। वैदिक धर्म के कर्मकाण्डों तथा यज्ञीय विधि-विधानों के विरोध में प्रतिक्रिया उत्तर वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। वैदिक धर्म की व्यवस्था नये सिरे से की गयी तथा यज्ञ और कर्मकाण्डों की निन्दा करते हुए धर्म के नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया। संसार को 'नश्वर' बता कर आत्मा की अमरता के लिए बन्धन बताया गया इस विचारधारा का 'परिपक्व' रूप उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद, यज्ञों तथा उनमें की जाने वाली पशुवलि प्रथा की कड़ी आलोचना करते है। इस काल में लोहे के उपकरणों के प्रयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। ई० पू० छठीं शताब्दी में वैदिक क्रान्ति के लिए तत्कालीन, सामाजिक, कारण तो उत्तरदायी ने ही वही आर्थिक निश्क्रिय हो चुकी थी वर्ण कठोर होकर जातियो में परिवर्तन हो चुके थे, समाज में ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो चुका था। शेष सभी वर्णो का दर्जा निम्न था। शूद्रों की दशा अत्यंत दयनीय थी तथा उनके कोई अधिकार न थे।

इन्ही परिस्थितियों में बौद्ध धर्म की स्थापना गौतम बुद्ध ने की थी। विश्व में एशिया भूखण्ड ही ऐसा स्थल है जहाँ धर्मो और सम्प्रदायों का ठदगम हुआ है। साख्य-योग, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ताओ, कन्फ्यूशियन जैसे

धर्म इसी ऊर्वर भूमि में अवतरित हुए और उनकी वैचाारिक उद्भावनाएँ ईसा पूर्व पाँचवी से छठी शताब्दी में नवीन चेतना के रूप में प्रतिष्ठित हुई। इनमें से भारत में प्रार्दुभूत बौद्ध धर्म व्यापक मानवीयता, सहनशीलता, करुणा, अहिंसा सत्यवादिता एवम् आदर के साथ पूरे एशिया खण्ड में आरम्भ से ही होने लगा। इस धर्म में किसी सद्विचार का विरोध नहीं था, किसी जीवधारी (सजीव प्राणी) का अहित चिन्तन नहीं था अपितु समन्वयात्मक, विश्वकल्याण की भावना निहित थी। प्राचीन काल से यह भावना अनजानी नहीं थी किन्तु कुछ शताब्दीयों के बीच जीवन का नेतृत्व राजाओं और पुरोहितो श्रेष्ठियों के अधीन हो गया था। ये लोग शक्ति, धन और देवपूजा द्वारा अपने भोग और सुविधाओं को जुहाना ही जीवन का प्रमूख उद्देश्य मानने लगे थे।

इसी समय जन-सामान्य के कष्ट से पीड़ित गौतम बुद्ध ने युवावस्था में व्यक्तिगत सुख-सुविधा से मुहँ मोड़कर मानवता के उद्धार में ही अपनी शान्ति एवं निर्वाण प्राप्ति की सिद्धि की। कृतज्ञ जनता ने उनको अपना भगवान माना और उनके अमृत वचनों को अपनी जीवन पद्धति में समाहित किया तथा आम जनता के साथ-साथ शासक भी इससे अछूते नहीं, अशोक मिलिन्द, शालिवाहन, कनिष्क, हर्षवर्धन, और अनेक विदेशी यात्री जैसे महान शासको ने धन, पद, वैभव, मद, मोह को त्याग कर लोकहितकारी, पवित्र जीवन बिताने लगे। भारत का यह धर्म अहिंसा का सन्देश यूनानी, तूरानी, चीनी, एवम् जापानी शासकों ने भी बौद्ध धर्म को सहर्ष स्वीकार किया। इस आधुनिक युग में भी बौद्ध धर्म को मानने वालो की संख्या अधिक है और वे सब इस देश भारत को पूण्य भूमिं मानते हैं।

मौर्य सम्राट अशोक ने अपने धर्म प्रचारकों के द्वारा इस धर्म को मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया, और श्रीलंका, वर्मा, तिब्बत, मंगोलिया, चीन और जपान और इसे विश्व धर्म का रूप दिया। आज भी बौद्ध धर्म श्रीलंका वर्मा, भूटान, तिब्बत, सुमावा, जावा बोरनियो, चीन और जपान में बौध-धर्म प्रचलित है यह अपनी जन्म भूमि से तो लगभग समाप्त हो गया है, परन्तु दक्षिणी एशिया, दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों में अपने महत्वपूर्ण नैतिक उपदेशों एवम मार्गो के द्वारा समस्त जनमानस को प्रकाशित कर रहा है।

चार अर्थ सत्य (1) दुःख (2) दुःख समुदाय (3) दुःख निरोध (4) दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद।

(1) **सम्यक दृष्टि** - का आशय है नीर-क्षीर विवेकी दृष्टि अर्थात् चार आर्थ सात्यो की सही परख और समझ।

(2) **सम्यक वचन** - असत्य छोडकर सदा सत्य बोलना।

(3) **सम्यक संकल्प** - भौतिक वस्तुओं तथा दुर्पभावना का त्याग की प्रतिज्ञा करना।

(4) **सम्यक कर्मान्त** - सदैव सत्यकर्म करना।

(5) **सम्यक आजीव** - ईमानदारी और नैतिकता के माध्यम से आजीविका कमाना।

(6) **सम्यक व्यायाम** - शुद्ध, शुभ एवं उचित विचार ग्रहण करना।

(7) **सम्यक स्मृति** - मन वचन, तथा कर्म की प्रत्येक क्रिया प्रति सचेत रहना।

(8) **सम्यक समाधि** - चित्त की एकाग्रता पर ध्यान देना।

दस शील

(1) अहिंसा

(2) सत्य

(3) **अस्तेय** चोरी न करना

(4) **अपरिग्रह** - अधिक संग्रह न करना।

(5) **ब्रह्मचर्य**-व्यभिचार न करना।

(6) **नृत्य गानादि** का त्याग करना।

(7) **सुगध मालादि** का त्याग

(8) ***असमय*** *में भोजन न करना।*

(9) ***कोमल विस्तर*** *का त्याग करना।*

(10) **कामिनी कंचन** का त्याग (कुविचारों का)

तथा सम्पूर्ण जगत में ध्वनित हो रहा है।

बुद्धम् शरणम् गच्छामि
धम्मम् शरणम् गच्छामि
संघम शरणम् गच्छामि

परम्परा अनुसार बुद्ध का जन्म 563 ई० पू० में शाक्य नामक क्षत्रिय कुल में कपिलवस्तु के निकट नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी ग्राम में हुआ था। जन्म होते ही वे खड़े हो गये सात पग आगे चलकर बोले यह मेरा अन्तिम जन्म है इसके बाद अब मुझे कोई जन्म ग्रहण नहीं करना है। पाँचवे दिन एक बड़े समारोह में बालक का नाम सिद्धार्थ रखा गया। सिद्धार्थ के पिता शुद्धोदन कपिलवस्तु के निर्वाचित राजा और गणतांत्रिक शाक्यों के प्रमुख थे। उनकी माता का नाम महामाया था जो कौशल वंश की राजकुमारी थी। जन्म के सातवे दिन उनकी माता का स्वर्गवास हो गया है इसलिए उनका पालन पोषण उनकी मौसी महाप्रजापति गौतमी ने किया। सिद्धार्थ के गोत्र का नाम गौतम था इस लिए इन्हें गौतम भी कहा जाता है। बचपन से ही राजकुमार सिद्धार्थ का ध्यान आध्यात्मिक चिंतन की ओर अधिक था। गौतम को सांसरिकता से आबद्ध करने के लिए 16 वर्ष की आयु में ही शाक्यवंशी राजकुमारी यशोधरा नामक रूपवती कन्या से उनका विवाह कर दिया गया। इस विवाह के लिए आयोजित की गई सभी प्रतियोगिताओं में सिद्धार्थ ने भाग लिया और विजयी हुए। परन्तु दांपत्य जीवन में भी उनका मन नहीं लगा वे लोगों के सांसारिक दु:खों को देखकर द्रवित हो उठते थे, और ऐसे दु:खों के निवारण का उपाय सोचने लगते थे। एक दिन गौतम अपने स्वामी भक्त सारथी चाण के राज्यीद्यान के समीप विचरण कर रहे थे उसी समय उन्हें चार दृश्य दिखाई दिये एक वृद्ध व्यक्ति, दूसरा रोगग्रस्त व्यक्ति, तीसरा एक मृतक व्यक्ति को लोग श्मशान ले जा रहे थे और उनके पीछे-पीछे मानवों का एक समूह रोते हुए आ रहे थे चौथा दृश्य एक भ्रमणशील सन्यासी को देखा उसके मुख मण्डल पर शान्ति और चमक स्पष्ट प्रकाशित हो रहा था। चौथे दृश्य ने गौतम को अधिक प्रभावित किया। ये चारों दृश्य हदमवंश धारी देवताओं का था इसके माध्यम से देवतागण गौतम के वास्तविक कर्तव्य को अवजात कराए। गौतम 29 वर्ष की आयु में समस्त सुख-सुविधाओं को त्याग कर एक सन्यासी तरह इधर-उधर 7 वर्षों तक भटकते रहे अन्तमें उन्होंने मगध जनपद के अरूकेला में निरजना नदी के तटपर एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठकर तपश्चर्या में लगे रहे और वही पर एक सेनानी की पुत्री सुजाता के हाथ से भोजन करने के बाद वे पुन: समाधि हो गये और सात दिन-रात विना बिघ्न तप किया। आठवें दिन वैशाख पूणिमा के दिन उन्हें

सत्य और ज्ञान का आलोक मिटा उन्हें सम्बोधि की प्राप्ति हुई। अतः वे तथागत और बुद्ध कहे गये बोधिप्राप्ति का स्थान होने के कारण गया को वोधगया कहा गया तथा जिस वृक्ष के नीचे ज्ञानप्राप्त हुआ उसे बोधि वृक्ष कहा गया।

गौतम ने अपने ज्ञान का प्रथम प्रवचन वाराणसी के सारनाथ नामक स्थान पर किया। वही पर पाँच तपस्वियों को उनसे शिक्षा ग्रहण कि और उन्हें महत्व प्राप्त हुआ वहाँ साहित्य में इसे धर्म चक्र प्रर्वतन कहा जाता है। बुद्ध के व्यक्तित्व और धर्म उपदेश देनी की शैली दोनो ही बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में सहायक हुए। बुद्ध भलाई द्वारा बुराई को हटाने का प्रयास करते थे तथा प्रेम करके घृणा का भगाने का प्रयास करते थे इसी लिए संघ, बुद्ध और बौद्ध धर्म के समाप्त हो जाने के बाद भी भारत के इतिहास में ही नही अपितु विश्व इतिहास में भी अपनी अमित छाप छोड़ गये ईसा पूर्व छठी शतावब्दी में पूर्वोत्तर भारत की जनता के समाने जो समस्याए खड़ी थी उन समस्याओं के प्रति बुद्ध और उनके शिष्यों ने प्रवल जागरूकता दिखाई।

लोहे का प्रयोग कृषि में होने के कारण उत्पादन में वृद्धि हुई तथा व्यापार और सिक्कों के प्रचलन से व्यापारियों और अमीरों को धन संचय करने का अकसर प्राप्त हुआ परिणामस्वरूप में समाजिक और आर्थिक असमानता बड़ी मात्रा के उत्पन्न हो गयी इसलिए बौद्ध-धर्म (गौतम बुद्ध) ने घोषणा की धन का संचय नहीं करना चाहिए।

बौद्ध धर्म धन के अधिक संग्रह को ही दरिद्रता, घृणा, क्रूरता और हिंसा की जननी मानता है इसलिए वह सामाजिक समानता पर अधिक बल देते हैं उनकी भावना थी कि मजदूरों की मजदूरी तथा किसानों को अधिक से अधिक सुविधा निश्चित समय पर दिया जाना चाहिए। वे यह भी कहते है कि दरिद्र व्यक्ति, भिक्षुओं भिखारियों को जो भीख देगा वह अलगे जन्म में और धनवान होगा।

निस्सन्देह बौद्ध धर्म का प्रमुख उद्देश्य मानव की मुक्ति निर्वाण का मार्ग दिखना था जो समाज शोषित एवं उपेक्षित, सामाजिक, असमानता को सहन नही कर सकते थे उन्हें बौद्ध धर्म में राहत मिली तथा बौद्ध धर्म में स्त्रियों और

शूद्रों दोनो का हीन माना जाता था और बौद्ध धर्म में उन्हें धर्म ग्रहण कराके उन्हें इस अधिकार हीनता से मुक्ति दिलाया।

प्राचीन बौद्धग्रंथ सुत्त-निपात में गाय को भोजन रूप और सुख देने वाली (अन्नदा वन्नदा सुखदा) कहा गया है इसलिए बौद्ध धर्म में उसकी रक्षा करने का उपदेश दिया है क्योंकि इस समय आर्योत्तर काल में बड़े-बड़े उत्सवो पर गायों का मांस खाया जाता था और पशुओं का संहार हो रहा था ब्राह्मण धर्म में गाय की पूजा और अहिंसा पर बल देता है वह बौद्ध धर्म के उपदेशो का ही प्रमुख था इतना तक ही नहीं बौद्ध धर्म ने वैदिक साहित्य जगत में भी जागृति लाई बौद्ध साहित्य में पहली बार अधाविश्वास की जगह तक को स्थान दिया।

अतः यह कहा जा सकता है कि इस वैश्विक युग के जब पूरा विश्व एक गौरव में परिवतीत हो गया है जहाँ अपसी स्वार्थ, महात्वांकाक्षा, हिंसा इतनी बढ़ गयी है कि नैतिकता, मानावता, करुणा, सहनशीलता, सहयोग, परोपकार जैसे मानवीय गुण (मूल्य) हाशिए पर खड़े हों तो उस समय बौद्ध धर्म की प्रांसागिकता स्वयं बढ़ जाती है क्योंकि बौद्ध चर्मण दर्शन ही समानता, अहिंसा, नैतिकता, भाईचारा, सदाचारिता, आचरणशीलता, समाजिक समरक्षता, जैसे मानवीय मूल्य हैं।

सन्दर्भ

डॉ० वाकेविहारी मणि त्रिपाठी, प्रचीन भारतीय धर्म।

डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म का विकास का इतिहास।

डॉ० ए०एन० बाशम, अदभुत भारत।

डॉ० आर० एन० पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनितिक एक सास्कृतिक इतिहास।

डॉ० जय शंकर प्रसाद, प्रचीन भारत का सामाजिक इतिहास (NCERT- प्राचीन भारत)।

66

बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा का व्यवस्थापन

शैलजा सिंह एवं जय प्रकाश मणि

भारत के सभी शिक्षा केन्द्रों का सबसे बड़ा केन्द्र नालन्दा महाविहार था जो उस युग का विश्व का सर्वश्रेष्ठ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालय था।[1] प्राचीन भारत के ज्ञान-विज्ञान का यह केन्द्र भारत ही नहीं वरन् उसकी प्रसिद्धि का विस्तार विदेशों में भी हुआ था। दूर-दूर देशों के विद्वान एवं जिज्ञासु अपनी ज्ञान पिपासा शान्त करने के लिये शिक्षा के इस महान केन्द्र में उपस्थित होने के लिए उत्सुक रहते थे और विभिन्न क्रियाओं में पारंगत होकर लौटते थे।[2] आधुनिक बिहार राज्य में पाटलीपुत्र (पटना) से 55 मील दक्षिण-पूर्व तथा राजगृह से 7 मील उत्तर की ओर प्राचीन नालन्दा अपने विगत वैभव के खण्डहरों के रूप में प्रकृतिस्थ हैं। प्रारम्भ में नालन्दा एक छोटे से गांव पुष्कर्णी के तट पर स्थित था।[3] डॉ० अल्तेकर का अनुमान है कि गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम ने इस विश्वविद्यालय की आधारशिला रखी थी।[4]

नालन्दा विश्वविद्यालय का प्रबन्ध एवं व्यवस्थापन संघ द्वारा नियुक्त दो सभाओं के परामर्श से कुलपति अथवा अध्यक्ष द्वारा किया जाता था। अध्यक्ष और कुलपति समस्त भिक्षुओं द्वारा निर्वाचित किये जाते थे। इस पद के लिये वही भिक्षु योग्य समझे जाते थे, जिनका आचरण, विद्वता और अनुभव को संघ के सभी भिक्षु स्वीकार करते हों। व्यवस्था की दोनों परामर्शदात्री समितियों की कार्यप्रणाली अनुलिखित प्रकार की थी -

पहली समिति शिक्षा सम्बन्धी समस्त कार्यों में अध्यक्ष को उचित सलाह

देती थी। वह आधुनिक 'विद्यापरिषद' (एकेडमिक कौंसिल) के समान थी। विश्वविद्यालय के प्रवेश, पाठ्यविषय, शिक्षकों के कार्यक्रम आदि में यह समिति परामर्श देती थी। मुद्रण यन्त्रों का अविष्कार न होने के कारण पुस्तकालय का महत्व अत्यधिक था। पुस्तकालय पर ही पुस्तकों के संग्रह - संरक्षण तथा प्रकाशन का भी भार था। विभिन्न छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनेक पुरानी पुस्तकों के लिए नया रूप देना पड़ता था तथा उनकी प्रतिलिपियां भी करानी पड़ती थीं। इन सभी दायित्वों का भार पुस्तकालय की प्रबन्ध समिति पर था। पुस्तकों की प्रतिलिपि करते समय इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता था कि प्रतिलिपि त्रुटिपूर्ण तो नहीं बन रही है।[5] इस कार्य का सम्पादन प्रायः अध्यापकों और छात्रों द्वारा होता था, किन्तु प्रतिलिपि करने के लिये अन्य कार्यकर्ता भी रहते थे। पुस्तकालय का उपर्युक्त समस्त कार्य संचालन इसी प्रथम समिति (विद्या परिषद्) द्वारा होता था।

विश्वविद्यालय की आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्था दूसरे प्रकार की समिति करती थी। विश्वविद्यालय के आर्थिक स्रोत के रूप में विभिन्न नरेशों द्वारा अनेक गांवों का राजस्व प्रदान किया गया था। इत्सिंग के यात्रा काल (675 से 685) में दो सौ गांवों को विश्वविद्यालय के लिए दान किया गया था। जिनकी आय से यहाँ के भिक्षु कार्यकर्ताओं और अध्येताओं का पोषण होता था। राजाओं द्वारा विश्वविद्यालय को अर्पित किये गये गांव से सम्बद्ध मुहरें और अभिलेख उत्खनन में प्राप्त हुए हैं।[6]

ह्वेनसांग की जीवनी के अनुसार राजा (हर्ष) विहार के भरण-पोषण के लिए एक सौ गांव की मालगुजारी जागरी में दे रखी थी। इन गांवों के दो सौ गृहस्थ प्रतिदिन कई सौ पिकल (एक पिकल = लगभग 60 किलोग्राम) चावल और कई सौ कट्टी (एक कट्टी = लगभग 70 किलोग्राम) घी और मक्खन दिया करते थे। अतः यहाँ के अध्यापकों और विद्यार्थियों को सभी वस्तुएं इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त हो जाती थीं कि उन्हें कहीं जाना पड़ता था।[7] इन गांवों की देख-रेख उनके उपज की ठीक व्यवस्था करना, इसी समिति का कार्य था। आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार रखा जाता था कि दैनिक आवश्यकता की सभी वस्तुएं हर समय उपलब्ध रहती थीं। विश्वविद्यालय

के नये भवनों को बनवाना, छात्रावासों में छात्रों के निवास की उचित व्यवस्था करना, प्राचीन भवनों की देख-रेख करना तथा भिक्षुओं के वस्त्र और पाठ्यसामग्री के व्यवस्था का भार इस समिति पर ही था।

विश्वविद्यालयों में संघ द्वारा निर्वाचित भिक्षु भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे और विश्वविद्यालय के समस्त कार्य इन्हीं विभागाध्यक्षों के संरक्षण में ही सम्पन्न होते थे। छात्रों के भी अपने संघ थे। अपराधी छात्रों के दण्ड की व्यवस्था विद्यार्थियों के संघ द्वारा ही होती थी।[8] छात्रावास में भी अपने विभागाध्यक्ष के द्वारा निर्देशित छात्र ही स्वयं सब प्रबन्ध करते थे जिनके सम्पादन द्वारा छात्रों में स्वावलम्बन की वृद्धि हो। इस प्रकार विश्वविद्यालय का सारा प्रबन्ध, जनतंत्रात्मक प्रणाली के अन्तर्गत होता था।

नालंदा विश्वविद्यालय लगभग 1200 ई० तक विद्यमान रहा। आठवीं शताब्दी के एक अभिलेख प्रमाण से यह ज्ञात होता है कि विश्वविद्यालय अपने शिक्षा व्यवस्था के अध्ययन-अध्यापन में श्रेष्ठ था।[9] जावा एवं सुमात्रा के नरेश बलपुत्र देव ने इसकी प्रसिद्धि से आकर्षित होकर यहाँ एक मठ का निर्माण कराया और अपने मित्र बंगाल के राजा देवपाल से निवेदन किया कि मेरी ओर से नालंदा विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता के रूप में पांच गांव दान में दे दिये जायें।[10] इस अनुदान का एक अंग विश्वविद्यालय पुस्तकालय से पुस्तकों की प्रतिलिपि करने के प्रयोजन से सुरक्षित कर दी गयी थी।[11] इस विश्वविख्यात विश्वविद्यालय का विध्वंस मुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी द्वारा तेरहवीं शताब्दी में किया गया। सभी विद्यार्थियों एवं भिक्षुओं की हत्या कर सम्पूर्ण विश्वविद्यालय को अग्नि लपटों में विध्वंस किया गया।[12]

संदर्भ

1. वी० एन० पुनिया, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास, पृ० 472।
2. तक्कुसु, इत्सिंग्स रेकार्ड ऑफ द बुद्धिस्ट रेलीजन, पृ० 14।
3. डॉ० सरयुप्रसाद चौबे - भारत में शिक्षा पृ० 124।
4. डॉ० ए० एस० अल्तेकर - एजूकेशन इन एन्सिएन्ट इण्डिया, नंद किशोर एवं ब्रदर्श वाराणसी - 1957।
5. एस० के० मुखर्जी - लाइब्रेरियनशिप - इंदस फिलासिफी एण्ड हिस्ट्री, पृ० 94।
6. डॉ० ए० एस० अल्तेकर, एजूकेशन इन एन्सिएन्ट इण्डिया, पृ० 123।

7. ह्वेनसांग की जीवनी, पृ० 112–13।
8. सरयु प्रसाद चौबे – भारत में शिक्षा, पृ० 129।
9. ई० आई० 20, पृ० 43।
10. नालन्दागुणावृन्द लुब्धमनसा भक्त्यां च शौद्धोदने।
नानासदगुणभिक्षुसंधवस तिस्तत्यां बिहारः कृतः।
सुवर्णादीयाधिप महाराज श्री बलपुत्र देवेन वयं विज्ञापिताः
यथा मया श्री नालंदायां बिहारः कृतः..........।।
11. सरयुप्रसाद चौबे – भारत में शिक्षा, पृ० 124
धर्मरत्नस्य लेखनार्थम।
12. इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 2:306।

67
जैन धर्म में सामाजिक चिन्तन

प्रभाकर लाल

छठी शताब्दी ई० पू० में आविर्भूत होने वाले अरूढ़िवादी सम्प्रदायों के आचार्यों में जैन धर्म के महावीर का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वे जैन-धर्म के प्रवर्तक नहीं थे। किन्तु हम उन्हें छठीं शताब्दी ई०पू० के जैन आन्दोलन का प्रवर्तक कह सकते थे। जिस समय महावीर स्वामी का प्रादुर्भाव हुआ उस समय ऊँच-नीच के भेद भाव, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों एवं जटिल याज्ञिक कर्मकाण्डों से ऊबा हुआ वर्ण पर आधारित जनमानस जीवन यात्रा के लिए एक ऐसे सुगम और सुबोध मार्ग की खोज में था जो क्रूर हिंसा, अमानवीय घृणा, वर्गगत-भेद-भाव एवं धर्मान्धता से शून्य हो। महावीर स्वामी ने इस बात के लिए प्रयास किया कि भारत का जनमानस हिंसावृत्ति, अन्धविश्वास, जाति, भेद-भाव, कर्मकाण्ड से मुक्त हो तथा सदाचरण एवं पंचमहाव्रतों के पालन द्वारा वास्तविक युक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हो अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करे।

जैन धर्म में वेद की अपौरुषेयता को अस्वीकार किया गया और वेदवाद का विरोध किया गया। इसी प्रकार यज्ञ, कर्मकाण्ड के लिए भी जैन धर्म में कोई स्थान नहीं था। ब्राह्मण धर्म के वर्ण व्यवस्था की भी आलोचना की गयी है। जैन धर्म के सप्तभंगी सिद्धान्त के अनुसार वेदवाद सर्वमान्य प्रमाण नहीं हो सकता था। घोर अहिंसावादी होने के कारण पशु-वध के विधान वाले यज्ञ का भी विरोध करना जैन धर्म के लिए स्वभाविक था। जैन धर्म में निवार्णद्वार सभी जाति तथा सभी वर्गों के लिए खुला था। पार्श्वनाथ के समान ही महावीर स्वामी ने भी ब्राह्मण धर्म के यज्ञ-विधान तथा कर्मकाण्ड पर प्रहार किया। यज्ञ

में जीवों का विनाश पाप उत्पन्न करता है। अग्नि, प्रज्वलन तथा जल-मज्जन केवल बाहर शुद्धता प्रदान कर सकता है। जन्म से निर्धारित वर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर इन्होंने कर्म को ही वर्ण तथा जाति का आधार माना है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म ही युक्ति क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होता है।[1] महापुराण में कहा गया है कि जो शास्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे वैश्य कहलाये और जो इन (क्षत्रिय एवं वैश्य) के सेवा सुश्रूषा करते थे उन्हें शूद्र की संज्ञा दी गयी।[2] नैतिक आचरण को आधार मानकर महावीर स्वामी ने कहा "जो अग्नि में तपाकर शुद्ध किये और घिसे गये सोने की भाँति पाप-मल से रहित है और जो राग-द्वेष और भय से मुक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।"

जैन आचार्य इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, भुजा से, उदर तथा पैर से हुई। धर्मशास्त्र एवं पुराणों के सर्वथा अनुकूल है अर्थात् ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरूओं से वैश्य तथा पैर से शूद्र इन चार वर्णों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[3] पद्मपुराण तथा हरिवंश पुराण में वर्णित है कि ऋषभदेव ने सुख-समृद्धि के लिए समाज में सुव्यवस्था लाने की चेष्टा की गयी थी और इस व्यवस्था के फलस्वरूप क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये तीन वर्ण उत्पन्न हुए। ऋषभदेव ने जिन पुरूषों को विपत्ति द्वारा ग्रस्त, मनुष्यों के रक्षार्थ नियुक्त किया था, वे अपने गुणों के कारण लोक में 'क्षत्रिय' नाम से प्रसिद्ध हुए, जिसको वाणिज्य, खेती एवं पशुपालन आदि व्यवसाय में लगाया गया था। वे वैश्य कहलाये तथा जो नीचकर्म करते थे तथा शास्त्र से दूर भागते थे उन्हें शूद्र की संज्ञा प्रदान की गयी थी।[4] इनका विचार है कि व्यक्ति मनुष्य योनि से ही उत्पन्न है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि पूर्व कर्मों के कारण व्यक्ति का उच्च कुल में जन्म होता है। जैन साहित्य में वर्ण को परिवर्तनीय बताया गया है। नैतिक साधना के द्वारा जैन धर्म में सभी के लिए समानरूप से खुला था। आचारांग सूत्र में धनी व निर्धन सभी वर्ग के लोगों के लिए समान उपदेश है। जैन विचार के अनुसार चारों वर्ण के लोग श्रवण-परम्परा में प्रवेश पा सकते थे।

धर्मशास्त्रों में वैश्यों के लिए कृषि, पशु-पालन और व्यापार जैसे व्यवसाय

निर्दिष्ट किये गये हैं। जैन धर्म में प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त के प्रभाव से वैश्यों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए कृषिकर्म तथा पशु-पालन छोड़ दिया था और व्यापार को अपनी आजीविका का साधन बना लिया था। जैन धर्म में वैश्य वृत्ति के अन्तर्गत कृषिकर्म की आलोचना की गयी है। जैनी अहिंसक थे उनकी धारणा थी कि कृषिकर्म करने से बड़ी मात्रा में हिंसा होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि 'जो दुष्ट बैलों को जोतता है, वह उन्हें मारता हुआ क्लेश पाता है, तथा असमाधि का अनुभव करता है।[5] इस समय वैश्यों की सामाजिक स्थिति बदल गयी थी। अनेक वैश्यों ने राज परिवार और भिक्षु संघों को अतुल धनराशि देकर अपनी जाति की गरिमा को उठा लिया था अब वे ब्राह्मण, क्षत्रिय राजकुमारों के साथ शिक्षा भी ग्रहण करते थे और राज्य सभा में उच्च पद पर आसीन होते थे।

जैन धर्म ने सभी वर्णों के सदस्यों को संघ में प्रवेश की अनुमति दी और निम्नवर्णों के उत्थान का प्रयास भी किया। जैन साहित्य में कहा गया है कि चाण्डाल भी ज्ञानादि उत्तम गुणों के धारक और जितेन्द्रिय होकर भिक्षु हो सकते हैं।[6] पद्मपुराण में वर्णित है कि कोई भी जाति निन्दनीय नहीं है। वस्तुतः चाण्डाल भी व्रत में रत हैं, तो वह भी ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।[7]

जैन पुराणों में ब्राह्मणों की उत्पत्ति के विषय में उल्लेखित है कि चक्रवर्ती भरत ने एक बार अपने यहाँ दानादि के लिए श्रावकों को आमंत्रित किया। राजभवन के आंगन में हरी-हरी घास उगी थी। जीव हत्या के भय से जो व्रती श्रावक भरत के पास नहीं गये और बाहर खड़े रहे उन्हें उन्होंने ब्राह्मण घोषित किया।[8]

जैन ग्रन्थों में सामान्यतः ब्राह्मण के लिए द्विज और ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया है किन्तु प्रसंगतः इनमें विप्त, भूदेव, श्रोतिए, पुरोहित, देवभोगी, मौहूर्तिक, वाडव, उपाध्याय तथा त्रिवेदी जैसे शब्द भी प्राप्त होते हैं।[9] महापुराण के अनुसार वह व्यक्ति द्विजन्मा (द्विज) है। जिसका जन्म एक बार माता के गर्भ से और दूसरी बार उसकी क्रिया (पारस्परिक ग्रन्थों में वर्णित संस्कार) से होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिसमें क्रिया और मंत्र दोनों का अभाव है, वह मात्र नाम धारक द्विज है।[10] जैन सूत्रों में सामान्यता ब्राह्मणों के प्रति

अवहेलना प्रदर्शित की गयी है।[11] जैन पुराणों के अनुसार विनाश (क्षत्) से रक्षा (त्राण) करने से क्षत्रिय संज्ञा प्राप्त होती है।[12] इन पुराणों में क्षत्रिय की आजीविका शस्त्र धारण करना वर्णित है।[13] जैन पुराणों में वैश्य, सेठ, वणिक्, श्रेष्ठी एवं सार्थवाह शब्द प्रयुक्त हुए हैं। श्रेष्ठि पद परिवार के सबसे वरिष्ठ व्यक्ति को दिया जाता है।[14] जैन पुराणों के अनुसार जो नीचकर्म करते थे तथा शास्त्रों से दूर भागते थे उन्हें 'शूद्र' कहा गया है।[15]

प्राचीन जैनसाधु ब्राह्मणों के विपरीत निम्नवर्ग के परिवारों जिनमें बुनकर भी सम्मिलित थे, उनका अन्न ग्रहण करते थे।[16] उत्तराध्ययन सूत्र में एक श्वपाक चाण्डाल हरिकेशवल का उल्लेख है जिसने एक ब्राह्मण को नैतिक आचरण की शिक्षा दी थी। अतः सामाजिक समरसता के चलते इस समय शुद्ध एवं अन्य निम्न जातियों की स्थिति में परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है। उल्लेखनीय है कि इसी समय शूद्र राजा नन्दवंश के रूप में हुआ।

आश्रम व्यवस्था युक्ति के जीवन के विभिन्न स्तरों का प्रशिक्षण स्थल है तथा इसके अनुशासन की आधारशिला है।[17] आश्रम व्यवस्था इन चारों अव्यवस्थाओं के माध्यम से मनुष्य अपना गन्तव्य निश्चित करता है और ये चारों अवस्थायें प्रशिक्षण की श्रेणियों के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं।[18] आश्रम व्यवस्था को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष के लिए मनुष्य द्वारा की जाने वाली जीवन यात्रा के मध्य का विश्राम स्थल मानना चाहिए।[19] जैन परम्परा में आयु के आधार पर आश्रमों के विभाजन का सिद्धान्त नहीं प्राप्त होता, जबकि ब्राह्मण विचारधारा जीवन के सर्वांगीण उत्कर्ष के निमित्त व्यक्ति को चारों आश्रमों का पालन करने का विचार प्रस्तुत करती है। जिस प्रकार प्राणवायु का आश्रय प्राप्त कर सभी जीव जाते हैं उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रम प्राप्त कर सभी आश्रम (ब्राह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास) चलते हैं।[20] जैन साहित्य में गृहस्थाश्रम छोड़कर सीधे सन्यास लेने का समर्थन किया है। सन्यास को उचित बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि जिसके पास अपना कुछ नहीं है वही सुख से रहता है। जबकि पारस्परिक विष्णु ब्राह्माण्ड एवं मत्स्य पुराणों में समलीक गृहस्थ को ही महान फल, दान तथा अभिषेक का अधिकारी वर्णित किया है।[21] आचारांग सूत्र में कहा गया है कि "जो गृहस्थाश्रम के पीछे नहीं पड़ते हैं वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं।"

गृहस्थाश्रम की परिभाषा देते हुए महावीर स्वामी ने कहा है कि सचित्त पानी पीना, बीजकाय का भक्षण करना, आहार कर्मी लेन ओर स्त्री का प्रसंग करने वाला गृहस्थ होता है।[22] जो व्यक्ति स्त्री सेवी नहीं है और काम भोग को रोग सदृश देखता है, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[23]

जैनेतर, ब्राह्मणों के प्रति इनकी दृष्टि सिद्धान्त अनुदार ही थी।[24] जैन पुराणों के अनुसार ब्राह्मणत्व के आधारभूत तीन कारण हैं- तप, शास्त्र ज्ञान तथा जाति। ध्यान वह अग्नि है जिससे ब्राह्मणत्व का सिद्धि होती है और उसकी "शान्त-दान्त-चित्त" की मुक्ति का कारण बनती है।[25] पद्मपुराण के अनुसार ब्राह्मण वह व्यक्ति है जो ऋषभदेव रूपी ब्रह्मा का भक्त है।[26] जैन धर्म का आधारतत्त्व मन और कायाशुद्धि पर विशेष बल देता है। इसीलिए ब्राह्मण धर्म के यज्ञ और कर्मकाण्ड का इस धर्म में विरोध है। बाह्यशुद्धि के स्थान पर अन्तः शुद्धि पर अधिक बल दिया गया है तथा सच्चरित्रता और सदाचरण उसके प्रधान आधार माने गये हैं। मनुष्य के चारित्रिक उत्थान हेतु जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वृत्त के पालन पर बल दिया गया है। मुनिजनों के लिए इनका पूर्णरूपेण पालन करना अनिवार्य था। गृहस्थों द्वारा उक्त वृत्तियों का पूर्णरूपेण पालन करना सम्भव नहीं था। अतः उन्हें उक्त वृतों के आंशिक पालन की अनुमति दी गयी थी। मोक्ष के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों में कहा गया है विमोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। अतः जैनधर्म में नैतिक आधारतत्व के महत्त्व और पालन पर विशेष बल दिया गया है।

जैन धर्म में सामाजिक व्यवस्था को संतुलित बनाने के लिए तथा वंश-विस्तारार्थ सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना गया है। महापुराणों में कहा गया है कि विवाह क्रिया गृहस्थों का धर्म है और सन्तान रक्षा गृहस्थों का प्रधान कार्य है क्योंकि विवाह न करने से सन्तति का उच्छेद हो जाता है और सन्तति के उच्छेद होने से धर्म का उच्छेद होता है।[27] जैन धर्म में भगवान ऋषभदेव को ही विवाह संस्था का संस्थापक बताया गया है। जैनाचार्यो के अनुसार पुनर्विवाह तथा विधवा-विवाह के प्रेरक ऋषभदेव थे। जैन परम्परा के अनुसार पूर्वकाल में यौवन प्राप्त करने के बाद बहन ही पत्नी बनती थी इस प्रथा को समाप्त कर ऋषभदेव ही विवाह संस्था की स्थापना की।

जैन आचार्यों ने विवाह संस्था को यौन सम्बन्धों को वैध एवं नियंत्रित करने के लिए आवश्यक माना है। कालिदास धर्म, अर्थ एवं काम को विवाह का मुख्य उद्देश्य माना है।[28] प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रीय परम्परा में विवाह के निर्धारित आठ प्रकार-ब्रह्म देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं वैशाच-सुविदित हैं।[29] जैन पुराणों में प्राप्त नहीं है, जैन आगमों में विवाह तीन प्रकार माता-पिता द्वारा आयोजित, स्वयंवर, गान्धर्व।[30] आदि पुराण में पति-पत्नी को सामाजिक दायित्व एवं पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा की गयी है। परिवार सम्बन्ध में जैन में सामन्यतया नियमों का अभाव मिलता है। उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि जिनके पास अपना कुछ नहीं है वे सुख से रहते हैं। यद्यपि यह वाक्य भिक्षुओं के लिए प्रतीत होता है। तथापि इस धारणा ने तत्कालीन जनमानस को प्रभावित किया।

नारी के प्रति जैन तीर्थकारों की दृष्टि गौतम बुद्ध से भी प्राप्त की थी, गौतमबुद्ध संघ में पुरुषों को अधिक श्रेष्ठ मानते थे, किन्तु जैन ग्रन्थों में कहीं भी नारी के प्रति भेद-भाव का उल्लेख नहीं मिलता है। जैन धर्म में स्त्रियों का पूर्णतः अधिकार रहता था। किसी सीमा तक परिवार की सम्पत्ति में भी उन्हें सीमित अधिकार प्रदान किया था।[31] महापुराणों में वर्णित है कि पिता की सम्पत्ति में पुत्र के समान पुत्रियाँ भी बराबर मांग की अधिकारी होती हैं।[32] जैन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि पुत्राभाव में ही पिता के धन पर पुत्री का स्वत्व सम्भव था।[33] जैन धर्म में प्रारम्भ से ही भिक्षुणियों को संघ में प्रवेश की अनुमति थी। जैन साहित्य में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि ऋषभदेव के समय भी भिक्षुणियाँ संघ में सम्मिलित थी। सुभद्रा का उल्लेख एक पवित्र-स्त्री के रूप में किया गया है। जैन भिक्षुणी के रूप में जयन्ती का विशेष रूप से लिया जाता है। जिन्होंने संसारिक सुखों से विमुख होकर भिक्षुणी जीवन अंगीकार किया। यह भी विदित तथ्य है कि महावीर भी सर्वप्रथम शिष्या अज्यचन्दना (स्त्री) थी जिसके अपरिमित ज्ञान एवं पद-प्रदर्शन से अनेक भिक्षुणियों का मोक्ष साथ हुआ था।

जैन धर्म में स्त्रियों के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो गुण सहित स्त्रियाँ है, जिनका यश लोक में फैला हुआ है तथा जो मनुष्य लोक में

देवता समान हैं और देवों में पूजनीय हैं, उनकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ को जन्म देने वाली महिलाएँ, श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती हैं, ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं, जिन्हें देवों के द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ, तथा जो शील के प्रभाव से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं। कल्पसूत्र टीका से उल्लेख प्राप्त होता है कि महावीर ने अपनी माता को दुःख न हो इस हेतु उनके जीवित रहते संसार त्याग नहीं करने का निर्णय अपने गर्भकाल में ले लिया था।[34]

श्वेताम्बर परम्परा में मल्लिकुमारी को तीर्थंकर माना गया है।[35] ऋषिमण्डल-स्तवन में, ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना आदि को माना गया है।[36] उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक की चूर्णी में मुनि रथनेमि को[37] तथा आवश्यक चूर्णी में ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा बाहुबलि को प्रतिबोधित करने का उल्लेख है।[38] **समवयांग, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र एवं आवश्यक निर्युक्ति** आदि में प्रत्येक तीर्थकर की भिक्षुणियों एवं गृह उपासिकाओं की संख्या उपलब्ध होती है।[39]

इस तरह से स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में सूक्ष्मता के साथ चिन्तन किया गया है। जैन तीर्थकरों ने केवल सामाजिक अनुदेश ही नहीं दिया बल्कि उसके साथ ही साथ तार्किक आधार भी प्रस्तुत किया था।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययन सूत्र 25/33।
2. महापुराण 16/183-185।
3. ऋग्वेद 10/90/12, महाभारत, पूना, 1932 अध्याय 396, श्लोक, 5-6, मनुस्मृति 1/31।
4. पद्मपुराण 3/356-258, हरिवंश 9/39।
5. उत्तराध्ययन सूत्र 27/3।
6. उत्तराध्ययन सूत्र 12/1।
7. न जातिगर्हिता काचिद्गुंणाः कल्याण करणम्
   व्रतस्थमपि चाण्डाल तं देवो ब्राह्मण विदुः। पद्मपुराण 11/203

तुलनीय-चातुर्वर्ण्य मयासृष्टं गुणकर्म विभागशः। गीता 4/13
महाभारत, शन्तिपर्व, 189/4-5, वराङ्गचारितम् 25/11

8. महापुराण 38/7-20, हरविंश 11/105, पद्मपुराण 5/195।
9. गोकुलचन्द्र जैन-यशस्तित्रक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 60।
10. द्विजाती हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतस्य यः।
क्रिया मंत्रीविहीनस्तु केवलं नाम धारकः। महापुराण 38/48
द्विजे के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य आते हैं। मनु 10रु4, याज्ञवल्क्य 1/10, वायु पुराण 59/21, ब्राह्मण पुराण 2/32/22।
11. जगदीशचन्द्रजैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 224-225।
12. क्षत्रात् त्रायत इत्यासीत् क्षत्रोऽयं भरतेश्वरः। महापुराण 44/30, पद्म 3/56।
13. क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन्। महापुराण 16/184।
14. महापुरण 42/13।
15. ये तु श्रुताद् द्रुतिं प्राप्ता नीचकर्म विधायिनः।
शूद्रसाामवायुस्ते भेदैः प्रेष्यादिभिस्तथा। पद्मपुराण 3/28, हरिवंश, 9/39।
16. आचारांग सूत्र द्वितीय (1.22)।
17. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/9/21/1, गौतम धर्मसूत्र 3/2, वशिष्ठ धर्मसूत्र 7/1-2, पी०वी० काणे-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग-2, खण्ड-1, पृ० 417-418।
18. पी०एन० प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृ० 78।
19. वही, पृ० 83।
20. मनु० 3/77, यथा वायुं समाश्रित्व वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।।
21. एस०एन०राय पौराणिक धर्म एवं समाज, 1968, पृ० 222।
22. सूत्र कृतांग 2/24/1/8।
23. सूत्र कृतांग 1/2/3/2।
24. महापुराण 42/179-191।
25. महापुराण 38/43, पद्मपुराण 109/80-81।
26. पद्मपुराण 11/201।
27. महापुराण 65/79।
28. गायत्री वर्मा-कालिदास के ग्रन्थः तत्कालीन संस्कृति 1963 पृ० 81।
29. आश्वलायन गृहसूत्र 1/6! बौधायन धर्मसूत्र 1/11 : गौतम 4/6-13, याज्ञवल्क्य 1/56-61। कौटिल्य 3/1/5, मनु० 3/21, विष्णुस्मृति 24/17-18, विष्णुपुराण 3/10/24, विष्णुधर्मोत्तर पुराण 24/18/19।
30. जगदीशचन्द्र-जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज 1965, पृ० 253।

31. याज्ञवल्क्य पर मिताक्षरा 2/143, 115, 123, 124, 135 प्रभावकचरित, पृ० 337-38।
32. पुल्यश्च संविभागाही: समं पुत्रैः समाशकैः। महापुराण 38/154।
33. एस०एन०राय-पौराणिक धर्म एवं समाज 1968, पृ० 222।
34. कल्पसूत्र 91-नौ खलुमेकत्पई अम्मापितीहिं जीवतेंही मुण्डे भविन्ता अगारवासाओ अखगरियं पत्पइए।
35. ज्ञाताधर्मकथा 8/186 तए ठां मल्ली अरहा.........केवलनाणदंसणे समुत्पन्ने।
36. ऋषिमण्डलस्तवन 208 अज्जा वि वंभि-सुन्दरि-राइमई चन्द्रणा पमुखाओं।
37. उत्तराध्ययन सूत्र 22 तथा दशवैकालिक चूर्णी पृ० 87-88 मणिविजय सीरीज भावनगर। तीसे सो वयणं सोच्चा सजयाए सुभासियं। अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइयो।।
38. आवश्यकचूर्णी भाग-1 पृ० 211 भवं वंभी-सुन्दरीओ पत्थवेति.....इमंव भणितो। ठाकिर हत्थिं विलग्गस्थ केवलनांण उपपज्जइ।।
39. कल्पसूत्र क्रमशः 197, 167, 157, व 134 प्राकृत भारती, जयपुर 1977 ई०।

68

बौद्ध धर्म एवं भिक्षुणी संघ

धर्मेन्द्र कुमार

भारतवर्ष अनेक धर्मों का संगम है। सभी धर्मों में पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों को भी स्थान दिया गया है। छठी शताब्दी ई० पू० भारत वर्ष में हिन्दू धर्म के विरोधी धर्म के रूप में बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बौद्ध धर्म ने भी स्त्रियों को दीक्षित होने का अवसर प्रदान किया जिससे उन्हें समाज में अपनी पहचान बनाने का अवसर मिला।

बौद्ध धर्म में भिक्षुणी वर्ग का विशिष्ट स्थान था, इसका कारण था नारी समाज के सभी वर्गों का भिक्षुणी वर्ग से प्रकट या अप्रकट रूप से सन्निकटता। उस समय नारी समाज में सूत्र कालीन व्यवस्था के विरोध में जो क्रांति हुई थी, उसका प्रमुख कारण भिक्षुणी वर्ग के प्रति नारी का आकर्षण एवं समादर भाव ही था।

बौद्ध भिक्षुणी संघ की स्थापना बौद्ध भिक्षु संघ के बाद हुई थी। वैशाली की कुटागारशाला में शंकित मन से बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने का निर्णय लिया और तभी भिक्षुणी संघ की स्थापना हुई। भिक्षुणी संघ की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द ने निभाई। भिक्षुणी संघ की स्थापना का श्रेय महाप्रजापति गौतमी को भी जाता है। गौतमी चलते--चलते बिहार कुटागारशाला में पहुंची। यहीं पर गौतमी की मुलाकात आनन्द से हुआ, तब स्वयं आनन्द ने जाकर बुद्ध से स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने की अनुमति मांगी। गौतमी तथा अन्य स्त्रियों को प्रव्रज्या का निर्देश देने के पहले उन्होंने आठ शर्तें रखीं, जिन्हें आठ गुरु धर्म कहा गया। 12 वर्ष से कम

की विवाहित शिक्षमाणा तथा 20 वर्ष से कम की अविवाहित शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्रदान करना निषिद्ध था। अयोग्य स्त्रियों को संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता था। भिक्षुणी संघ में ऐसी भी स्त्रियों ने प्रवेश लिया था जो व्यक्तिगत आघात या शोक के कारण अपना गृहणी जीवन त्याग दिया।[1] भिक्षुणी संघ का प्रमुख, भिक्षु संघ का प्रमुख ही होता था।[2] भिक्षुओं के समान भिक्षुणियों के प्रमुख बुद्ध ही थे।[3] भिक्षुणी संघ में जो भी कार्य होता था वह भिक्षु संघ के सहयोग से होता था।[4] उपसम्पदा प्रक्रिया में अपने से छोटे भिक्षु के प्रति श्रद्धा का भाव रखना पड़ता था।[5] भिक्षुणियों के लिये अकेले वनागमन प्रतिबंधित था।[6] भिक्षु-भिक्षुणी के साथ-साथ रहने से किंचित बुराईयों का प्रादुर्भाव हुआ। संघ में प्रवेश के लिए जाति, वर्ग विशेष का बंधन नहीं था, जहाँ सुमना, खेमा जैसी राजघराने की स्त्रियों ने संघ में प्रवेश लिया वहीं अडढकाशी, आम्रपाली जैसी अनुज्जवलभूत स्त्रियों ने भी संघ में प्रवेश किया। संघ में प्रवेश के लिए आवश्यक नहीं था कि वह कुमारी या अविवाहित ही हो।[7] उपसम्पदा की इच्छुक स्त्री को दो वर्षावास तक शिक्षमाणा का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। 24 प्रकार के दोषों का उल्लेख मिलता है, जिससे इन भिक्षुणी को दूर रहने की बात कही गई है।[8] शिक्षा का परित्याग कर या अन्य संघों में चले जाने के बाद उस संघ में पुनः प्रवेश सम्भव नहीं था।[9] उपसम्पदा याचना, दान उपाध्याय – ग्रहण आदि विधियां भिक्षुओं के समान ही थीं।[10] इन भिक्षुणियों के लिए उपाध्याया के अतिरिक्त पवत्तिनी शब्द का प्रयोग मिलता है।[11] उपाध्याया को शिक्षमाणा की अवस्था में सेवा अनिवार्य थी, पर भिक्षुणियों के लिए सर्वथा स्थविरता क्रम के नियम का पालन करना अनिवार्य नहीं था।[12] इन भिक्षुणियों को औपचारिक शिक्षा के लिए भिक्षु संघ से शिक्षा लेना आवश्यक था। अधिक उम्र की प्रतिनिधि भिक्षुणी से उपसम्पदा सम्भव था।[13] उपसम्पन्ना भिक्षुणी के लिए आवश्यक था कि वह भिक्षु संघ के उपोसथ एवं प्रवरणा में भाग लें। कालान्तर में इन उपोसथ एवं प्रवरणा में किसी चुनी हुई भिक्षुणी को ही भेजा जाता था। इन भिक्षुणियों को उपोसथ एवं प्रवरणा अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। जब भिछुड़िया आवास दान में मिलने लगें तो उनके लिए यह अनिवार्य अब नहीं रहा कि वे भिक्षुओं के साथ ही वर्षावास व्यतीत करें। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि भिक्षुणियां भी अकेले

अरण्यवास करती थीं।[15] भिक्षुओं के लिए यह आवश्यक था कि वह भिक्षुणियों को उपदेश दें, यदि वह ऐसा नहीं करतीं तो वह दोष की भागी होती थीं।[16] संघादिशेष के आरोप पर भिक्षुणी को अपना पक्ष भिक्षु एवं भिक्षुणी दोनों संघों में रखना पड़ता था।[17] भिक्षुणियों का संघीय जीवन भिक्षुओं के समान ही था। चीवर में उत्तरासंग, अंतरावासक, अंगरखा और उदकसारी धारण करने का विधान था। प्राप्त नए चीवर को काले, नीले रंग या कीचड़ से दुर्वण बना लेना आवश्यक था।[18] भिक्षुणी नहाने के लिए जनाने घाट का प्रयोग करती थीं।[19] भोजन के लिये भिक्षुणियां समूह में जाती थीं तथा भिक्षा मांग कर जीवन यापन करती थीं।[20] अकेने भिक्षाटन करना वर्जित था।[21] भिक्षु को देख कर भिक्षुणियों को अपना पात्र खोलकर उन्हें दिखाना तथा भोजन के लिए आमंत्रित करना आवश्यक था। अधिक भोजन होने पर भिक्षु-भिक्षुणियों को अपने संघों को भोजन अर्पित करना पड़ता था।[22] यदि पूरे संघ को कोई लाभ सत्कार मिलता तो भिक्षु-भिक्षुणी संघ दोनों का बराबर हिस्सा दिया जाता था।[23] पालि साहित्य में भी उल्लेख मिलता है कि भिक्षुओं की तुलना में भिक्षुणियों की स्थिति निम्न थी। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि संघ में भिक्षुणियों की स्थिति श्रेष्ठ थी जिसकी बुद्ध ने भी प्रशंसा की है।[24] खेमा भिक्षुणी की मेघाविता सर्वविदित ही है।[25]

अभिलेखिक स्रोतों से स्पष्ट होता है कि मौर्य काल तक भिक्षुणी संघ का प्रभाव था, क्योंकि अशोक के सारनाथ, सांची, कौशाम्बी के अभिलेखों एवं वैराट-प्रज्ञापन में भिक्षुणी का उल्लेख हैं। मौर्योत्तर काल में भिक्षुणियों की स्थिति हीन होती गई। बाद में अभिलेखों में उनके लिए किसी सम्मानित उपाधि का आभाव मिलता पर उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में नवीं, दशवीं शती तक बना रहा।[26]

सन्दर्भ

1. रीस डेविड्स, सिस्टर्स, भूमिका, पृ० 24, 27।
2. ओल्डेनबर्ग, 1882, 377, 378।
3. रीस डेविड्स, सिस्टर्स, भूमिका, पृ० 32, गाथा, 69 (सुन्दरी)।
4. विनय सुत्तविभंग, भिक्खुनी पातीयोक्ख।

5. विनय चुल्लवग्ग, 10.1.4, 10.3।
6. वि० चु० 10.23।
7. रीस डेविड्स, सिस्टर्स, भूमिका, पृ० 33।
8. वि० सु० 10.17.1।
9. वि० चु० 10.26।
10. वही, 10.17.2 आगे।
11. उपासक मोनास्टिक दर्म्स, पृ० 147।
12. वि० चु० 10.18।
13. वही, 10.22।
14. वही, 10.6, और 10.19.20।
15. रीस डेविड्स, सिस्टर्स गाथा 24, 35।
16. वि० चु० 10.9.3, और आगे।
17. वि० सु० पाराजिक एवं संघादिशेष धम्म।
18. वि० सु० 10.11.4, वि० पा० 13 आगे।
19. वि० चु० 10.27.4।
20. रीस डेविड्स, सिस्टर्स गाथा, 59, 34।
21. तुलनीय हार्नर, 1975, 218, 219।
22. वि० चु० 10.14, 10.15।
23. वि० म० 8.32।
24. अ० नि० 10.3.8, 1.14।
25. सं० नि० 44.1।
26. शास्त्री, 1965, 142-44।

69

श्रावस्ती पर बौद्ध धर्म का स्वर्णिम प्रभाव

अमरेश कुमार यादव एवं रीतेश यादव

भगवान बुद्ध की जन्मस्थली (लुम्बिनी) परिनिर्वाण स्थली (कुशीनगर) एवं कर्मस्थली के केन्द्र बिंदु में अवस्थित स्थल श्रावस्ती महान कोशल राजवंश की राजधानी थी। अंगुत्तर निकाय में कौशल की गणना छठी सदी ई० पू० के सोलह महाजनपदों में की गयी है। सरयू-अचिरावती सरिता की अंतर्वेदी में अवस्थित श्रावस्ती के पुरावशेष सहेत (जेतवन) तथा महेत (श्रावस्ती नगर) स्थलों से प्राप्त हुये हैं।[1] श्रावस्ती मुख्य भूमि उत्तर-पूर्वी गोलार्द्ध में 27° 31' उत्तरी अक्षांश और 82° 1' पूर्वी देशांतर पर स्थित है। बौद्ध स्त्रोतों में श्रावस्ती का नामकरण मुनि श्रावस्ता[2] के नाम पर माना जाता है। श्रावस्ती के नामकरण सम्बन्धी और भी प्रसंग प्राप्त होते हैं, जिन्हें लेकर विद्वानों में मतभिन्नता है। श्रावस्ती के चहुंमुखी उन्नयन में जिस एक तत्त्व का सर्वाधिक योगदान था वह था बौद्ध धर्म।

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती भगवान बुद्ध की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था। महात्मा बुद्ध ने 21वें से 45वां वर्षावास श्रावस्ती में ही व्यतीत किया था। बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी श्रावस्ती का महत्वपूर्ण स्थान था। भगवान बुद्ध ने प्रथम निकायों के 871 सुत्तों का उपदेश श्रावस्ती में दिया था, जिनमें 844 जेतवन में, 23 पुब्बारा में और 4 श्रावस्ती के आस-पास के अन्य स्थलों पर उपदिष्ट किये गये थे।[3] श्रावस्ती में महात्मा बुद्ध के रहने के लिए जेतवन, पुब्बाराम विहार बनवाये गये। इन विहारों की तर्ज पर पूरे भारतवर्ष में विहार निर्माण किये जाने लगे जो स्थापत्यकला के स्तरोन्नयन और श्रावस्ती के विहारों के प्रभाव को स्थापित करते हैं। श्रावस्ती

में निवास करते हुए महात्मा बुद्ध ने वैश्यों के अतिरिक्त ब्राह्मणों और भिक्षुणियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। बुद्ध ने इन कार्यों के प्रभाव स्वरूप श्रावस्ती में वर्णभेद एवं लिंगभेद की समस्या नहीं रही।

श्रावस्ती की भौतिक समृद्धि का एक कारण यह था कि यहाँ पर तीन प्रमुख व्यापारिक पथ मिलते थे जिससे यह व्यापार का एक महान केन्द्र बन गया था। यह नगर पूर्व में राजगृह से, उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला से और दक्षिण में प्रतिष्ठान से जुड़ा हुआ था।[4] श्रावस्ती से राजगृह का रास्ता वैशाली होकर गुजरता था। यह मार्ग सेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, भोगनगर और वैशाली से होकर जाता था।[5] संभवतः बुद्ध ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में इस सुविधा को ध्यान में रखते हुए श्रावस्ती में ही सर्वाधिक वर्षावास व्यतीत किया। यही नहीं इन मार्गों से होकर अनेक स्थलों से अनुयायी बुद्ध के दर्शनार्थ आते थे जिससे श्रावस्ती की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि भी हुई होगी। महात्मा बुद्ध ने इन मार्गों पर लूट-पाट करने वाले अनेक चोरों और डाकुओं को अपना अनुयायी बना लिया था जिससे ये मार्ग निष्कंटक हुए और नगरों की समृद्धि में वृद्धि हुई।

कालांतर में बौद्ध धर्म के प्रभाव स्वरूप ही अनेक विदेशी यात्रियों का भारत आगमन हुआ। श्रावस्ती की यात्रा पर आने वाले विदेशी यात्रियों में फाह्यान[6] और ह्वेनसांग प्रमुख हैं। इन यात्रियों ने न सिर्फ श्रावस्ती की यात्रा की बल्कि उसके यश को पूरे विश्व में फैलाया। ह्वेनसांग के अनुसार श्रावस्ती के पूर्व थोड़ी दूरी पर एक छोटा सा स्तूप था जो प्रसेनजित द्वारा भगवान बुद्ध के लिए बनवाया गया था। इसके पार्श्व में एक अन्य स्तूप है। यह उसी स्थान पर बना है जहाँ अंगुलिमाल ने नास्तिकता का परित्याग कर बौद्ध धर्म को अंगीकृत किया था।[7] फाह्यान और ह्वेनसांग द्वारा श्रावस्ती संबंधित दिये गये विवरणों के आधार पर वहाँ विद्यमान अनेक प्राचीन स्मारकों की पहचान संभव हो सकी।

अतः स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म ने श्रावस्ती के चहुंमुखी विकास में महती योगदान दिया। छठी सदी ई० पू० में श्रावस्ती की परिगणना षड महानगरियों में की जाती थी, महात्मा बुद्ध के प्रभाव स्वरूप यह उस समय अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त की। बौद्ध धर्म ने श्रावस्ती के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक

एवं सांस्कृतिक महात्म्य को प्रतिष्ठापित किया। श्रावस्ती की महत्ता का यह क्रम बारहवीं सदी ई० तक बना रहा। अतः धन्य थी वह श्रावस्ती - सावत्यि नगरी जिसके विषय में कथित है कि 'सब्बं अत्थि' अर्थात् जहाँ सब कुछ सभी के लिए विद्यमान था।

संदर्भ

1. आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग - 1, पृष्ठ 330।
2. ला, बी०बी०सी०; श्रावस्ती इन इंडियन लिटरेचर, पृष्ठ - 1।
3. भरत सिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ - 237।
4. विशुद्धानन्द पाठक, हिस्ट्री ऑफ कौशल, पृष्ठ - 59।
5. "राजगंह कपिलवस्थुतो दूरं सट्ठि योजनानि, सवत्थि पन पन्चदश। सत्था राजगहतो पन्चतालीसयोजनं आगन्तवा सावत्थियं विहरति।।"

   मज्झिमनिकासय, अट्ठकथा, 1/3/4
6. जेम्स लेगे, दि ट्रैवेल्स ऑफ फाह्यान, पृष्ठ - 56।
7. थामस वाटर्स, आन युवानच्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, पृष्ठ 377।

70

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध प्रतीकों का प्रभाव

पुष्पलता कीर्ति

समाज के सुचारू संचालन के लिये आवश्यक है कि मन सही गति से चले, बुद्धि का विकास हो, चित्त का संस्कार बने और मनुष्य सुसंस्कृत हो। कैसिरेर ने मनुष्य को प्रतीकात्मक पशु माना है। अर्थात् समाज की हर अच्छाई बुराई का कारण प्रतीक होता है। ईश्वर की प्रतीकात्मक सत्ता का एकीकरण करना होगा। बौद्ध धर्म की प्रगति ने भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन के विभिन्न पक्षों को अनुप्राणित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उदाहरणार्थ विष्णु के 24 अवतार, जैनों के 24 तीर्थंकर, बौद्धों के 24 बोधिसत्व और सांख्य के 24 तत्वों को सारनाथ के स्तम्भ शिखर के धर्मचक्र में 24 अर में भी दिखाए गये। यही चक्र एक विश्वव्यापी तत्त्व का प्रतीक बना जो आज भारत का राष्ट्रीय प्रतीक है। 'सत्यमेव जयते' जिस पर लिखा है, तथा राष्ट्रध्वज के चक्र की 24 तिलियां भी यही उद्देश्य दर्शाती हैं।

बौद्ध धर्म के रूप में भारत को एक लोकप्रिय धर्म मिला जिसे जटिल, विस्तृत तथा गूढ़ कर्मकाण्डों की आवश्यकता नहीं थी, जो केवल पुरोहित वर्ग के द्वारा ही सम्मान किये जा सकते हैं। हिन्दू धर्म के व्यक्तिगत देवताओं की पूजा करने, उनके मूर्तियां बनाने और विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित मन्दिरों का निर्माण करने सम्बन्धी धार्मिक विश्वासों को महायान बौद्धों से ही अनुकरण किया गया था। ध्यातव्य है कि भरहुत सांची के प्रदर्शनों से महादेवी का स्वप्न सफेद गज के रूप में प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में अनेक

ऐसे प्रतीक मिलते हैं जो कालान्तर में जनजीवन, लोक परम्परा एवं संस्कृति पर प्रभाव डालते नजर आते हैं। इन प्रतीकों को शिक्षा के क्षेत्र से लेकर धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों तक विस्तार मिला।

सिंह धर्म का प्रतीक है। इस लिये बुद्ध की मूर्ति स्थाणुक या आसन जिस किसी मुद्रा में क्यों न दिखायी जाये, मूर्ति के पीठ अथवा आसन के नीचे सिंह बना रहता। ध्यातव्य है कि विजय व धर्म के प्रतीक को अशोक के सारनाथ स्तम्भ पर चर्तुसिंहों द्वारा दर्शाया गया। यही विजय का प्रतीक भारत का राष्ट्रीय 'सारनाथ का अशोक चक्र' बना जो धर्म चक्र है अर्थात् रक्षा शक्ति है।

वैष्णव धर्मावलम्बी विष्णु का चक्र एवं बौद्ध धर्म का चक्र दोनों में पर्याप्त अन्तर है। विष्णु का चक्र एक आयुध है जो युद्ध में प्रयोग किया जाता है, जब कि बौद्ध चक्र ज्ञान तथा इच्छा शक्ति का प्रतीक है। अत: चक्र की भांति बौद्ध उपदेश पूरे विश्व में, चहुं दिशाओं में घूमते रहे। इस प्रकार धर्मधारण करने वाली शक्ति है।

धर्म के द्वारा साहित्य तथा कला के द्वारा संगीत तथा श्रृंगार के द्वारा सामाजिक एकता का विकास होता है। साहित्य एवं कला के माध्यम से एक समाज दूसरे समाज को समझने व पहचानने लगता है।

भारतीय जन जीवन के प्रति बौद्ध धर्म का महानतम एवं सर्वोत्कृष्ट योगदान स्थापत्य एवं शिल्प के क्षेत्र में रहा है। सांची, भरहुत, अमरावती के स्तूपों, अशोक के प्रस्तर स्तम्भों तथा कन्हेरी (बम्बई), कार्ले (पूणे) और नासिक के गुहा, चैत्य एवं विहार बौद्ध कला के सर्वोत्तम निदर्शन हैं। सुन्दर तोरण द्वारों एवं वेदिका से युक्त सांची का महास्तूप अपनी वास्तुकला एवं शिल्प सौष्ठव दोनों के लिये विश्वविख्यात है। इस प्रकार भारतीय कला केवल भारत में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में विख्यात रही।

इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत ने देशों को सभ्य बनाने और विभिन्न देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार करने में भारत के अलगत्व को समाप्त किया और विदेशों के साथ भारत के घनिष्ठ सम्बन्धों की स्थापना की दिशा में सेतु का काम किया। अशोक के शासन काल से ही बौद्ध

धर्म प्रचारक भारतीय संस्कृति और सभ्यता को चीन, मंगोलिया, कम्पूचिया, कोरिया, जापान, म्यामांर, जावा, सुमात्रा, इण्डोनेशिया आदि विभिन्न देशों में ले गये।

शिक्षा के क्षेत्र में तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्दा, श्रावस्ती जैसे विश्वविद्यालयों में चीन, बर्मा, तिब्बत के छात्रों का अध्ययन करना इस बात का प्रमाण है कि भारत की संस्कृति शिक्षा के क्षेत्र में भी किसी से कम न रही। अतः इन विश्वविद्यालयों की प्रसिद्धि बौद्ध शिक्षा की उत्कृष्टता का प्रतीक है।

धार्मिक कर्मकाण्डीय विधि और विचार के रूप में प्रतीक समाज के हर स्तर पर व्याप्त हो गये। ये प्रतीक इस प्रकार व्याप्त हुए कि इसकी प्रथा आज तक चली आ रही है। जैसे वटवृक्ष, अश्व, गज, चक्र आदि। अतः भारत में न केवल मूर्तिपूजा, बल्कि वृक्षपूजा, पशुपूजा का प्रचलन हो गया जो वर्तमान में भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आज भी वृक्ष पूजा मनुष्य के प्राथमिक जीवन का अंग है।

हालांकि लगभग एक हजार वर्ष पूर्व विभिन्न कारणों से भारत में बौद्ध धर्म का प्रचलन हो गया लेकिन दक्षिण पूर्व एशिया के प्रायः सभी भागों में ये अब भी एक जीवन्त धर्म है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारत में भाषा, दर्शन, वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला, शिक्षा, मूर्तिपूजा, प्रतीक पूजा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय संस्कृति एवं कला में इसके प्रभाव का सदैव अनुभव किया गया तथा इसकी प्रशंसा कर इसको अंगीकार किया गया। बौद्ध धर्म का भारतीय जनजीवन एवं संस्कृति पर आज भी एक जीवन्त प्रभाव है।

इस प्रकार बौद्ध संस्कृति अध्यात्मिकता से ओतप्रोत धार्मिक सहिष्णुता और कर्तव्य परायणता को अंगीकृत करती हुई। निरन्तर प्रगति की सोपान पर गतिमान रही है। जीवन के सन्दर्भ में एकता का उद्घोष करती हुई आगे बढ़ती गयी तथा कला को जीवित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती रही। अतः बौद्ध संस्कृति अतीत, वर्तमान और भविष्य में तादात्म्य स्थापित कर जीवन की समग्रता को उद्घोषित करती रही। इसका प्रभाव वर्तमान समय में स्पष्ट देखा जा सकता है।

सन्दर्भ

अग्रवाल, डॉ० गिरिराज किशोर, कला समीक्षा, अलीगढ़, 1970।

अग्रवाल, डॉ० वासुदेव शरण, भारतीय कला, वाराणसी, 1977, कला और संस्कृति, 1952, लोक का प्रत्यक्ष दर्शन, सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति।

गुर्टू, शची रानी, कला दर्शन, दिल्ली, 1956।

मिश्र, डॉ० विद्यानिवास, हिन्दू धर्म, तीर्थ और पर्वोत्सव हिन्दू धर्म जीवन में सनातन खोज।

जोशी, महादेव शास्त्री, हमारी संस्कृति के प्रतीक आर०बी० सिंह धनवटे चैम्बर्स ।

मिश्र, जनार्दन, भारतीय प्रतीक विद्या।

वर्मा, परिपूर्णानन्द, प्रतीक शास्त्र।

अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद।

Ansley, Mrs. Murrey, Symbolism of east and west.।

वर्मा, सांवलिया बिहारीलाल, भारत की प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास।

रे, नीहाररंजन, भारतीय कला के आयाम, दिल्ली, 1964।

अग्रवाल, वासुदेवशरण, चक्रध्वज द व्हील प्लैग ऑफ इण्डिया, वाराणसी, 1064।

शोध निबन्ध

एस० सुब्रमण्यम् अय्यर, डिविक्सन ऑफ बुद्ध इन द कुषाण पीरियड, वाजपेय खण्ड – 2

कृष्णदत्त वाजपेयी, भारतीय जीवन दर्शन और ललित कला, कला सरोवर, वाराणसी, 1987।

71

बौद्ध धर्म की अमूल्य धरोहर : अजंता

नूतन यादव

भारतीय कला एवं स्थापत्य बौद्ध धर्म का अत्यधिक ऋणी है। अनेक शासकों ने बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर स्तम्भों, स्तूपों, चैत्यों, गुफाओं, मूर्तियों आदि का निर्माण करवाने में अत्यधिक रूचि ली। बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिये भारत के विभिन्न भागों में चट्टानों को काटकर शैल गुहाओं का निर्माण कराया गया। बोधिसत्व तथा बुद्ध की स्मृति में अनेक स्तूप बनवाये गये तथा उनपर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को अंकित किया गया। अजंता, एलोरा तथा बाघ की पर्वत गुफाओं के निर्माण की प्रेरणा बौद्ध धर्म से ही मिली थी। बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक ऐसे धार्मिक स्थल स्थापित हुए जहाँ स्तूपों चैत्यों, मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। राजवंशों, श्रेणियों तथा जनसाधारण द्वारा दिये गये प्रोत्साहन और संरक्षण से इन केन्द्रों में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला इत्यादि का अत्यधिक विकास हुआ। बौद्ध धर्म के ऐसे प्राचीन स्थलों में अजंता का स्थान अद्वितीय है। अजंता की सभी शैल गुफायें स्थ.ापत्य, शिल्प तथा चित्रकला की दृष्टि से बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ गुफाओं का सम्बन्ध बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय से है और कुछ गुफाओं का सम्बन्ध महायान सम्प्रदाय से है।

अजिण्ठा, जो वर्तमान समय में अजंता के नाम से विख्यात है, महाराष्ट्र के औरंगाबाद जिले में बाघोरा जल प्रपात के निकट एक अर्द्धचन्द्राकार पर्वत है, जिसमें बौद्ध धर्म के उन्तीस गुहा चैत्यगृह और विहार हैं। अजंता के शैल गृहों की खुदाई का काम ईसा पूर्व द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी में प्रारम्भ हुआ और सातवाहनों के प्रबुद्ध संरक्षण में यह कार्य ईस्वी सन् की प्रारम्भिक

शताब्दियों तक निर्बाध रूप से चलता रहा। इसके पश्चात् लगभग तीन शतकों के सुदीर्घ व्यवधान के अनंतर वाकाटक काल में ईस्वी पांचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ये काम एक नवीन उत्साह के साथ पुनः हाथ में लिया गया और छठी शताब्दी के अंत में अथवा सातवीं सदी के आरम्भ भाग में पूर्ण हुआ। यह कलामण्डप बौद्ध वास्तु, मूर्ति और चित्रकलाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। चित्रकला की उत्कृष्टता के कारण अजन्ता की गुफाओं का अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व है। इन शैल गुहाओं की दीवारों, स्तम्भों और छतों पर भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं और जातक कथाओं के चित्र अंकित हैं। इन भित्तिचित्रों का धार्मिक महत्त्व तो है ही साथ ही कलात्मकता की दृष्टि से ये भित्तिचित्र बेजोड़ हैं। भारतीय कला का गौरव विश्व प्रसिद्ध अजन्ता की गुफायें लगभग 1200 वर्षों तक अंधकार के गर्त में थीं। कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने भारत की इस समृद्ध कला परम्परा से विश्व को परिचित कराया। उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार सर्वप्रथम 1819 ई० में मद्रास रेजीमेण्ट के कुछ अधिकारियों का ध्यान इन गुफाओं की ओर गया। स्थानीय परम्परा के अनुसार कुछ ब्रिटिश सैनिक अधिकारी दक्खिन से उत्तर की ओर जाते हुए अजन्ता घाट से होकर गुजरे। उनमें से शिकार में रूचि रखने वाले एक अधिकारी ने ग्रामवासियों से बाघों के सम्भावित आश्रय के विषय में पूछा। एक चरवाहा उसे बाघों का घर दिखाता हुआ गुफाओं के सामने घाटी के दूसरी ओर ले गया। वहाँ से उस अधिकारी को शैल गृह संख्या – 10 का अग्रभाग दिखाई दे गया। अग्र भाग पर नक्काशी के काम से आकृष्ट होकर वह गुफा में गया और इस प्रकार अजन्ता की विस्मृत गौरवमयी कला सम्पदा पुनः प्रकाश में आयीं। 1819 ई० में शैलगृहों की खोज के पश्चात् इनकी सर्वप्रथम चर्चा विलियम एर्स्किन ने 1822 ई० में बाम्बे लिटरैरी सोसाइटी के विवरण में की। 1824 ई० में लेफ्टिनेंट एर्स्किन ने 1822 ई० में बाम्बे लिटरैरी सोसाइटी के विवरण में की। 1824 ई० में लेफ्टिनेंट जेम्स ई० अलेक्जैंडर ने इन गुफाओं की यात्रा की और उनका तथा उनके भित्तिचित्रों का संक्षिप्त विवरण रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन को भेजा जो 1829 में प्रकाशित हुआ। 1828 ई० में कैप्टन ग्रैसले और राल्फ वहाँ गये और राल्फ द्वारा प्रस्तुत भित्तिचित्रों का सजीव वर्णन बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में प्रकाशित हुआ। जेम्स फर्ग्युसन ने 1839 में इन गुफाओं का निरीक्षण

किया तथा रायल एशियाटिक सोसाइटी के समान 1843 में पश्चिम भारतीय शैलगृहों पर एक विस्तृत निबन्ध प्रस्तुत किया। 1845 में मद्रास आर्मी के कप्तान राबर्ट गिल को चित्रों की प्रतिलिपि बनाने के लिए नियुक्त किया गया और कई वर्षों तक श्रम करके उसने अनेक चित्रों की अति सुन्दर तेल प्रतिलिपियां बनाकर इंग्लैण्ड भेजी। इनमें से पांच को छोड़कर सभी चित्र क्रिस्टल पैलेस कम्पनी, सिडेनहम द्वारा 1866 में आयोजित एक प्रदर्शनी में आग लग जाने के कारण नष्ट हो गये। गिल ने इन प्रतिलिपियों के फोटोग्राफ 'राक टेपल्स ऑफ अजंता एंड एलोरा' (1862) तथा 'वन हंड्रेड स्टीरियोस्कोपिक इलस्ट्रेशंस ऑफ आर्किटेक्चर एंड नैचुरल हिस्ट्री' (1864) नामक पुस्तकों में प्रकाशित किये।

सातवाहन काल में दक्खिन में बौद्ध धर्म अपने चरम उन्नति अवस्था में था और महाराष्ट्र के कुछ स्थान बौद्ध धर्म के स्थविरवाद और महासंघिक सम्प्रदायों के विभिन्न निकायों के गढ़ थे। इस काल में सातवाहनों की प्रेरणा के फलस्वरूप अजंता, भाजा, कार्ले, पीतलखोरा, कोण्डाने, जुन्नार, कान्हेरी इत्यादि विभिन्न स्थानों में बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए पर्वतों को काटकर सैकड़ों विहारों और चैत्यगृहों का निर्माण किया गया। अजन्ता के हीनयान सम्प्रदाय से सम्बद्ध शैलगृह इसी काल के हैं। ईस्वी तृतीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विदर्भ में वाकाटक वंश का उदय हुआ। सम्पूर्ण विदर्भ तथा उससे लगा हुआ मध्यप्रदेश एवं मराठवाड़ा का एक बड़ा भू-भाग वाकाटकों के अधीन था। अभिलेखीय साक्ष्यों से प्रमाणित है कि अजन्ता का प्रदेश भी वाकाटक राज्य के अंतर्गत था। वाकाटक काल के अंतिम चरण में अजन्ता के शैलगृहों के निर्माण का कार्य, जो लगभग पिछली तीन शताब्दियों से अवरूद्ध पड़ा था, एक नवीन चेतना और वेग के साथ पुनः आरम्भ हुआ। सोलहवीं गुफा के बरामदे के बाहर बायीं ओर के दीवार के अंतिम सिरे पर उत्कीर्ण एक लेख से पता चला है कि स्तम्भों, चित्रभित्तियों, मूर्तियों इत्यादि से अलंकृत इस शैलगृह का निर्माण हरिषेण के अमात्य वराहदेव ने कराया था। अजंता की सत्रहवीं गुफा के बरामदे के भित्ति पर उपलब्ध एक लेख के अनुसार हरिषेण में मांडलिक रविसांब ने एक विहार तथा गंधकुटीर बनवाकर बौद्ध संघ को अर्पित की थी। पुलकेशी के राज्यकाल में ई० 641 के लगभग चीनी यात्री ह्वेनसांग महाराष्ट्र में

आया। उसने कुछ समय पुलकेशी के राज्य के पूर्वी सीमा पर स्थित अजन्ता के शैलगृहों में भी बिताया था। उसका अजन्ता वर्णन यथातथ्य है। अभिलेखीय साक्ष्य से स्पष्ट है कि अजन्ता के शैलगृहों के अलंकरण का कार्य चालुक्य काल में भी जारी था। अजन्ता के शैलगृहों के निर्माण एवं चित्रण का कार्य राष्ट्रकूट काल के पूर्व ही समाप्त हो चुका था। अजन्ता के सभी शैलगृह स्थापत्य, शिल्प तथा चित्रकला की दृष्टि से बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। चुल्लवग्ग के अनुसार भिक्षुओं के लिए जिन पांच प्रकार के निवास स्थानों का विधान तथागत ने किया था उनमें अंतिम गुहायें थीं।

अजन्ता की सभी गुफायें चित्रों से अलंकृत थीं। ये गुफायें दो कालखण्डों में निर्मित एवं चित्रित हैं। गुफा संख्या – 9 तथा 10 में सातवाहन काल में तथा शेष गुफाओं में वाकाटक एवं वाकाटकोत्तर काल में चित्रों का निर्माण हुआ। गुफाओं की भित्तियां, छत तथा मूर्तियां सभी चित्रित थीं। इस समय केवल छः गुफाओं (संख्या एक, दो, नौ, दस, सोलह तथा सत्रह) में चित्रों के अवशेष दृष्टिगत होते हैं। अन्य गुफाओं में चित्रांकन के चित्र यहाँ वहाँ विद्यमान हैं। अजन्ता के चित्र धार्मिक आधार पर हीनयान और महायान में विभाजित हैं। गुफा संख्या नौ और दस चित्र हीनयान परम्परा से अनुप्राणित हैं जिनमें बौद्ध मान्यता के अनुसार भगवान बुद्ध की उपस्थिति प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त की गयी है। शेष गुफाओं के चित्र महायान परम्परा के अनुरूप हैं जिनमें हम भगवान बुद्ध को मनुष्य रूप में अंकित पाते हैं। गुफा संख्या दस का निर्माण काल अभिलेखीय आधार पर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी तथा संख्या नौ का ईसा पूर्व पहली शताब्दी माना गया है। किन्तु दोनों का चित्रांकन एक ही काल में हुआ है। जैसा कि चित्रों की शैली तथा रंगविन्यास और आकृत योजना से स्पष्ट है। गुफा सं० 16 और 17 वाकाटक काल में बनायी गयी थीं। इस काल में अजन्ता की चित्रकला अपनी चरम विकासावस्था पर पहुंच गयी थी। गुफा संख्या एक के चित्र इसी अवस्था के हैं। गुफा संख्या दो के कुछ चित्र इस परम्परा में रखे जा सकते हैं। किन्तु अधिकांश चित्र तकनीकी तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से हीन हैं। इस गुफा के चित्रों में अलंकरण तथा पारंपरिकता का दर्शन अधिक होता है। यह अत्यन्त खेदजनक है कि इन अनुपम और अमूल्य चित्रों को नष्ट करने में प्रकृति की अपेक्षा मानव का हाथ अधिक रहा है। आधुनिक

काल में ई० 1919 में जब ये गुफायें सर्वप्रथम प्रकाश में आयीं तब भी नैसर्गिक कारणों से जर्जरित होने पर भी ये चित्र काफी अच्छी स्थिति में थे। 1822 ई० में विलियम एर्स्किन तथा 1824 ई० में जेम्स ई० अलेक्जैंडर ने अपने विवरणों में अजंता के चित्रों की ताजगी एवं सुरक्षित स्थिति की चर्चा की थी। किन्तु इसके पश्चात् ही अजन्ता के चित्रों का विनाश आरंभ हो गया।

अजंता के चित्र टेंपरा विधि से बनाये गये हैं। गुफा तथा शिल्प का निर्माण कार्य पूर्ण होने पर उनकी ऊबड़-खाबड़ सतह को जो इन चित्रों के वाहक का कार्य करती हैं, मिट्टी के पलस्तर से समतल किया जाता था। छेनियों के आघात तथा पत्थरों की प्रकृति के कारण कई बार बड़े-बड़े चिप्पड़ निकल जाते थे जिनसे उनमें गहरी खरोंचे पड़ जाती थीं। यह असमतल सतह गारे की पकड़ के लिए दाँत का काम करती थी और शेष लेप अच्छी तरह जम जाता था। इस पलस्तर को और अधिक मजबूती से जमाने के उद्देश्य से मिट्टी में वनस्पतियों के रेशे, धान के छिलके, घास, रेत अथवा पत्थरों का चूर्ण और गोंद अथवा सरेस मिलाए हुए दृष्टिगत होते हैं। कुछ गुफाओं में गोंद की जगह जिप्सम का प्रयोग पाया गया है। इस खुरदुरे मोटे पलस्तर को चिकना करने के उद्देश्य से उस पर महीन शिलाचूर्ण अथवा बालू तथा बारीक रेशेदार वानस्पत्य पदार्थ से युक्त कीचड़ और लोहमय मिट्टी की एक और तह दी गई है तथा इसके ऊपर चूने का लेप कर चिकना तथा चित्राधार तैयार किया गया है। बारीक पलस्तर की यह ऊपरी तह अंडे के छिलके जितनी महीन है। इस सतह के ऊपर विविध रंगों से चित्रों का निर्माण किया गया है। अजन्ता के चित्रों में प्रमुखतया: पीले, लाल, नीले, सफेद, काले और हरे रंग का प्रयोग हुआ है। रंगों के विविध अनुपातों में सम्मिश्रण से कई अन्य रंग छटायें तैयार की गयी हैं। छ: प्रमुख रंगों में से काले को छोड़कर शेष रंग खनिजों से तैयार किये गये हैं। छ: रंगों के रासायनिक विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इन रंगों को गोंद अथवा सरेस के साथ पानी में घोलकर तैयार किया गया है।

अजंता के प्राचीनतम चित्र दसवीं एवं नवीं गुफाओं में पाये जाते हैं। ये चित्र सातवाहन कालीन हैं। गुफा संख्या - 10 में बोधि वृक्ष पूजा, स्तूप पूजा, सामजातक, षडदन्तजातक के दृश्य अंकित हैं। गुफा संख्या - 9 में नागराजा,

पशुओं का खेदा, स्तूप पूजा के चित्र अंकित हैं। अजंता की अधिकांश गुफायें वाकाटक काल की हैं। इस काल में गुफा सं० - 1 शिव जातक, नंद की दीक्षा, बोधिसत्व पद्यपाणि, मारविजय के दृश्य अंकित हैं। अजंता का सबसे व्याख्यात चित्र बोधिसत्व पद्यपाणी का है। बोधिसत्व का अंकन अजंता के चित्रकारों का प्रिय विषय था। गुफा संख्या-16 में बुद्ध का तुषित स्वर्ग में उपदेश, अजातशत्रु-बुद्ध भेंट, बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध चित्र अंकित हैं। गुफा सं० 17 में संसार चक्र, विश्वंतर जातक, आकाशचारी इंद्र तथा अप्सराएं, मानुषी बुद्ध एवं राहुल की दीक्षा का दृश्य अंकित है। वाकाटकोत्तर कालीन चित्रों में महाहंस जातक, बुद्ध के जीवन के दृश्य, सहस्त्र बुद्ध, बोधिसत्व इत्यादि चित्र अंकित हैं।

अजंता की कला का मुख्य विषय बौद्ध धर्म से जुड़ा है फिर भी तत्कालीन लौकिक जीवन का ऐश्वर्य अजन्ता में पर्याप्त रूप से झलकता है। राजकीय वैभव से लेकर भिक्षु जीवन तक का अंकन अजंता गुफाओं की कला में देखा जा सकता है। तत्कालीन लोकजीवन के विभिन्न पक्ष अजंता की गुहा दीवारों पर सजीव हो चुके हैं। अजन्ता गुफाओं की कला में रहन-सहन, वेश-भूषा, वस्त्राभूषण, खान-पान, शस्त्रास्त्र, स्थापत्य, मनोविनोद, यातायात के विविध साधन, पशु संपदा, वनस्पतिजगत तथा विभिन्न व्यापार व्यवहार का जो सूक्ष्म अंकन है वह तत्कालीन संस्कृति के अध्ययन का एक श्रेष्ठ और अनूठा साधन है। अजन्ता की कला समकालीन भारतीय संस्कृति के ज्ञान के लिए अनमोल विश्वकोश है। अजन्ता की कला आध्यामिकता को उद्‌बोधित करने वाली कला है। अजन्ता के भित्तिचित्र एक महाकाव्य है जिसमें अजंता की गुफायें बौद्ध भिक्षुओं और दर्शनार्थियों के लिए चित्रकथा है जो भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं से परिचित कराती हैं। ये गुफायें कलात्मक दृष्टि से अनुपम हैं तथा बौद्ध धर्म की अमूल्य देन हैं।

संदर्भ

1. अग्रवाल, वी० एस०, भारतीय कला।
2. मिश्र, रमानाथ, भारतीय मूर्ति कला।
3. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला।
4. शास्त्री, अजय मित्र, भारत के सांस्कृतिक केन्द्र - अजन्ता।
5. उपाध्याय, भगवतशरण, भारतीय कला एवं संस्कृति की भूमिका।

72

बौद्ध परम्परा में पेय-जल

व्यास मुनि मिश्र

जीवन के अनिवार्य तत्त्वों में जल महत्त्वपूर्ण घटक है। सृष्टि के आरम्भिक दिनों से ही जीवधारियों के लिए जल-पान एक अनिवार्य आवश्यकता है। छान्दोग्य उपनिषद में जल के महत्त्व को दृष्टिगत करते हुए 'प्राण' को जलमय कहा गया है।[1] अथर्ववेद में जल न पीने वाले व्यक्ति का मुख शुष्क हो जाने का प्रसंग है।[2] अन्न से अधिक महत्त्व पेय जल का है। क्योंकि अन्नाभाव में व्यक्ति केवल जल मात्र पी कर 15 दिनों तक जीवित रह सकता है। ऐसी मान्यता छान्दोग्य उपनिषद की है।[3] साथ ही ऋग्वेद में जल को मातृत्व स्वरूपा कहा गया है।[4] बुद्धयुगीन सभी नगरों में पेय-जल की उचित व्यवस्था देखने को मिलती है। तत्कालीन जन वर्षा, नदी, तड़ाग, कूप, पुष्पकारिणी आदि जल-स्रोतों के जल का उपयोग पेय हेतु करते थे। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध अपने जीवन के अन्तिम क्षण में आनन्द से जल पीने की इच्छा प्रकट करते हैं, तथा नदी सदृश जल-स्रोत से जल लाने को कहते हैं। आनन्द वहाँ जाते हैं किन्तु पानी को मलिन देख वापस आ जाते हैं। भगवान के विशेष आग्रह पर आनन्द वहाँ पुनः गये। इस बार नदी का जल स्वच्छ था और तथागत ने उस जल को ग्रहण कर अपनी प्यास बुझाई।[5] ककुत्था नदी में भी बुद्ध द्वारा स्नान एवं पेय (नहात्वा च पिवित्वा च) का संदर्भ हमें प्राप्त होता है।[6] रामायण में श्रवण द्वारा अपने माता-पिता के लिए जल लाने का प्रसंग भी कुछ इसी प्रकार है।[7] महाभारत में भी तपस्वी तथा द्विज लोगों द्वारा नदी जल सेवन का उल्लेख है।[8] मनुष्यों के साथ जल-जीवों और वन्य-जीवों का जलाशय नदी ही होता है।

बौद्ध काल में पेय-जल हेतु पुष्करिणी का अपना विशेष महत्त्व देखने को मिलता है। महावग्ग से ज्ञात होता है कि वैशाली नगर में जहाँ 7707 प्रसाद थे वहीं पुष्करिणीयों की संख्या भी कुछ इसी प्रकार की थी।[9] इससे प्रतीत होता है कि इस नगर के प्रत्येक गृह में पुष्करिणी की व्यवस्था थी। इतना ही नहीं संघारामों के वास्तु-विन्यास में भी पुष्करिणी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। तत्कालीन समय के जिन बौद्ध केन्द्रों यथा- श्रावस्ती, सारनाथ, बोधगया आदि के उत्खनन हुए हैं वहाँ से पुष्करिणी की संरचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

चुल्लवग्ग में गृह के जल-व्यवस्था हेतु अलग कक्ष अर्थात् जलशाला का उल्लेख है[10] जिसका निर्माण ऊँची चौकी पर किया जाता था। पानी की स्वच्छता को दृष्टिगत रखते हुए उसे खर-पतवारों (तिपण-चुण्ण) से वंचित रखने के लिए जलशाला को अच्छादित करने का निर्देश है।[11] इस कक्ष में 'पानीयभाजन' अर्थात् जल-पात्रों की व्यवस्था जल रखने हेतु की जाती थी।[12] पानी के उपयोग हेतु गिलास (पानीसंख), कुलहण (सरावक) की व्यवस्था होती थी[13] जिससे की पानी की अपव्ययता रोकी जा सके एवं जल-प्रदूषण को नियंत्रित किया जा सके।

जल प्राप्ति हेतु कूप निर्माण का भी प्रसंग देखने को मिलता है। कुएँ की मुडेंर (उदपानस्यकल) ईटें, प्रस्तर द्वारा निचाई करके पक्की बनाई जाती थी।[14] पानी भरने के लिए रस्सी (उदक वाहन रज्जु) की व्यवस्था होती थी।[15] हाथ के अतिरिक्त ढ़ेकली (तुल), पुर (करकटंक) तथा रहट (चक्कवट्टक) का प्रयोग होता था[16], क्योंकि शतं या सहस् भिक्षुओं के लिए जल की आवश्यकता होती थी। कुओं पर मटके (लोहवारक), लकड़ी के बर्तन (दारूवारक) चमड़े के मशक (चक्मक्खण्ड) सदृश बर्तन पानी रखने के लिए प्रयुक्त होते थे।[17]

परवर्ती युग में घट को खर-पतवार से सुरक्षित रखने के लिए उस पर ढ़क्कन (अपिधान) लगाने की व्यवस्था थी।[18] यही नहीं कूप के ऊपर संरचनाएँ की जाने लगी थी, उसे 'उदपानशाला' कहते हैं।[19] इन्हें सफेद, काले और गेरूवे रंग से रंगा जाता था। इन 'उदयानशालाओं' में लोगों के प्रक्षालनार्थ भी जल का प्रबन्ध था। उसे एक प्रकार के माध्यम से आधुनिक प्रसाधन सदृश

अलग कर दिया जाता था। इन स्नानगृहों में चन्दनिका पाटक (पानी की होज) उदक दोणि (पानी की नादें), उदक कटाह (पानी की कड़ाह) की व्यवस्था रहती थी।[19] पानी की निकास हेतु नाली होती थी।

स्वच्छ जल की व्यवस्था विहारों में रहती थी। अधिक दिनों तक पानी मिट्टी के बर्तनों में रखने से दूषित होने लगता था तथा उसे दुर्गन्ध (दुग्गध) आने लगती थी।[21] इसलिए मृतिका पात्रों को अच्छी प्रकार से समय-समय पर सुखाया जाता था। जल की शुद्धता और स्वच्छता पर बुद्ध ने बहुत बल दिया था। हाथ-पाँव के प्रक्षालन हेतु 'परिभोजनीय' सदृश अलग जल की व्यवस्था होती थी। जबकि पाने वाले स्वच्छ और शुद्ध जल को 'पानी' कहा जाता था।[22] पृथक्-पृथक् दोनों की व्यवस्था से स्पष्ट है कि पेय-जल का विशेष ध्यान रखा जाता था। शायद पेय जल आसानी से सुलभ नहीं था। आज के समाज में जहाँ स्वच्छ जल की अनुपलब्धता दृष्टिगत है, वहाँ इस प्रकार का वर्गीकरण विचारणीय है। द्रष्टव्य है कि सहस्रों वर्ष पूर्व जल की शुद्धता को ध्यान में रखते हुए उसका वैज्ञानिक वर्गीकरण बुद्ध द्वारा किया गया था।

जल प्रबन्धन का एक बड़ा ही रोचक उदाहरण नाशिक के पास उन पर्वताश्रयी गुफाओं में देखा जा सकता है जहाँ पर्वत-खण्ड को काटकर एक कूपाकार गुफा बनायी गयी है जिसमें वर्षा ऋतु में जल एकत्र होता था। इस जल को उपयोग वहाँ ऊँचाई पर निवास करने वाले भिक्षु पूरे वर्ष पेय, प्रक्षालन आदि के लिए करते थे। यह जल व्यवस्था तो शैलकृत गुफा-वास्तु का एक अंग था, जो कक्ष निर्माण के ही साथ बनता था।

सन्दर्भ

1. छान्दोग्य उपनिषद 6/71।
2. अथर्ववेद 6/13/139।
3. छान्दोग्य उपनिषद 6/7; षोडशकलः सोम्य पुरुषः पंचदशाहानि माशीः काममपः। पिवोयोमयः प्राणो न पिवतो विच्छेत्स्यत इति।
4. ऋग्वेद 10/2/17।
5. डॉ० भरत सिंह उपाध्या, बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृ० 102।
6. वही।
7. *रामायण, 2/64/3-14।*

8. महाभारत वनपर्व 88/3-4।
9. शास्त्री महावग्ग, पृ० 438।
10. चुल्लवग्ग, पृ० 247/5।
11. वही, पृ० 247/11।
12. वही, पृ० 247/13।
13. वही, पृ० 211/14।
14. वही, पृ० 211/20।
15. वही, पृ० 211/26।
16. वही, पृ० 212/1।
17. वही, पृ० 212/2-3।
18. वही, पृ० 212/9।
19. वही, पृ० 212/5।
20. वही, पृ० 212/10-12।
21. वही, पृ० 202/7।
22. वही, पृ० 321/21।

1

Demise of Lord Buddha : A Controversy regarding date

Geeta Dutt

The great demise of Buddha has uptil now been a matter of serious discussion among the historians and scholars. J. Takaksu on the basis of dotted records of ancient sages has decided 486 B.C. the Nirvana date of Lord Buddha. William Geiger has taken 483 B.C. as the date of the demise. Fleet agrees with this point with a little difference as 12th October 483 B.C. was the actual date of passing away of Buddha. Wickram Singh ji too agreed with this view. Dr. G.C. Pandey has stated that Lord Buddha was born in Lumbinivana at Kapilvastu the capital of Sakyas in the year 563 B.C. Now by taking into consideration the total life span of 80 years of Buddha the nirvana date will come to 483 B.C. The tradition of Kashmir and India provides 100 years of time gap between the death date of Buddha and the Coronation of King Ashoka which comes to 364 B.C. Prof. Kera has taken 259 B.C. as the initial date of Ashoka in that case taking the gap of 100 years the nirvana date will come to 359 B.C. the Gandhar traditional places 400 years from the death of Buddha to Kanishka in this case if the rule of Kanishka be taken about 144 A.D. the nirvana date of Buddha would come to 544 B.C. The Ceylonese tradition places the Coronation of Ashoka just after 218 years after the demise of Buddha.

The statement of Sung - Yuri fixes Kanishka only 300 years after the death of Buddha. In the Chinese text there is

a reference that after the death of King Pin - Tou - Sha (Bindusar) to A -Yuk (Ashoka) killed all his brothers leaving only one who comes of the same mother. After four years, he crowned himself. It was 218 years after the demise of Buddha that Ashoka took the sole command of the land of Jambudvipa.

Evidence of the dotted record of Canton

A historical record, under the name "A dotted record of many Sages" was recovered in 534 A.D. by an ascetic Chan - P - Isiu from a monk called Kung -- Tu during his visit to the temple on the mount Lu. The tradition goes regarding the record that after the Buddha's death, venerable Upali collected the Vinaya Pitaka. Then on the 15th day of the 7th month of that year when he had received the TSZ (self throwing off restraint; the festival held at the termination of the Buddhist vassa), he worshiped the manuscript of Vinaya Pitaka with flowers and incense, and added one dot at the beginning of Vinaya Pitaka thus he did every year in the same way. When Upali was going to enter nirvana, (447 B.C. taken from S.B.E. vol. 10 part 1, 8.xliv) he handed it over to disciple Dasaka (397 B.C.) in this way it passed on to Sonaka (353 B.C.) from Sonaka to Siggava (300 B.C.), from Siggava to Mogalliputtatissa (233 B.C.) from Mogalliputtatissa to Chandvagga to the teacher of Sanghbbadra. This teacher brought this manuscript of Vinava Pitaka to Kwang or Canton. When he was embarking homeward he handed the Vinaya Pitaka to his disciple, Sanghbbadra. In A.D. 490 after venerating the Vinaya Pitaka he added one dot. It is said that in 490 A.D. there were 975 dots and every dot represented one year, thus this would give the year 485 B.C. as the year in which Upali wrote the manuscript immediately after the demise of Lord Buddha (Indian Antiquary; May 1884 vol xiii, p. 149). Regarding this evidence few objections have been raised by various scholars. Firstly it is not possible to accept with certainty that Upali wrote a manuscript.

According to Mahavamsa, Pitakas and Atthakatha were not written before the reign of King Vatthagamini, datable 88 - 76 B.C.

Secondly if Upali wrote a copy of Vinaya Pitaka it is not likely that identical copy should have been carried to China. Lastly the process of adding one dot every year for a continuous 975 years is extremely precarious. However this type of record seems to reveal some very alarming information but it is risky as well to put absolute reliance at least for calculating the correct dating. But J. Takaksu has held the view that the evidence of Sanghbbadra is worth noticing. But as this part of the evidence was based on Acharya tradition hence no exact system is so far available. The first information was that there were only 975 dots, while from other sources it is known that an ascetic by name Chau perhaps continued marking till A.D. 535, when there were 1020 dots. On this information it becomes difficult to work out an exact dating moreover the Buddhist writer in China too did not consider that an authoritative fact. Scholars have attempted to wor kout the nirvana date of Buddha on the basis of chronological table of Mauryan rulers. They have tried to ascertain the Coronation date of King Ashoka and then others adding 218 years with the Coronation date they have calculated the date of the great demise. For such calculation they have started from Chandragupta who reigned for 24 years. Again Bindusar ruled for 28 years while Dr. Fleet has taken this, the Vayu Purana has stated 25 years for his reign. Lastly Ashoka was Coroneted four years after he succeeded his father Bindusar. The Ceylonese tradition informs us that Ashoka Coronation took place 218 year after the nirvana of Buddha. It is duly supported indirectly by Tibetan records which are absolutely an independent source of information.

The Tibetan tradition is held to have been the correct source regarding the period intervening between the death of Buddha and certain events related with the reign of

Ashoka and they seem to be on according record with the Ceylonese tradition which hold that the Coronation of Ashoka took place 218 years after Buddha's death. Taking into consideration the ancient chronology of Mauryan Kings, namely Chandragupta (24 years), Bindusar (28 years) and Ashoka (Coronation delayed by four years) the Coronation date of Ashoka has been worked out (325.24.28.4 years) as 269 B.C. in that ease the nirvana date of Buddha comes to (269 + 218) 487 B.C.

Dr. J.F. Fleet had worked out a chronological table of Mauryan rulers. According to the calculations Chandragupta became the King of North India 162 years after the death of Lord Buddha. He has suggested the accession date between Kartik Shukla 8 which comes between 23rd September 321 B.C. and 1st January 320 B.C. According to him Bindusar succeeded Chandragupta 186 years after the death of Buddha which comes to 1st February 296 B.C. Lastly Bindusar died and Ashoka seized the power 14 years after the death of Lord Buddha. Regarding Ashoka he was appointed as King 218 years after the death of Buddha and early in the bright fortnight of jyestha in all probability on the day of Shukla 5 which comes to 25th April 264 B.C. The date 264 B.C. has the corroboration with the Ceylonese account. The Ceylonese accounts states that Devanampiya Tissa was appointed as king of Ceylon for the first time 236 years after the death of Buddha and about 17 years after the appointment of Ashoka which comes to 6th November 247 B.C. + 17 = 264 B.C. which would 'be the date' of Ashoka Coronation. In this case the nirvana date of Buddha would be 264 + 218 = 482 B.C. According to Fleet Ashoka issued his last Edict early in the 39th year of his abdication.

For calculating the nirvana date of Buddha one has to look to the figures in the various inscriptions (Sasaram, Rupnath, Siddhapore, Brahmagiri, Jatinga-Rameshwar, Erraguddi and Govimath) it appears almost certain that the figure 256 is the number of year from nirvana date up to the

time of engravement of the inscription i.e. 218 + 38 = 256 (218 years comes for the Coronation date from nirvana of Buddha and the figure 38 comes for the date of engravement of inscription from the date of Coronation). Hence it appears quite acceptable the figure 256 of the various inscriptions is the number of years from the date of Buddha's nirvana. Now if the accession date of Ashoka is obtained from the chronological table of the Mauryan rulers it would become easy to pick out the actual date of King Ashoka Coronation. The information of the genealogy of Mauryan kings is essential. It is known from various sources that Chandragupta ruled for 24 years and Bindusar ruled for 28 years and the actual Coronation of Ashoka was delayed for 4 years.

From the Greek writers it is known that Chandragupta became King of North India between 521 B.C. to 326 B.C. Different writers have selected different dates i.e. 325, 321, 316, 315 and 312 B.C. (JR.A.S. 1906; p 984 - J.F. Fleet) V. Smith (Early history of India p. 173) has suggested 321 B.C. as the accession date of Chandragupta, Buddhist tradition of Ceylon refers the date 162 years after the parinirvana of Buddha. The Jain date for Chandragupta's accession is 313 B.C. (Ibid p. 263) in such a difficult position it is not possible to decide a single date for accession and there by the Coronation date of Ashoka the entire chronology of Mauryan Kings is rounded in doubts it becomes a problem to pinpoint a demise year of Lord Buddha.

Refrences

1. J.R. A .S. 1905 P 51 by J. Takakusu.
2. Mahavamsa; Translation by Gieger P. xxii.
3. J.R.A.S. 1905 P. 984.
4. G.C. Pandey. Boudh Dharma ke vikas ka Itihas P. 43.
5. Manual of Indian Buddhism P. 112.
6. Ray Choudhury Political History of Ancient India P. 413.
7. J.R.A.S. july 1886 P. 426.

8. Olden Burg. Vinaya vol 3 P. 299.
9. Lieden 1956 The Chronology of the reign of Ashoka P. 138 - 143.
10. A.K. Warder. Indian Buddhism P. 117.
11. R.K. Mukherjee. Ashoka P. 185.
12. B.P. Sinha Silver Jubilee Souvenir 1978 Department of AIH & Arch. Patna University.
13. J.R.A.S. 1896 P. 436.
14. Maxmuller. True date of Buddhas Death Indian Antiquary May 1884.
15. Mahavamsa vol 18 P. 216.
16. Indian Antiquary 1884 vol xiii P. 148.
17. J.F. Fleet J.R .A. S. 1906 P. 984.
18. V. Smith. Early. History of India P. 173.
19. Ibid P. 263.

2
The Sramanic Vision : Buddha and Mahavira

Digvijai Nath Pandey

Not much is known about the definte contours of what happened between the war of the Mahabharata and the rise of Buddhism and Jainism. There in no doubt that it must have been a period of turbulence with kingdoms at war with each other. In politics, while the general pattern was that of monarchies, there were certain regions in the Eastern sector, specially near the hills where the republican form of government flourished.

The individualistic mode of thinking had already appeared in Jaina thought which dated back to the Vedic period in the form of Sramana parampara. In the origin story repeated in the Puranas there is a reference to Sanat Kumars. They were the offsprings of Brahma. But when Brahma asked them to become householders and help him in the process and the expansion of the world, they refused because they thought that they would thereby incur sin and fall from their state of perfect plies by so participating in this process. In a 'Sense' they were the paragons of libretti. Brahma was distressed at their reply and then came Rudra who agreed to oblige him. In a sense, the Sramana parampara symbolised the revulsions of Sanat Kumars at the ways of the world and their yearning for nothing less than perfection.

The first tirthanker Rishabhdeva was the sixth avatar of the Smriti tradition. Both Buddhism and Jainism were

extremely critical of the brahmanical system, the hereditary basis of caste and animal sacrifices, both did not care much about the intervention of intracosmic Gods and both preached the value of a moral life in terms of the theory of karma. Both Mahavira and Buddha lived in the sixth century B.C. In their teaching the existence of intra-cosmic Gods as higher beings was considered more or less irrelevant, as a casual factor for individual salvation, because man could transcend karma by his own effort alone. Although they recognized functional Gods, it was stressed that the Universal process (Sansar) was a result of certain immutable laws of action (Karma) resulting in progress and decline. These action particles bind the soul, which inconsequently embodied in different incarnations in a cycle of birth and rebirth. The soul acts and suffers the pangs of the body in which it is clothed. The present life is determined by our past karma which survives the decay of the body and clings to the soul in its new incarnation. The doctrine of Karma is extremely complex and well developed in Jainism. Be that as it may, both subscribed to the ideal of liberation by one's own individual effort as transcending the ever going cycle of birth and death and rebirth. Both stressed that every soul or link in the casual chain as the Buddhist viewed it, by its own effort, regardless of the grace of God, could achieve this by acquisition of right knowledge which had many sides. The highest knowledge was kaivalya jnana in Jainism and nirvana in Buddhism.

Buddhism and Jainism were largely product of revolt against the system of animal sacrifice which had crept into brahmanical rituals. Jainism developed a marvelous epistemological theory called anekantvada and wedded it to the doctrine of non-violence. Following the story of the elephant and the six blind men, it was argued that it is very rarely that one side is completely right and the other side completely wrong in a dispute. The world in not divided between absolute right and absolute wrong. There are many

shades and levels in between. It was argued that one should, therefor, try to understand the truth in its totality which is a result of total understanding of different viewpoints. It this is so, one has no option but to benonviolent. Purification of the soul is the result of balanced life possible for a monk only. The emphasis on non-violence was carried to such an extreme chat even unconscious killing of germs while walking or speaking was considered wrong as it becomes a sin, and as a result, the possibility of Jains adopting an agricultural profession was ruled out, since cultivation and digging of wells would obviously entail violence. Individually a man is born, individually he dies, individually he falls (from his state of Existence), and individually he rises (to another). His passions, consciousness, intellect. Here indeed the bonds of relationship are not able to help or save one!

Two points should be emphasized here. First, the Jain principle of many sided knowledge was similar in substance to the Vedic principle of 'neti', 'neti' (this is not, this is not) or the Upanishadic principles of relativity. This is one reason why Jainism in practice could not always distinguish itself from other practices. In fact, with the passage of time even forms of worship, mantra and tantra found either way into Jainism. Second, in the beginning Jainism was not political, and not anti-political doctrine. It did not contain any political statement of individualism or human equality. Even democratic ideology was wholly absent from it. Since it regarded the world as a bondage, the whole emphasis was on man's efforts to find release from the world to gain salvation by practicing sacrifices and penance. The idea of renunciation received it full expression in Jainism, the world was a cave from which men had to escape in order to find release.

According to Jainism, as a slave to pleasures of the senses man accumulates infinite misery, for these pleasures are transient and there in no end to their accumulation. This

leads to attachment of karmic particle, which in turn leads to infinite cycles of life and death.[2] The search for self knowledge and self realization is the only way to transcend this world and attain liberation. This is the true welfare of all which can be attained by leading a life of self abnegation, severe penances, absolute non-violence and by cultivating an attitude of compassion and equality towards all creatures. The Vedic vision of unity in diversity was relegated to the background and a sharp cleavage was created between man and nature. "The spiritual quest of the Sramanas", writes Prof. G.C. Pandey, was thus purely negative, viz to transcend the realm of suffering and transience. In a sense, it could also be called subjective since it required man to withdraw from all contact with society and nature.[4]

Buddha too preached non-violence. There is a striking resemblance between the life of Buddha and that of Mahavira. The Buddhist doctrine had a different epistemology which could not adapt itself to the brahmanical position. While the Vedas believed that the intra-cosmic Gods were also real, they represented the primal fire from which the whole Universe originated. Jainism so emphasized the importance of karma that these Gods become more or less irrelevant, Buddhism emphasized the importance of the psychic transformation for the attainment of nirvana.

Buddha was deeply struck by the fact of change in human life. He thought permanence was merely a mental construct. In was not a Quality of the cosmic process, which was a result of the constant working of the human mind without any permanent spiritual substance. Buddhist even denied existence of a soul passing from life to life in fulfillment of it post actions. Early Buddhist thought despised politics as a necessary evil. There is full- fledged treatment of political ideas is Buddhist literature of the period. Two features stand out very clearly. First Buddhism subscribed to the contract theory of the origin of state. It is not difficult to see the connection between this and the association of

Buddhism with the republics of the period. The important principle is the emphasis on ethics as the basis of politics.

What strikes one in Buddhism and Jainism is the utter contempt for the normal activities of life. They rejected property, sex, power, all of which according to them, lead to the plight of soul. They may be natural to human beings, but we aught to forego them in order to gain a higher satisfaction. Sex, more than anything else is the supreme manifestation of our unbridled nature. They rejected the lokayata view of pleasure and its attendant materialistic doctrine. For them, living for the body becomes a sign of corruption, and living for the mind a brahmanical vanity, what was important was the cultivation of the soul or the psyche through the practice of moral principles.

References

1. Quoted in : "Jain Thought and Philosophy", Illustrated weekly of India 15 February 1991, Pg. -19.
2. Uttradhyan: trans, Muni Nathmal, Ladnu, Jain Viswa Bharti, 18-14, 15-16.
3. Ibid, 14-10.
4. Prof G. C. Pandey : Foundation of Indian Culture: Spiritual Vision and Symbolic Forms Ancient India (New Delhi, Book's and book's 1984) Pg.-69

3

Trade as Depicted in Jain Texts (With Special Reference to Satthavaha & Savthavahi)

Shruti Pandey

Trade in ancient India

We find ample evidences of large scale trade-both inland and foreign in ancient India as depicted in Jaina canonical literature.The surplus agricultural, industrial and other products were marketed not only locally and internally but also in distant foreign lands. Trade centres developed and merchants as a class grew up.

The Jain texts give a vivid account of the trading activities of the merchants of those times. Local trade was carried on in a regular way. Trade within the state as well as inter-state trade existed. Commodities brought from the village of the same state were called 'sadesgamajadam' and those brought from the villages of other states were known as 'paradesagamahadam'. The Nisitha Sutram gives a vivid description of such trade in the words 'Jam paragamahadam tam duvihamsadesgam, earetti paradesa gamao wa.'[1]

System of trade

We come across different words of trade in Nisitha Sutram[2], Bhagavati Sutram[3] and Jnatadharmakathanga Sutram[4], etc. The words, 'vani' connotes selling of

commodities in shop, 'vivani' means moving from place to place to sell. The 'vivani' merchants were itinerant traders. Some of them carried the articles of trade on the carts and animals, while others carried them over their heads or under their arm pits (kakkhapudiya). Some of the merchants went to distant places to sell goods of their locality. They also purchased goods from distant regions to be sold at different places. The inland trade was carried both through land and waterways (jala-thalesu duvidharh ....) The texts also mention about merchants performing sea voyages for trade which shows that foreign trade also existed at that time.

Markets

Market place for purchase and sale of merchandise was known as āvana' or 'hatta'. Some markets, it appears, were specialised in the exchange of particular commodities e.g. market for pots (bhanabhumi), market for confectioners (Potiya), market for perfumery (gamdhiyavana), etc. The purchase and sale has been mentioned as 'kaya-vikkaya', while the marketable commodities were known as 'panya' or 'krayanaka'. The buyers....... in the market were called 'kaiya' (or kayaga) and 'vikkaiya') respectively.

We also find reference of shops where all kinds of commodities were available (kuttiyavana bhuya). These might be some sort of departmental stores at that time.

References of particular market for particular commodities lead us to believe that there existed some sort of organised markets in ancient India. Of course, there is no detailed reference of their working to enable us to compare them with the modern produce exchanges or bullion exchanges, but markets of different nature did exist.

Forms of Organisation in Trade

Trade in ancient India was mostly carried on by the merchants as sole traders. The reference, "pamca vaniya sambhaga samaitta vavaha ramti"[5], tells us abouts five

merchants carrying on trade by putting an equal share (samabhaga). This means that partnership as a form of business organisation was known to people. The traders were generally united under trade guilds known as 'seni' (srenis) headed by setthis (sresthis). The setthis were very rich and influential persons and had special status in the society. The merchant guilds advocated private enterprise based on collective system which gave incentive to the growth of trade and commerce. The Jaina canonical texts refer to guilds of goldsmiths painters, etc. The guilds represented the business community before the State and worked for their welfare in Jnatadharmaka thanga we find the Srenis of painters representing before the king to reduce the death sentence of a painter to which the king agreed.[6] The guilds formed their own codes and the king recognised them. They exercised considerable control over the members who were bound by the codes of the guilds.

The formation of guilds in those days shows that the merchants possessed the idea of modern chambers of commerce to safeguard and promote their interest. We, thus, find unions among the merchants which strengthened their position fore the king and the people.

Satthavaha or Sarthavaha (the leader of the caravan of merchants)

The group of merchants going out with money and commodities for trade was known as 'sattha' or 'sartha' (caravan of merchants) and their leader or head was called 'satthavaha'[7] (caravan-leader). Though the literal meaning of sattha (sartha) was a group of persons moving together for some purpose, it generally meant a caravan of merchants. The head of the sartha i. e., sarthavaha was generally a leading merchant of repute.

The sārthavāha occupied a key-position in the trading group. It was he who took initiative in chalking out a detailed programme of the trade-journey. He must have been a man of immense foresight, drive, initiative, courage, intelligence

and honesty. He gave directions regarding halts, routes and danger spots. He assumed full responsibility for the safety of the sārtha. He took ample equipments to make the journey safe. At times the sārthavāha provided all the articles of necessity to the members of the 'sārtha'.

There is reference of a 'sārthavāha' named 'Dhanya' (Dhanne) of Campanagari in Jnatadharmakathanga Sutram'[8] who made an announcement, regarding organising a trade caravan to Ahicchatra Nagari and invited persons to join the caravan. He also announced to assist the accompanying persons with all sorts of help, e. g. food, waterpots, shoes, medicines and money. He led the caravan quite successfully guiding the members of the team. On the way he forbade them to use the products of a particular tree (Nandi fruit-trees)[9] lest the user may die of some disease. Some of them did not follow the advice of Dhanya sarthavaha and ate the fruits of the Naṇdi tree which resulted in their death.

The above episode is a proof that sarthavahas were leaders in the real sense of the term. It further shows that they were men of intelligence and possessed thorough knowledge of things around them. They had a keen power of observation and were very skilled in the art of their business. They also knew how to please the kings in distant places and take concessions in business. The Jnatadharmakathanga Sutram further tells us that Dhanya sārthavāha after reaching Ahicchatra Nagari presented costly articles to the king Kanakaketu who was pleased enough to allow him to trade without paying taxes.[10] 'Dhanya' *sārthavāha took advantage of this and sold his commodities* at that place. With the money received from the deal, he purchased various articles. This is revealed in the reference 'taenam se Dhanne satthavahe bhanda vini mayaṁ karei karitta padibhandam genhai genihatta suham ....' occurring in Jnatadharmakathanga Sutram.

The purchase of commodities by Dhanya sarthavaha at Ahicchatra nagari on his way back indicates business transactions both ways. It (the sartha) not only sold its goods

to the distant places but also purchased commodities from those places to be carried to home town for sale. The difficulty in organising a sartha too frequently must have prompted the sārthavāhas to take full advantage of the trip and make business in each movement.

Sarthavahi : Women as caravan leaders

There is mention of a woman caravan leader, Bhadra Sātthavāhi in Anuttaropapatika Dasa Sutram, the 9th Anga of the Jaina canonical literature. It refers to the reference, "tattha nam Kagandie nagarie Bhaddā gamam sātthavāhi parivasai"[11]. Bhadra lived in a town named Kākandi.

She was well-versed in the art of trade and business. was very rich and led an affluent life (addha java aparibhua).[12] She got thirty two big buildings constructed for her son, Dhanya Kumara and thirty two wives.[13]

This shows that women in ancient India took active part in business and were not far behind their male counterpart.

Kinds of Sattha' or 'Sārtha'

Though the term 'Sattha' commonly meant caravan of trade we also find mention of different kinds of caravan which too, were known as Sārtha. The texts describe five kinds of Sārtha.

(i) Ghathdi Sartha	-	These were caravan of traders who carried their commodities to different centres, carts or wagons for trading purpose. [14]
(ii) Bahilaga	-	This Sartha used camels, mules, bullocks, etc. for carrying goods.
(iii) Bharavaha	-	The merchants of this kind of Sartha carried their load by themselves.
(iv) Odariya	-	It was a caravan of job-seekers

who wandered from one place to other in search of some livlihood.

(v) Karpatika Sartha - This Sartha comprised of monks and nuns who travelled from place to place for being food (bhikkhayara), prea-ching and visiting different parts of the country.

The Brihat Kalpa Sutra Bhasya gives a good account of the journey performed by the traders, monks and nuns. Generally the monks did not favour the company of traders because they (the monks) could not get freedom to move and stay at different places as and when they wanted. Yet they had to join the company of the caravan of merchants safety and convenience.[15]

References

1. Nisitha Sütram, Vol. 11, V. 1484, p. 209.
2. Cf., Ibid., Vol. 11, pp. 100, 143 and 209. Vol. 111, pp. 106, 110, 160 and 581. VoL IV, p. 130.
3. Cf, Bhagavati Sutram, Vol. 11, Chap. V, S. 9, p. 857.
4. Cf, Jnatadharmakathanga Sutram, Vol. 111, Chap. XVII, S. 1, p. 589.
5. Nisitha Sütram, Vol. IV, V. 6404, p, 309.
6. Cf., Matadharmakathanga Sutram, Vol. II, Chap. VIII, S. 26, p. 400.
7. Cf, Ibid., Vol. II, Chap. VIII, S. 28, p. 425.
8. Cf. Moticandra, Sarthawaha, Introduction, p. 1.
9. Cf. Nisitha Sutram, Vol. Il, S. 26, p. 469.
10. Cf., Jnatadharmakathanga Sutram, Vol. III, Chap. XV, S.2, p. 104.
11. Cf, Ibid., Vol. 111, Chap. XV, S. 3, p. 112.
12. Cf., Ibid., Vol. III, Chap. XV, S. 4, p. 126.
13. Idem.
14. Anuttaropapatika DaJA Siltram, Chap. III, S. p. 35.
15. Cf. Idem.

4

Contribution of Buddhism to Indian Culture

Pragya Chaturvedi

Buddhism which moulded the Indian thoughts for several centuries contributed largely to Indian culture in its various aspects. In this paper an attempt has been made to describe some of its important aspects, such as political and social ideals, educational system and artistic development based on the aesthetic deals acquired by the people of ancient India.

The great practical achievement of the Buddha was to found a religious order, known as the sangha, which contributed much to the propagation and popularity of Buddhism and exists even today.[1] From the Mahavagga we learnt that Buddha sent a number of disciples to different directions with the words, "Go Ye, now, Oh Bikkhus; and wonder, for the gain of the many, for the welfare of the many, out of compassion for the world. Let not two of you go the same way, preach the doctrine which is glorious in the beginning, middle, and end, in the spirit and in the latter proclaim a consummate, perfect and pure life of holiness." The member of his disciples had grown fairly large and he had to work out rules and regulations for the guidance of the members of the sangha (order) which are contained in the Vinaypitaka.

At first Buddha had used a very simple formula for ordination. It merely invited and welcomed the applicant to

embrace his dharma. But in the ordination conducted by a bhikshu, the 'Tisarna' or 'Tris'arana formula was used. Further, one who desired admission had to shave his head and beard and put on yellow robes. Then he saluted the monks and repeated the Triśarna formula thrice with folded hands. This was called the ordination pabajjā, or pravarjyā ceremony.[2] On attaining the age of twenty a monk, if found fit, was given higher ordination (upasampadā).

Next in importance to the ordination is the uposatha ceremony which was introduced into the sangha at the instance of king Bimbisara. In the beginning in the uposatha ceremony the main teachings of Buddha were repeated. Later on, it assumed the nature of a confessional ceremony. The list of the possible offences (pātimokkha) was repeated before the assembled monks and those guilty of many of these made a confession for which they were punished according to the nature of their guilt.[3]

Every member of the sangha had an equal voice. All sanghakammas were transacted according to the principles of democracy. All decisions were taken by majority of votes and when differences of opinions arose, the decision was postponed. Sometimes votes were taken, marked sticks (salakas) were used for the purpose. Thus the system of government obtaining in the sangha was entirely democratic in nature, and the principles of democracy working first in the domain of religious institutions. Lastly, this democratic ideal was further developed and materialised in the field of state administration by the Mauryan emperor Asoka.

The Buddhist Sangha played a great role not only in the history of Buddhism but also in the general history of India and other Asian Countries. It indirectly became instrumental in the expansion of Indian languages, literature, arts and culture outside India.

Buddhism also brought a new outlook in the social life of ancient India. Buddhism ignores completely and

absolutely all advantages and disadvantages arising from birth, occupation or social status. Buddha denounced the superiority of the brahmins on the ground of birth.[4] The Suttanipata, Majjhimnikaya prove the worthlessness of the castes. Buddha thus stood for the equality of castes. He maintained that it was Karma (action) that determined the low and high state of being. By birth one does not become an outcaste, by birth one does not become a brahmin. Every living being has Karma (action) as its master, its kinsman, its refuge. There was no distinction of caste in the sangha. Buddha's disciples belonged to all strata of society. For instance we know that Upali was a barber by caste and occupied an important position in the sangha. Admission to the sangha was open to men and women alike. Buddha was at first unwilling to admit women into his sangha. But later he admit women into his sangha. He did away with the religious disabilities of women. Womenhood was no bar to the attainment of Arhathood, the goal of life.[5] A new and respectable career was open before women. This attracted a number of women who attained positions of eminence in the various spheres. The Therigatha gives us names of eminent nuns. Buddha thus raised the status and position of women in the society.[6]

Truth, Forgiveness, Righteousness, Dana, Non-violence, Purity of Heart etc. were further the important norms which Buddha has postulated for the society.

With the origin and development of Buddhism Sangha came into existence. The Buddhist viharas (monastaries) were the centres of education and the monks imparted instructions on both the religious and secular matter. In the viharas *branches of knowledge were taught. But emphasis was* generally on matters of religion (Dhamma) and rules of discipline (Vinaya). According to L.M. Joshi there were the three aims of Buddhist education regorous ethical and moral training, spiritual growth of the monks and preserving and defending the tradition (āgama) and doctrine (saddharma).[7]

Therefore the curriculum of the monks was based on the Suttanta, Dhamma and Vinaya.[8]

The viharas were residential centres of learning. They came into existence first for spiritual training for the monks. But they gradually changed into great centres of learning. Later on, they turned into big Universities to which flocked students from far and near and gathered knowledge on different subjects. Admission to them was thrown open not only to monks but also to others who had a desire to receive education therefore. Students in no way felt any inconvenience to prosecute their studies there. Teaching of various subjects was carried on uninterruptedly from morning to evening.

One of the greatest contributions of Buddhism to Indian educational system was the establishment of a large number of corporate educational institutions. Some of which may easily be called 'Universities of that period.[9]' Of them, the university of Nalanda to which flocked students from far off countries attracts our attention most. It accommodated ten thousand pupils and one hundred teachers were there to teach them. During this period there were other Universities like Vallabhi, Vikramsila, Jagaddal, Odantapuri and Jayendra Vihara of Kashmir which deserve mention more. This shows the vastness of cultural activities carried on in the domain of education by the monks of the Viharas.

The contribution of Buddhism to the cause of Indian learning and education was thus, indeed very great.

An important aspect of the history of Buddhism in India is its manifestation in art and architecture. In order to *appreciate the contribution of Buddhism to the growth of* Indian art it must be realized that it is a part of the larger heritage of Indian art, the inner meaning of which cannot be understood without understanding the background of Indian religious symbolism.[10] Buddhist art owes its origin due to the religious devotion and fervour of Buddha's follower.

Starting from the time of king Asoka upto the middle of Ist century B.C. Buddha was represented by a few symbols. We do not come across any image of Buddha. The followers of Buddha did not believe in the worship of image.

They paid their veneration to the symbols. We thus see that a garden with trees in the midst and his mother represents his birth, a house his renunciation, the Bodhi tree his enlightenment, his first discourse to his Panchavaggiya bhikkus by a wheel flanked by a deer, and the like. These kinds of symbols are found at Sarnatha, Nalanda, Amravati etc. In the base relief of Bharhut, Sanchi we find this kind of representation.

Several stupas, chaityas were also erected by the followers to express their deep veneration to Buddha. Thus the inspiration of the Buddhist art came from religion. Indeed, it also served as a valuable means for the propagation of Buddhism.

During the period of king Asoka Buddhism became popular religion in India. He did all that was possible for the propagation of Buddhism and art which reflects the ideas and ideals, ambitions, joys and tears and Buddhist laity, Asoka built large pillars at important places throughout India. His famous Lion Capital Pillar is indeed one of the noblest products of Buddhist art.[11] It has been accepted as the national emblem of free India.

The first representation of Buddha in anthropomorphic form in sculptures dates from the 1st century A.D. The Buddha image was produced by the Mathura and Gandhara schools of sculptures at about the same period.[12] King Kanishka patronised the artists to curve statues of Bodhisattvas and Buddhas to popularise Buddhism. As a consequence, statues of Budhisattvas and Buddhas in various forms (mudras) were produced and they were in great demand. Many stupas, chaityas, viharas were also constructed during this period.

The Mathura art reached its apex in the Gupta period. The Gupta age was an era of art. It brought the Buddha art of India to its highest perfection as an expression of the inner feelings of devotion and zeal of the artists.

Buddhist art along with Buddhism spread to the North-South and South-east of India and made its influence. The full flowering of Buddhist art can be noticed in the temple of Borbodur in Java, Bayan temple in Ankorvata etc.

Thus, the achievement of Buddhism in the realm of art is most significant and also unique in all respects.

References

1. Goyal, S.R., A History of Indian Buddhism, p. 156.
2. Chakraborty, H., Asceticism and Ancient India, p. 208.
3. Goyal, S.R., A History of Indian Buddhism, p. 157.
4. Ghosal, U.N., A History of Indian Political ideas, p. 64, 259.
5. Joshi, L.M., Studies in Buddhist Culture, p. 368.
6. Narasu, P. Lakshmi, The Essence of Buddhism, p. 122.
7. Joshi, L.M., Studies and the Buddhist Culture of India, p. 157-58.
8. Goyal, S.R., A History of Indian Buddhism, p. 335.
9. Joshi, L.M., Studies in the Buddhist Culture of India, p. 159-74.
10. Aurbindo, The foundations of Indian Culture, p. 227.
11. Agarwala, V.S., Indian Art, p. 112-13.
12. Gupta, S.K., Early Buddha Images from Gandhara, a fresh study in Genesis, p. 166-78.

5
Tārā (Buddhism)

Anubhava Srivastava

Tārā (Sanskrit तारा, tārā) or Ārya Tārā, also known as Jetsun Dolma (Tibetan language; rje btsun sgrol ma) in Tibetan Buddhism, is a female Bodhisattva in Mahayana Buddhism who appears as a female Buddha in Vajrayana Buddhism. She is known as the "mother of liberation," and represents the virtues of success in work and achievements. In Japan she is known as Tarani Bosatsu, and little known as Tuoluo in Chinese Buddhism.

Tārā is a tantric meditation deity whose practice is used by practitioners of the Tibetan branch of Vajrayana Buddhism to develop certain inner qualities and understand outer, inner and secret teachings about compassion and emptiness. Tārā is actually the generic name for a set of Buddhas or bodhisattvas of similar aspect. These may more properly be understood as different aspects of the same quality, as bodhisattvas are often considered metaphoric for Buddhist virtues.[1]

The most widely known forms of Tārā are :

Green Tārā, known as the Buddha of enlightened activity

White Tārā, also known for compassion, long life, healing and serenity; also known as The Wish-fulfilling Wheel, or Cintachakra

Red Tārā, of fierce aspect associated with magnetizing all good things

Black Tārā, associated with power
Yellow Tārā, associated with wealth and prosperity
Blue Tārā, associated with transmutation of anger
Cittamani Tārā, a form of Tārā, widely practiced at the level of Highest Yoga Tantra in the Gelug School of Tibetan Buddhism, portrayed as green and often conflated with Green Tārā.

Khadiravani Tārā (Tārā of the teak forest), who appeared to Nagarjuna in the Khadiravani forest of South India and who is sometimes referred to as the "22nd Tārā."

There is also recognition in some schools of Buddhism of twenty-one Tārās. A practice text entitled "In Praise of the 21 Tārās," is recited during the morning in all four sects of Tibetan Buddhism.

The main Tārā mantra is the same for Buddhists and Hindus alike : oṃ tāre tuttāre ture svāhā. It is pronounced by Tibetans and Buddhists who follow the Tibetan traditions as oṃ tāre tu tāre ture soha.

Within Tibetan Buddhism Tārā regarded as a Boddhisattva of compassion and action. She is the female aspect of Avalokitesvara (Chenrezig) and in some origin stories she comes from his tears:

Then at last Avlokiteshvara arrived at the summit of Marpori, the 'Red Hill,' in Lhasa. Gazing out, he perceived that the lake on Otang, the 'Plain of Milk,' resembled the Hell of Ceaseless Torment. Myriads of being were undergoing the agonies of boiling, burning, hunger, thirst, yet they never perished, but let forth hideous cries of anguish all the while. When Avalokiteshvara saw this, tears sprang to his eyes. A teardrop from his right eye fell to the plain and became the reverened Bhrikuti, who declared: 'Son of your race! As you are striving for the sake of sentient beings in the Land of Snows, intercede in their suffering, and I shall be your companion in this endeavour!' Bhrikuti was then reabsorbed into Avalokiteshvara's right eye, and was reborn

in a later life as the Nepalese princess Tritsun. A teardrop from his left eye, fell upon the plain and became the reverend Tārā. She also declared, 'Son of your race! As you are striving for the sake of sentient beings in the Land of Snows, intercede in their suffering, and I shall be your companion in this endeavour!' Tārā was also reabsorbed into Avalokiteshvara's left eye, and was reborn in a later life as the Chinese princess Kongjo (Princess Wencheng).[2]

The Tārā figure originated not in Buddhism but in Hinduism, where she, Tārā, was one of a number of Mother Goddess figures alongside Sarasvati, Lakshmi, Parvati, and Shakti. In the 6th century C.E., during the era of the Pala Empire, Tārā was adopted into the Buddhist pantheon as an important bodhisattva figure just a few centuries after the Pragyaparmita Sutra had been introduced into what was becoming the Mahayana Buddhism of India. It would seem that the feminine principle makes its first appearance in Buddhism as the "Mother of Perfected Wisdom" and then later Tārā comes to be seen as an expression of the compassion of perfected wisdom. However, sometimes Tārā is also known as "the Mother of the Buddhas," which usually refers to the enlightened wisdom of the Buddhas, so in approaching Buddhist deities, one learns not to impose totally strict boundaries about what one deity covers, as opposed to another deity.

Tārā then became very popular as an object of worship and was becoming an object of Tantric worship and practice by the 7th century C.E. With the movement and cross-pollination of Indian Buddhism into Tibet, the worship and practices of Tārā became incorporated into Tibetan Buddhism. Independent of whether she is classified as a deity, a Buddha or a bodhisattva, Tārā remains very popular in Tibet and Mongolia. And as Ms. Getty notes, one other reason for her popularity was that Tārā became to be known as a Buddhist deity who could be appealed to directly by lay folk without the necessity or intervention of a lama or monk.

Thus, as Tārā was accepted into the ranks of Buddhist bodhisattvas, she became popular to both common folk as one to appeal to in daily life, and for monastics, as an entry way into undertaking compassion and mercy as part of one's evolving path within Buddhism.[3]

Tārā has many stories told which explain her origin as a bodhisattva. One in particular has a lot of resonance for women interested in Buddhism and quite likely for those delving into early 21st century feminism.

In this tale there is a young princess who lives in a different world system, millions of years in the past. Her name is Yeshe Dawa, which means "Moon of Primordial Awareness." For quite a number of aeons she makes offerings to the Buddha of that world system, whose name was Tonyo Drupa. She receives special instruction from him concerning bodhicitta – the heart-mind of a bodhisattva. After doing this, some monks approach her and suggest that because of her level of attainment she should next pray to be reborn as a male to progress further. At this point she lets the monks know in no uncertain terms that from the point of view of Enlightenment it is only "weak minded worldlings" who see gender as a barrier to attaining englihtenment. She sadly notes there have been few who wish to work for the welfare of beings in a female form, though. Therefore she then stays in a palace in a state of meditation for some ten million years, and the power of this practice releases tens of millions of beings from suffering. As a result of this, Tonyo Drupa tells her she will henceforth manifest supreme bodhi as the Goddess Tārā in many world systems to come. With this story in mind, it is interesting to juxtapose this with a quotation from H.H. the Dalai Lama about Tārā, spoken at a conference on Compassionate Action in Newport Beach, CA in 1989.[4]

There is a true feminist movement in Buddhism that relates to the goddess Tārā. Following her cultivation of bodhicitta, the bodhisattva's motivation, she looked upon

the situation of those striving towardÍ full awakening and she felt that there were too few people who attained Buddhahood as women. So she vowed, "I have developed bodhicitta as a woman. For all my lifetimes along the path I vow to be born as a woman, and in my final lifetime when I attain Buddhahood, then, too, I will be a woman."

Tārā, then, embodies certain ideals which make her attractive to women practitioners, and her emergence as a Bodhisattva can be seen as a part of Mahayana Buddhism's reaching out to women, and becoming more inclusive even in 6th century C.E. India.

Tārā also embodies many of the qualities of feminine principle. She is known as the Mother of Mercy and Compassion. She is the source, the female aspect of the universe, which gives birth to warmth, compassion and relief from bad karma as experienced by ordinary beings in cyclic existence. She engenders, nourishes, smiles at the vitality of creation, and has sympathy for all beings as a mother does for her children. As Green Tārā she offers succour and protection from all the unfortunate circumstances one can encounter within the samsaric world. As white Tārā she expresses maternal compassion and offers healing to beings who awareness about created phenomena, and how to turn raw desire into compassion and love. As Blue Tārā (Ekajati) she becomes a protector in the Nyingma lineage, who expresses a ferocious, wrathful, female angry whose invocation destroys all Dharmic obstacles and engenders good luck and swift spiritual awakening. An another quality of feminine principle which she shares with the darkinis is play fullness.

These qualities of feminine principle then, found an expression in Indian Mahayana Buddhism and the emerging Vajrayana of Tibet, as the many forms of Tārā, as dakinis, as Prajnaparamita, and as many other local and specialized feminine divinities. As the worship of Tārā developed, various prayers, chants and mantras became associated with

her. These came out of a felt devotional need, and from her inspiration causing spiritual masters to compose and set down sadhanas, or tantric meditation practices. Two ways of approach to her began to emerge. In one common folk and lay practitioners would simply directly appeal to her to ease some of the travails of worldly life. In the second, she became a Tantric deity whose practice would be used by monks or tantric yogis in order to develop her qualities in themselves, ultimately leading through her to the source of her qualities, which are Enlightenment, Englightened Compassion and Enlightened Mind.

References

1. Tārānath, Jo-nan. The origin of the Tārā Tantra. Library of Tibetan works and Archives. Dharmashala India, 1981.
2. Willson, Martin, In Praise of Tārā: Wisdom Publications, London, 1986.
3. Vessantara, Meeting the Buddhas: A Guite to Buddhas, Bodhisattvas and Tantric Deities.
4. Dalai Lama, H.H. Deity Yoga: In Action and Performance Tantra. Snow Lion Publications, Ithaca, New York, 1992.

6

Prolegomena to History of the Buddhist Philosophy

Kamlesh Kumar Gautam

The period of sixth and 5th Century B.C. is regarded as "an age of far reaching religious reforming activity over whole of the ancient world." In Greece, China, Iran as well as India there are found a remarkable intellectual and religious upheavel in this age. The factors leading to such changes are not easy to identify. Great scholars like Gordon child and Bury have attributed the thought ferment to change in social living and progress of thoughts respectively.

As far as India is concerned, it is undeniable that important changes did take place in society in the age of Buddha. It is true that Tathāgata received enligthment under the Bodhi Tree as a result of intense austeritis and deep contemplation but he had fourished amidst a social, economical and political context whose influences were cast on his personality and thought. It has been said that the great personality represents the explicit flowering of dominant forces of the particular age. The compulsive urgency wiht which the problem of pain represented itself to Tathāgata was result of social ethos and spirit of that age which was prevalent in the society. Buddha himself had belief that his trading were bound, have social influences. The Dhammapad says "A supernatural person (a Buddha) is not easily found, he is not found everywhere. Where never such a sage is born, that race prospers."

The Saṁgha which developed during the time of Buddha provided an institutional basis to the ethical life of the Buddhist marks. The teachers and saints who were advanced in moral and meditative path (the arhat, the anāgami and Sakradagami) were the center of sympathetic radiation. They encouraged the (Srotapan) in the path of the redemption of sins and sorrows of the world. The senior monks had attached to them the prestige and social status associated with age and wisdom.

But we find that non institutional sources have contributed to the growth of Buddhist ethical ideas. Early Buddhism believed that if one had developed the sentiment of universal all comprehension, compassion (maitri) one could obtain the capacity to overcome not only robers and animals but even wild animals. Tathāgata is able to subdue the furious elephant Nilgiri by force of compassion. The Nikāyas, dipict the early lives of Buddha doing miracles. In Buddhist literature we find innumerable instances the super-normal powers of having attained the enlightenment.

Besides revelation and magic, there is third source of growth of moral ideas and this is prime consideration for social adjustment and welfare.

The ethics of Buddhism preaches a middle way between two extremes. The Madhyamapratipada is categorized in eightfold way. (The Ārya āstraṅgik marg) Buddhist ethics avoid the two forms of extremes. Buddha showed great courage of spirit in denouncing the harsher forms of ascetism. He claimed that he propounded a moral way that is noble, and oriented to realization.

Pattichasamutpada is supposed to be important part of Buddha's teachings. Significantly for the Buddha the realization of Truth or Sambhodhi consists of Pratītyasamutpāda and Nirvāṇa both. In his teachings, the Buddha dichotomised his Dhamma into Pattchachamm and Nibbana. G.C. Pandey in his opinion says "Since Nibbana is appar-

ently the final principal or experience. Patticham may be designated as principle of non-ultimate experience." Thus it can be said that it has important place in the Buddhist theory.

Further it can be said that there are 3 basic doctrins of primitive Buddhism (i) sorrowism (dukkhavade), impermanence (anitya) and non-soulism (anātmavāda). Since there is nothing permanent and everything is in a state of flux, it automatically follows that soul entity does not exist. After his enlightenment, Buddha gave a discourse to the marks on theory of anātmavada and he said that rupa, sanjna and vedana saṁskara vijnana do not constitute the self. The belief in the exhistence of soul is due to misapprehension of one of the five constituents (Kadhas) as soul. Many other religions preach the doctrine of soul. In the Saṁyutta Nikāya, when Anand asks Buddha the meaning of phrase (the empty) Buddha replies "that is empty Ananda, or of anythig of self. And what is that is thus empty? The five seats of 5 senses and the mind and the feeling that is reduced to the mind all these are void of a self, or of any thing that is self like. Thus it is evident that Buddha explicity denied the self in phenomenal realm."

Karmavāda or theory of moral determination also has importance in the Buddhist philosophy. The ordinary name of Karma is deed or action. The Nikāya often depicts as Buddha preaching this doctrine. It is said that Buddha during his enlightenment; is said to have three vision. In the 2nd vision he saw the whole universe as a system of Karma and reincarnation, composed of beings noble or mean, happy or unhappy, continuously passing away according to their deeds, leaving one form of exhistence and taking shape in another. He taught the Karman theory with great passion.

The concept of Nirvāṇa is regarded as summon bonum for a Buddhist. Its has been variously interrupted in ancient text by modern scholars. The Buddha himself denied positive answer to what it means. He regarded it as beyond any

discussion (avyakta or) akathniya. The best explanation seem to be that Buddha realized that metaphysical discussion is not irrelevant also a hindrance in its practical realization. He knew that Nirvāṇa is inconcievable, inexpressible and so deep and subtle that it could not be communicated by one person to another it could be realized by one's own self.

He advised the Pañchvargiya bhikkus to realize the truth by themselves by proper training. In the later texts, there are passages that describe the negative and positive attributes of Nirvāṇa. In the Majjhim Nikāya. Nibbana is described an unborn, unoriginated, unconstituted, undecaying undying, free from disease, grief and impurity, and the highest perfection achievable by the best. The question of origin and non origin does not arise in case of Nibbana, because it is firm eternal and changeless. In the Saṁyutta Nikāya Nirvāṇa is described constitued, undying, true, going across, undecaying firm, signless inexpressible, quite, excellent and without fall. We can say that these were the basic concept and prolegomena to the history of Buddhist philosophy.

References

1. Pandey, G.C., Origins Allahabad, 1957.
2. Bhandarkar, Ashoka.
3. Thapar Romila, Ashoka and Decline of Mauryas.
4. Narasu, P., Lakshmi, The essence of Buddhism.
5. Dutta, N., Early monastic Buddhism, Calcutta, 1941.
6. Jaypalan, N., Historiography.
7. Verma, V.P., Early Buddhisms and its origin, M.L.B.D., New Delhi 1973.
8. Gupta, P.L., Prachin Bharat Ke Abhilekh Part I.
9. Goyal, S.R., A History of Indian Buddhism, Jodhpur Rajasthan, 1994.
10. Coomarswamy, A.K., Buddha and the Gospel of Buddhism, New York, 1938.

11. Mishra, G.S.P., Age of Vinay, Delhi, 1972.
12. Warder, A.K., Indian Buddhism, Delhi, 1970.
13. Dharmkirti, Bhagwan Buddha Ka Itihas Evam Margdarsan.
14. Pathak, V.S., Ancient Historians of India.
15. Ashok Agrawal, Buddha.
16. Aṅguttar Nikāya, D.D. Swami, B.B. Varanasi, 2002.
17. Majjhim Nikāya, Sankṛityayan Mahāpandit Rāhul, B.B.S.P., Sravasti, 1991.

लेखक-परिचय

डॉ० विपुला दुबे, आचार्य, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी०द०उ०गो० वि०वि०, गोरखपुर

डॉ० विमलेश कुमार पाण्डेय, वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सल्तनत बहादुर पी०जी० कालेज, बदलापुर, जौनपुर।

डॉ० राजकुमार गुप्त, रीडर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, टी० डी० कालेज, जौनपुर।

विश्वनाथ वर्मा, रीडर एवं अध्यक्ष, प्रा० इति० विभाग, हरिश्चन्द्र पी० जी० कालेज, वाराणसी।

रमेन्द्र कुमार मिश्र, रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, जवाहरलाल नेहरु स्मारक पी० जी० कालेज, महरागंज।

डॉ० सतीशचन्द यादव, संग्रहालय अधीक्षक, गाँधीनगर गुजरात।

डॉ० सुधा त्रिपाठी, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, महिला पी० जी० कालेज, बस्ती।

डॉ० आनन्द शंकर चौधरी, वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, टी० डी० कालेज, जौनपुर।

डॉ० हरिगोपाल श्रीवास्तव, रीडर एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, जवाहरलाल नेहरू स्मारक पोस्ट ग्रेजुएट कालेज महराजगंज।

डॉ० ओम प्रकाश श्रीवास्तव, रीडर, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, ज०ने० स्मा० पो० ग्रेजु० कालेज महराजगंज।

डॉ०नन्दन कुमार, पवन कुमार, इतिहास विभाग, जगदम कालेज छपरा, बिहार एवं शोध छात्र, जयप्रकाश नारायण विश्वविद्यालय, छपरा।

शोभा राम दुबे, शोध छात्र, संस्कृति तथा प्राकृत भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

डॉ० आशाराम, प्रवक्ता संस्कृति, माधव प्रसाद त्रिपाठी राजकीय महिला महा० खलीलाबाद, संतकबीरनगर।

डॉ० दुर्गेश कुमार त्रिपाठी एवं अंजनी कुमार मिश्र, प्राचीन भारतीय इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग डी० ए० वी० पी० जी० कालेज, लखनऊ।

डॉ० राम गोपाल शुक्ल, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, अबुल कलाम आजाद, ए० इ० पी० जी० कालेज डुमरियागंज सिद्धार्थनगर।

डॉ० प्रवेश कुमार श्रीवास्तव, एसोसिएट प्रोफेसर, प्रा०भा० इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग काशी, हिन्दू वि०वि० वाराणसी।

मृत्युंजय कुमार सिंह, शोध छात्र, छपरा विश्वविद्यालय छपरा बिहार।

डॉ० अनुपम कुमार, सहायक अध्यापक, इण्टर कालेज भटवली बाजार (उनवल) गोरखपुर।

डॉ० इष्ट देव ओझा, प्रवक्ता प्राचीन इतिहास विभाग राम गिरीश राय महाविद्यालय, दुबौली, गोरखपुर।

डॉ० अश्विन कुमार सिंह, फेकेल्टी ऑफ परफार्मींग आटर्स, एम०एस० यूनिवर्सिटी बड़ौदा, गुजरात।

डॉ० अरविन्द कुमार, व्याख्याता, संगीत विभाग मगध-महिला महाविद्यालय (पटना विश्वविद्यालय) पटना।

डॉ० सुधाकार लाल श्रीवास्तव, प्रवक्ता, मध्य एवं आधुनिक इतिहास विभाग, दी० द० उ० गोरखपुर वि० वि० गोरखपुर।

डॉ० ओम जी उपाध्याय, यू० जी० सी० एस० आर० एफ० प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग दी०द०उ० गो० वि० वि० गोरखपुर।

मनउअर अली, शोध छात्र, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गो० वि० वि० गोरखपुर।

डॉ० सीमा श्रीवास्तव, आर० ए० (यू० जी० सी०) प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गो० वि० वि० गोरखपुर।

डॉ० मुरली मनोहर तिवारी, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग दि० ना० पी० जी० कालेज, गोरखपुर।

डॉ० दिनेश कुमार गुप्त, असिसटेन्ट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, ही० रा० स्ना० महा०, खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

डॉ० पूर्णेश नारायण सिंह एवं जय प्रकाश मणि, प्रवक्ता बी० एड० विभाग, ही० रा० स्ना० महा०, खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

डॉ० राम प्रताप राज, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, ही० रा० स्ना० महा० खलीलाबाद संतकबीर नगर।

डॉ० अजय कुमार पाण्डेय, प्राचार्य, ही० रा० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

डॉ० प्रताप विजय कुमार, उपाचार्य, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, ही० रा० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

डॉ० वीणा गोपाल मिश्रा, रीडर, राजनीति विज्ञान, दिग्विजय नाथ पी०जी० कालेज, गोरखपुर।

डॉ० ध्यानेन्द्र नारायण दूबे, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी०द०उ० वि० वि० गोरखपुर।

डॉ० विजय कुमार, वरिष्ट प्रवक्ता, बी० एड० विभाग रतनसेन कालेज, बांसी।

डॉ० रेखा चतुर्वेदी एवं प्रमोद कुमार त्रिपाठी, उपाचार्य, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० गो० वि० वि० गोरखपुर।

डॉ० मधु सत्यदेव, प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, दी०द०उ० गोरखपुर वि० वि०, गोरखपुर।

डॉ० एस० एन० उपाध्याय, रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, टी० डी० कालेज, जौनपुर।

डॉ० संगीता पाण्डेय, प्रवक्ता, शिक्षा शास्त्र, ही० रा० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद।

अनामिका त्रिपाठी, शोध छात्रा, शिक्षा शास्त्र विभाग, डॉ० राममनोहर लोहिया वि० वि०, फैजाबाद।

डॉ० राघवेन्द्र प्रताप सिंह, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास कालिकाधाम पी० जी० कालेज सेवापुरी, वाराणसी।

डॉ० निर्मला शुक्ला, टाइप 4/3 केन्द्रांचल कालोनी, सेक्टर के० अलीगंज, लखनऊ।

डॉ० ब्रह्मानन्द सिंह, वरिष्ठ प्रवक्ता, स्वामी देवानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय मठलार देवरिया।

डॉ० ज्ञान प्रकाश राय, अविनाश पति त्रिपाठी, 393/ए कर्मकुटीर नहर रोड आजाद चौक रुस्तमपुर, पो० शिवपुरी गोरखपुर।

डॉ० सत्यनाम, प्रवक्ता, बी० एड्० विभाग, वाई० टी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर, खीरी० उ०प्र०।

डॉ० प्रवीण कुमार मिश्र, प्रवक्ता, समाजशास्त्र, लाल बहादुर स्मारक पी० जी० कालेज आनन्दनगर, महाराजगंज।

डॉ० अमरनाथ पाण्डेय, प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, हीरालाल रामनिवास स्ना० महा० खलीलाबाद, संतकबीर।

इन्दुधर मिश्र, शोध छात्र, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गो० वि० वि०, गोरखपुर।

काली शंकर तिवारी, शोध छात्र, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गो० वि० वि० गोरखपुर।

डॉ० आशीष कुमार सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ, विश्वविद्यालय लखनऊ।

रत्ना सिंह, शोध छात्रा, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गो० वि० वि० गोरखपुर।

डॉ० एच० एन० सिंह, अरविन्द कुमार, प्राचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, आश्रम बरहज देवरिया एवं शोध छात्र, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, आश्रम बरहज, देवरिया।

डॉ० राजेश कुमार शर्मा, प्रवक्ता, इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय रुधौली, बस्ती।

डॉ० सरिता कुमारी, रीडर, प्राचीन इतिहास संत विनोबा स्नातकोत्तर महा० देवरिया।

ममता पाण्डेय, छात्रा, M.A. Final (प्रा० इति०) ही० रा० स्ना० महा० खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

चन्द्र कला राय, छात्रा (एम० ए० अन्तिम वर्ष) प्राचीन इतिहास, एच० आर० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

डॉ० दिव्या पाण्डेय, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास सागरमल बंका डिग्री कालेज बरगदही भटहट, गारेखपुर।

चन्दन विश्वकर्मा, शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गो० वि० वि०, गोरखपुर।

डॉ० दीनानाथ राय, प्राधानचार्य, ब्रह्मर्षि रामकृष्ण इण्टर कालेज, वलीदपुर मऊ।

संजीव कुमार मिश्र, छात्र, (एम० ए० प्राचीन इतिहास) म० मो० मा० स्ना० महा०, भाटपार रानी, देवरिया।

पंकज कुमार श्रीवास्तव, छात्र, (एम० ए० प्राचीन इतिहास) म० मो० मा० स्ना० महा०, भाटपार रानी, देवरिया।

संदीप कुमार सिंह, छात्र (एम० ए० II) प्राचीन इतिहास एच० आर० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

प्रीति तिवारी, शोध छात्र, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गो० वि० वि० गोरखपुर।

स्तुति श्रीवास्तव, दी० द० उ० गो० वि० वि०, गोरखपुर।

माधवेन्द्र तिवारी, छात्र (एम० ए० द्वितीय वर्ष) प्राचीन इतिहास एच० आर० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

डॉ० इन्द्रजीत सिंह, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, ही० रा० स्ना० महा० खलीलाबाद, संतकबीर नगर।

डॉ० शैलजा सिंह एवं जय प्रकाश मणि, उपाचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग, दी० द० उ० गोरखपुर, विश्वविद्यालय, गोरखपुर। एवं बी० एड० विभाग, ही० रा० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद संतकबीर नगर।

डॉ० प्रभाकर लाल, अ० प्रवक्ता इतिहास विभाग, म० गा० काशी विद्यापीठ वाराणसी।

धर्मेन्द्र कुमार, शोध छात्र, प्रा० इति० पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गोखपुर वि० वि० गोरखपुर।

अमरेश कुमार यादव एवं रीतेश यादव, शोध छात्र, प्रा० इति० पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गोखपुर वि० वि० गोरखपुर।

पुष्पलता कीर्ति, शोध छात्र, प्रा० इति०, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गोखपुर वि० वि० गोरखपुर।

नूतन यादव, प्रवक्ता प्रा० इति० महिला पी० जी० कालेज बस्ती।

व्यास मुनि मिश्र, शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, लखनऊ वि० वि०, लखनऊ।

डॉ० गीता दत्त, विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दिग्विजयनाथ पी० जी० कालेज, गोरखपुर।

डॉ० दिग्विजयनाथ पाण्डेय, रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, ही० रा० पी० जी० कालेज, खलीलाबाद संतकबीर नगर।

श्रुति पाण्डेय, (एम० बी० ए० अन्तिम वर्ष) जगन्नाथ मैनेजमेन्ट इन्टरनेशनल स्कूल, नई दिल्ली।

डॉ० प्रज्ञा चतुर्वेदी, वरिष्ठ व्याख्याता, दी० द० उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

डॉ० अनुभव श्रीवास्तव, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, ही० रा० स्ना० महाविद्यालय, खलीलाबाद, संत कबीर नगर।

डॉ० कमलेश कुमार गौतम, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, दी० द० उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

डॉ० अजय कुमार पाण्डेय

पिता - श्री अर्जुन पाण्डेय

जन्म - जुलाई 1956 ई०

स्नातकोत्तर उपाधि - प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विषय में 1979; प्रथम श्रेणी पी० एच० डी० - 1990।

प्रकाशित पी० एच० डी० पुस्तक भारत सरकार प्रतिरक्षा मंत्रालय द्वारा पुस्तक लेखन (हिन्दी भाषा में) का राष्ट्रीय पुरस्कार 'द्वितीय पुरस्कार' 1993 ई० विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त।

- बृहद् शोध प्रकल्प-01 कार्य पूर्ण किया गया।
- लघु शोध प्रकल्प-04 कार्य पूर्ण किया गया।
- भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रदत्त शोध प्रकल्प-02 कार्य पूर्ण किया गया।
- प्रकाशित पुस्तक मौलिक - 10।
- सम्पादित पुस्तक - 09।
- सम्पादित स्मारिकायें - 09।
- राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध लेख - 40।
- राष्ट्रीय समाचार पत्रों में प्रकाशित शोधात्मक लेख - 09।
- राष्ट्रीय संगोष्ठियों के आयोजन का अनुभव -09।
- राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समितियों के सदस्य-05।
- प्राध्यापक रूप में अनुभव - 28 वर्ष।

सम्प्रति : प्राचार्य, हीरालाल रामनिवास स्नातकोत्तर महाविद्यालय, खलीलाबाद, संतकबीर नगर (उ० प्र०)

ISNBN : 978-81-7702-229-2

PRATIBHA
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
7259/23 अजेन्द्र मार्केट
प्रेमनगर, शक्ति नगर, दिल्ली-7
e-mail : info@pratibhabooks.com